ॐ

(आनन्दवनग्रन्थमालाया एकत्रिंशं कुसुमम्)

गायत्रीमहामन्त्रः

शांकरभाष्येण
जयमङ्गलीयविवरणवार्तिकाभ्यां
च सहितः
गायत्रीपुरश्चरणपद्धतिश्च

द्वादशदर्शनाचार्यः स्वामी काशिकानन्दगिरिः

ॐ

(आनन्दवनग्रन्थमालाया एकत्रिंशं कुसुमम्)

गायत्रीमहामन्त्रः

शांकरभाष्येण
जयमङ्गलीयविवरणवार्तिकाभ्यां
च सहितः
गायत्रीपुरश्चरणपद्धतिश्च

द्वादशदर्शनाचार्यः स्वामी काशिकानन्दगिरिः

प्रकाशक :
श्री स्वामी काशिकानन्दजी ट्रस्ट
आनन्दवन आश्रम, स्वामी विवेकानन्द रोड
कांदीवली (पश्चिम) मुंबई-४०००६७

मूल्य-रु. [redacted].00 ८५-००

प्रथमावृत्तिः
मई, १९९२

प्राप्ति स्थान :
आनन्दवन आश्रम, स्वामी विवेकानन्द रोड
कांदीवली (पश्चिम) मुंबई-४०००६७
फोन नं. ६०५२८५९

मुद्रक :
रत्ना प्रिण्टिंग वर्क्स
(आफसेट-विभाग)
बी. २१/४२ ए. कमच्छा
वाराणसी 221010
फोन : 321790

अनुक्रमणिका

विषयः	*पृष्ठक्रमांकः*
भूमिका	1
गायत्रीमन्त्रशांकरभाष्यम्	53
जयमङ्गलीयभाष्यविवरणम्	59
सानुवादभाष्यवार्तिकम्	85
गायत्रीपुरश्चरणपद्धतिः	231

धन्यवाद

वैदिकमतावलंवियों के लिए गायत्रीमन्त्र का महत्त्व सर्वविदित है। गायत्री की उपासना समस्त भारतवर्ष में प्रचलित है। वेदमाता होने के कारण उसकी गहनता बहुत अधिक है। इस मन्त्रकी व्याख्या बड़े-बड़े ऋषियों ने, बड़े-बड़े आचार्यों ने एवं मनीषियों ने अपने-अपने अनुभव के अनुसार प्रस्तुत की है। भगवान शंकराचार्य का भाष्य इस पर सर्वातिशायी है। उसे सर्वलोकसाधारण बनाने के लिये हमारा एक साधारण प्रयास विवरण एवं वार्तिक है। साथ ही उपासनार्थ गायत्री पुरश्चरण-पद्धतिको भी संशोधन के साथ यहां पर सम्मिलित किया है।

इस ग्रन्थरत्नके शीघ्रतापूर्वक और सुरुचिपूर्ण मुद्रण के लिये पाण्डुलिपीकरण, संशोधन आदि परिश्रमसाध्य कार्यो के लिये विभिन्न सुयोग्य समर्पितजनों की आवश्यकता थी। भगवती की प्रेरणा से इस कार्य को **ब्रह्मचारी तुरीयानन्द जी** तथा **सुश्री निरंजना देसाई** ने स्वीकार कर समस्या का समाधान कर दिया, एतदर्थ आशीर्वादपूर्वक हम कामना करते है कि भविष्य में भी इस प्रकार की सेवा में रत रहेंगे। **डॉ. सदानन्दन** (भारती संस्कृत विद्यानिकेतन के उपाध्यक्ष) डॉ. मुदुर तथा **श्रीमान् के. सुरेश** (एन. सी. एस. टी.) का भी इस कार्य में कई तरह की बाधाओं को दूर करने में उल्लेखनीय सहयोग रहा है। हम इन तीनों को बहुत-बहुत धन्यवाद प्रदान करते हैं। आशा है भविष्य में भी इसी प्रकार से सहयोग देते रहेंगे।

ग्रन्थ लेखन से भी शायद दुष्करकार्य है इसका ठीक से और शुद्धतापूर्वक मुद्रण और पठनीय होकर हाथ में आ जाना। इस कठिन कार्य को हमारे अन्य प्रकाशनों की तरह हाथ में लेकर परम उत्साही **श्रीविपुल शंकर पण्ड्याजी**–रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी ने समस्या को समाप्त कर दिया। बहुशः धन्यवादपूर्वक भगवान् विश्वनाथ से इनकी चतुर्दिक उन्नति की कामना करते हैं।

'**इंगलिश संस्कृत एकेडमी, वाराणसी**' से पूर्वप्रकाशित ग्रन्थों की तरह ही इस ग्रन्थ के प्रकाशन में भी प्रूफ रीडिंग, संयोजन आदि तकनीकी सहयोग प्राप्त हुआ है। जिससे यह ग्रन्थ सुपठनीय और आकर्षक रूप से अध्येताओं के हाथ में आ सका। एतदर्थ एकेडमी को सहयोग के लिये हार्दिक धन्यवाद प्रदान करते हैं।

— द्वादशदर्शनाचार्य स्वामी काशिकानन्दगिरिजी महाराज

ॐ श्रीगणेशाय नमः ।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।

गायत्रीमन्त्रः

शाङ्करभाष्येण

तदीयविवरणवार्तिकाभ्यां

तदनुवादेन च सहितः

भूमिका

विश्वामित्रर्षिणा दृष्टां विश्वमित्रस्वरूपिणीम् ।
प्रणौमि व्याहरन् देवीं गायत्रीं शिरसा सदा ॥

मैं आजसे आपको गायत्रीके विषयमें कुछ विशिष्ट बातें बताने जा रहा हूं। गायत्रीकी कुछ विशेष व्याख्या आपके संमुख प्रस्तुत करूंगा। सार्वजनिक सभाओंमें गायत्रीपर प्रवचन करनेके लिये सामान्यतया पण्डित लोग हिचकिचाते हैं, यहां तक कि रुद्रीपाठके समय गायत्री मन्त्रके आनेपर मन मनमें पढ़ते हैं, अन्य मन्त्रोंके समान प्रकट उच्चारण नहीं करते। अधिकार की बात सामने आती है। किन्तु इतनी बात तो निश्चित है कि गायत्री विश्वहितकारिणी है। इसके द्रष्टा विश्वामित्र ऋषि थे। विश्वामित्र यह नाम इसी गायत्री मन्त्रके कारण सार्थक हुआ। विश्वका जो मित्र है वही विश्वामित्र है। "मित्रे चर्षौ" इस पाणिनीय सूत्र से विश्व शब्द के अकारको दीर्घ होनेसे विश्वमित्रकी जगह विश्वामित्र हो जाता है। विश्वका मित्र ही विश्वामित्र है। जो विश्वसे स्नेह रखता हो, जो विश्व का उपकार करता हो वही विश्वामित्र है। विश्वामित्रने विश्वका उपकार कैसे किया? किसके द्वारा किया? इसमें कोई अन्य सुदृढ़ प्रमाण नहीं हैं। यही एक प्रमाण है कि उन्होंने गायत्री मन्त्रका दर्शन किया और संसार को बताया। अतः विश्वहितकारिणी होनेसे सर्वसाधारणतक गायत्रीका सन्देश पहुंचाना उचित ही होगा।

ऋषिका अर्थ है मन्त्रद्रष्टा। "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः" ऐसा वचन आता है। तपश्चर्या करते-करते जब हृदय अत्यन्त पवित्र होता है तब हृदयमें प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होता है। उस प्रातिभज्ञानमें यथार्थ तत्त्व प्रतिभासित होता है। ऐसे प्रातिभज्ञानमें वेदमन्त्रोंका भी प्रतिभान होता है। यह प्रातिभज्ञान प्रायः ऋषियोंको ही होता है जिनका हृदय तप करते-करते पवित्र हो गया है। कई बार साधारण व्यक्तियोंको भी प्रातिभज्ञान होता है। प्रातिभ या आर्ष नामक इस ज्ञानके बारेमें वैशेषिक दर्शनके भाष्यकार महर्षि प्रशस्तपाददेवाचार्य कहते हैं–

"तत्तु प्रस्तरेण देवर्षीणां, कदाचिदेव लौकिकानाम् ।

यथा कन्यका ब्रवीति श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति हृदयं मे कथयतीति ॥"

अर्थात् यह प्रातिभज्ञान अधिकतर देव और ऋषियोंको ही होता है। लौकिक जनोंको कभी-कभी होता है। जैसे एक छोटी कन्या कहने लगी मेरा भाई विदेश से कल आयेगा। किसने कहा तेरेको? मेरा हृदय कहता है। सचमुचमें उसका भाई दूसरे दिन आ गया। वह ज्ञान कौनसा था? वही प्रातिभज्ञान है।

एक बार की बात है–एक लड़का सुरतसे दिल्ली जानेवाला था। टिकट आ चुका था। उसके दो मित्र भी दिल्ली जा रहे थे। उनके भी टिकट आये हुये थे। अचानक उसकी मां ने कहा बेटा आज मत जा। उसने कहा कि टिकट आ गया है, सब तैयारी हो गयी है, अब क्या बोल रही है, मत जा। तेरी आदत ही ऐसी है कि ऐन मोकेपर गड़बड़ करती है। साथियोंके भी टिकट आ चुके हैं, मुझे तो जाना ही पड़ेगा। माँ ने कहा जो भी हो लेकिन आज मत जा। आगे तेरी मर्जी है। आज मेरी बात मान ले। माँ रोने लगी। लड़का बहुत नाराज हो गया, किन्तु माँ ने जाने नहीं दिया। उसके दोनों मित्र गये। यह माँको कोसता रह गया। परन्तु दूसरे दिन अखबारमें खबर आयी कि फ्रंटियर मेल का एक्सिडेंट हो गया। उन दो अभागोंका भी उसमें पता नहीं रहा। आगे जो भी हुआ हो किन्तु उस माँ के मनमें यह ज्ञान कैसे हुआ कि कोई भारी अनिष्ट होने जा रहा है? केवल उस माँ की ही बात नहीं। बहुत से लोगों के जीवन में ऐसी छोटी-मोटी घटमायें होती रहती हैं। अचानक कोई स्फुरणा होती है– ऐसा नहीं, ऐसा होना चाहिये। और उसमें चामत्कारिक परिणाम भी

सामने आता है। इसीको प्रातिभज्ञान कहते हैं। यह पुण्यविशेषका ही परिणाम है।

तपश्चर्यासे ऋषियों को प्रातिभज्ञान होता था। उसमें जो अक्षर, पद, वाक्यादि स्फुरित होते थे वे ही मन्त्र हैं। उस माँ ने अपने ज्ञानसे रेल दुर्घटना को उत्पन्न नहीं किया था, किन्तु भावी दुर्घटनाको आभासरूपसे केवल देखा। उसी प्रकार इन मन्त्रोंको ऋषियोंने उत्पन्न नहीं किया, बनाया नहीं, किन्तु प्रातिभज्ञानसे केवल देखा। मन्त्र अनादिकाल सिद्ध हैं। बनाये गये नहीं। ऋषि मन्त्रके रचयिता नहीं, मन्त्रके द्रष्टा हैं। लोग समझते हैं कि ऋषि विरचित होने से मन्त्रोंका महत्व है। जैसे व्यासविरचित होनेसे महाभारतादिका महत्व है। यहां विपरीत है। मन्त्रद्रष्टा होनेसे ऋषियोंका महत्व है। मन्त्रद्रष्टा होनेसे ऋषि ऋषि कहलाये। यही लौकिक और वैदिक ग्रन्थोंमें फरक है। लौकिक ग्रन्थोंका महत्व रचयितापर आधारित है परन्तु वैदिक ग्रन्थोंमें मन्त्रोंसे द्रष्टाका महत्व होता है। इसी प्रकार सभी वेद मन्त्र अनादि सिद्ध हैं। अपौरुषेय हैं, महान हैं। सर्वाधिक महान मन्त्र गायत्री मन्त्र है। उस गायत्री मन्त्रके द्रष्टा होनेसे विश्वामित्रका वास्तविक विश्वामित्र नाम हुआ। गायत्री मन्त्र विश्वकल्याणकारी है। अतएव उसके द्रष्टा, आविष्कर्ता विश्वके मित्र हुये।

मित्रका एक अर्थ सखा होता है। सखाका मतलब है–बिना स्वार्थ, अहैतुक स्नेह रखनेवाला तथा उपकार करनेवाला। पति, पुत्र, माता, पिता आदि सभी स्नेह करते हैं किन्तु कहीं स्वार्थसे और कहीं सम्बन्धसे स्नेह करते हैं और उपकार करते हैं। किन्तु मित्रका मित्रके साथ स्नेह ऐसा नहीं। सच्ची मित्रता अहैतुक होती है। वहाँ परस्पर रक्त सम्बन्ध नियत नहीं है। प्रत्युपकार निश्चित नहीं है। अकारण ही मित्रता शुरू हो जाती है। कभी-कभी सकारण भी होती है। परन्तु सकारण ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है। सयाने होनेके बाद अधिकतर सकारण ही मित्रता होती है। किन्तु दो बच्चोंकी स्कूलमें मित्रता होती है तो किसी कारणसे नहीं, स्वाभाविक ही होती है। सकारण मित्रता भी सच्ची होनेपर बादमें अकारणके समान ही हो जाती है। वही स्थायी और यथार्थ होती है। संतोंने मित्रका लक्षण इस प्रकार किया है कि–

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटीकरोति ।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥

यद्यपि डाकुओंमें भी मित्रता होती है और गाढ मित्रता, यहां तक कि अपना सिर देकर भी मित्रकी रक्षा कर डालते हैं, फंसने नहीं देते। किन्तु वह सन्मित्र नहीं है। वह असत् मित्र है। सत् मित्र तो अपने मित्रको पाप करनेसे रोकता है। और हितकार्यमें जोड़ता है। अर्थात् मित्र के भविष्यको वह सुधारता है। वर्तमान में उसकी गोपनीय बातोंको गुप्त रखता है और मित्रके गुणोंका बखान करता है। ऐसा नहीं कि मुखपर प्रशंसा की और पीठपीछे निंदा की। मित्रकी असली परीक्षा आपत्तिमें होती है। हम अपनी एक घटनाकी बात बता सकते हैं। हमें मलेरिया बुखार एक दिन छोड़कर तीसरे दिन आता था। बहुत दिनोंतक चला। सह्याद्रिके तलहटीकी बात है। एक मित्र मिल गया था। पैदल यात्रा करते थे। तीन घंटेका बुखार आता था। बुखार आनेसे पहले ही चावलसे कांजी बनाकर हमने रखी। इतनेमें बुखार आ गया। कांपने लग। लेट गया। हमारे मित्रने सोचा इसके साथमें रहना आफत है। कांजी पीकर चलता बना। तीन घंटे के बाद बुखार उतरा, आँख खोलकर देखा तो मित्र नहीं था। मैंने सोचा नहाने गया होगा, आनेपर दोनों कांजी पियेंगे। बड़ी भूख प्यास लगी थी। प्रतीक्षा करते-करते काफी समय बीत गया। फिर सोचा मित्रके लिये कांजी रख देंगे, अपना तो थोड़ी पी ही लेते हैं। हंडा खोलकर देखा तो खाली था। मैं छटपटाता रह गया। ऐसे मित्रोंकी बात भर्तृहरिजी नहीं कर रहे। वे कहते हैं—आपद्गतं च न जहाति। आपत्तिमें मित्रको नहीं छोड़ते और सबसे बड़ी बात है—ददाति काले। 'गृह्णाति काले' नहीं कहा। लेना लाचारीमें है। लेते भी हैं किन्तु मनमें देने की भावना रहती है। विश्वामित्रजीने गायत्री का आविष्कार कर इन सब गुणों को अपनेमें उतारा। गायत्रीसे पापोंकी निवृत्ति और परम हितकी प्राप्ति होती है। अवगुण नष्ट होकर छिप जाते हैं और सद्गुण गायत्रीसे प्रगट होते हैं। सबसे बड़ी आपदा मृत्यु है। उस समंयमें गायत्री ही परम सहाय है। जीवनमें भी आपदाओंसे यह मुक्त करती है। विद्यादानसे बढ़कर क्या दान हो सकता है? गायत्री तो

ब्रह्मविद्याप्रदान करनेवाली है। इसे पूरे विश्वको देकर विश्वामित्र विश्वके मित्र हो गये।

मित्र शब्दका दूसरा अर्थ सूर्य है। सूर्यके विषयमें आगे मन्त्रके व्याख्यानके अवसरमें बहुत कुछ बताया जायेगा। यहाँ तो संक्षेपतः यही कहना है कि सूर्य प्रकाश करनेवाला है। अंधकारको दूर हटानेवाला है। आकाशस्थ सूर्य पूरे विश्वको प्रकाश देता है। "कर्मसाक्षी जगच्चक्षुः" इस प्रकार सूर्यके लिये बताया है। वह जगतका चक्षु है। दिखानेवाला है। अंधकारको पूरी तरहसे सूर्य ही हटाता है। दीपकादि तो थोड़ा बहुत अन्धकार दूर करते हैं। किन्तु पूरी तरहसे नहीं। महर्षि विश्वामित्रने भी जगत् को प्रकाश दिया, और अंधकार मिटाया। कौनसा प्रकाश? कौनसा अन्धकार? विश्वामित्रने ज्ञानप्रकाश दिया अज्ञानान्धकार मिटाया। किससे? इसी गायत्री मन्त्रसे। गायत्री मन्त्र कर्म तथा ब्रह्म दोनोंका प्रकाशक है। कर्मका प्रकाशन करते हुये कर्मजन्य समस्त विश्वका प्रकाशन किया। ब्रह्मका प्रकाशन कर परमार्थतत्त्वका प्रकाशन किया। उसके द्वारा अज्ञानान्धकारको गायत्री मन्त्रने मिटाया। इस मन्त्रको प्रदान कर विश्वामित्रने ज्ञानसूर्यका उदय कराया। हृदयमें प्रकाशको प्रसारित किया। अज्ञानको मिटाया। इसलिये विश्वामित्र विश्वके लिये सूर्यरूप हो गये।

पूर्वोक्त पद्धतिसे गायत्री मन्त्र स्वयं भी विश्वका मित्र है। गायत्री मन्त्रके द्वारा ही विश्वामित्र ऋषि यथार्थतः विश्वामित्र हुये। गायत्री मन्त्र पापनिवारण करता है और परमहित करता है। जो इसका जप, ध्यान, अर्थानुसंधानादि करता है उसे महापुण्य देता है। पापरूपी गुह्यको छुपा देता है। नाश तो वस्तुतः छुपना ही है। "णश् अदर्शने" अदर्शन ही तो नाश हैं, वही छिपना भी है। गायत्री समस्त सद्गुणोंको उद्भूत करती है। सांख्य मतानुसार अभिभूत होकर सबमें सद्गुण भी पड़े हुये हैं। उनका उद्भव गायत्री जपसे होता है। यह संसाररूपी जन्म मरण आपदासे ऊपर उठाती है और परिपक्व होनेपर कालमें मोक्ष प्रदान करती है। इस प्रकार गायत्री मन्त्र विश्वका सन्मित्र हुआ।

विश्वका यह महामन्त्र मित्र–सूर्य है। इस मन्त्रका देवता सूर्य है। "मन्त्रात्मानो देवताः" इस मीमांसा सिद्धान्तानुसार सूर्यात्मक मन्त्र है। मन्त्रात्मक सूर्य है। इस प्रकार गायत्रीमें मुख्यार्थ सूर्यरूपता संगत है और

आध्यात्मिक दृष्टिसे ज्ञानप्रकाश देकर और अज्ञानान्धकार मिटाकर भी यह सूर्यरूप है। संपूर्ण वेदार्थ गायत्रीमें निहित है। गायत्री वेदमाता है।

"स्तुता मया वरदा वेदमाता"

इत्यादि वचनोंमें स्पष्टतया गायत्रीको वेदमाता बताया है। वेदमाता इसलिये कि वेदोंके संपूर्ण अर्थ गायत्रीमें निहित हैं। इसलिये मन्त्र भी विश्वामित्र है। प्रश्न होगा कि मन्त्रको विश्वामित्र कैसे कहेंगे? व्याकरण सूत्रकार "मित्रे चर्षौ" इस सूत्रमें ऋषि अर्थमें विश्व शब्दको दीर्घ अन्तादेश कहते हैं। ठीक है। मन्त्रको भी ऋषि कहते हैं। "तदुक्तमृषिणा" इस प्रयोगमें ऋषिका मन्त्र अर्थ है। इस बातका समर्थन व्याकरणादिके ग्रन्थोंमें सुप्रसिद्ध है।

सूर्यदेवता भी विश्वका मित्र है। पूषा नाम जगतका पोषणकारी होनेसे पड़ा। प्रचोदन सत्कर्मादि प्रेरण सूर्य करता है। वह प्रकाश प्रदान करता है और अन्धकारको दूर करता है। मन्त्रात्मानो देवताः इस मीमांसा सिद्धान्तमें देवता मन्त्रस्वरूप हैं। मन्त्रको ऋषि कह सकते हैं तो तदात्मक सूर्य भी ऋषि ही है। इस प्रकार मन्त्रद्रष्टा, मन्त्र एवं देवता तीनों ही विश्वामित्र ही हैं। मुख्य इनमें मन्त्र ही है। वह अनादि अनन्त अपौरुषेय है। उसी के कारण देवता मन्त्रात्मा हो गया। उसीके कारण मन्त्रद्रष्टाकी महिमा हुई। सर्वथा यह तो निश्चित है कि गायत्री विश्वहितकारिणी है। सर्वोपकारिणी है।

जो लोग अधिकारकी बात करते हैं वे भी ज्ञानका निषेध तो नहीं ही कर सकते। अपशूद्राधिकरणमें भगवान् आदि शंकरचार्य स्वयं कहते हैं कि ज्ञान वस्तुतन्त्र होनेके कारण किसीके लिये भी उसका निषेध नहीं किया जा सकता। अनादि कालसे सभी असंख्य जन्म ले चुके हैं। उनमें कभी भी कोई द्विज नहीं ही हुआ ऐसा कहना असंभव है। गायत्र्यादि श्रवण भी उस समय किया ही होगा। वर्तमानमें गायत्रीके अध्ययनसे ज्ञानको प्राप्त द्विज उस ज्ञानका उपदेश करेगा तो पूर्वाधीत संस्कारोद्बोधसे शूद्रादि सबको ज्ञान हो सकता है। अतः गायत्री विश्वोपकारिणी है इस बातका निराकरण कट्टर अधिकारवादी भी नहीं कर सकते। मतान्तरमें तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

(२)

"धियं प्रचोदयन्ती या सत्कर्मोपास्तिवित्तिषु ।
प्रवर्तयति लोकान् सा गायत्री मे परा गतिः ॥"

गायत्रीके बारेमें हमने यहांतक देखा कि वह विश्वहितकारिणी है जिसके कारण ही विश्वामित्र सार्थक मित्र बने। परन्तु वह विश्वहितकारिणी किस प्रकार है? वह पापसे मनुष्यको विमुख करती है, हितमें जोड़ती है इत्यादि हेतु भी दिखाया। परन्तु यह सब सिद्धवत् निर्देश मात्र है। प्रात्यक्षिक अनुभव नहीं है। जैसे पाप करनेके लिये जाते हुये मित्रको मित्रने हाथ पकड़कर कहा–मित्र ! ऐसा मत करो। इस प्रकार गायत्री हाथ पकड़कर किसीको पापसे रोकती नहीं, पुण्य कराती नहीं, तब किस प्रकार मित्रका काम यह पूरा करती है? कौनसा विशिष्ट कार्य यह संपन्न करती है? इसका उत्तर पानेके लिये हम श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धके एक श्लोकपर थोड़ा विचार करेंगे। श्लोक है :–

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान् ।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ।

इसका भावार्थ यह है कि परमेश्वरने प्रथम अनेकविध शरीरोंको बनाया। पहले अचर वृक्षादि योनिको जन्म दिया। फिर चर कीड़े, सांप आदि और व्याघ्र सूकरादि पशुओंको जन्म दिया। थलचरके बाद नभचर पक्षी, पतंग, काक, कोकिलादि को जन्म दिया। जलचर मछली आदिको जन्म दिया। परन्तु इन सबसे परमात्माको संतोष नहीं हुआ। अन्तमें परमेश्वरने मनुष्योंको जन्म दिया। तब उनको बड़ी प्रसन्नता हुई। आनन्द हुआ। आधुनिक विकासवादी भी ऐसा ही कहते हैं। पहले मछलीका जन्म हुआ जो केवल जलमें रहती है। फिर कछुएका जन्म हुआ जो जलथल दोनों में रहते हैं। फिर सूकर सिंहादि वन्य प्राणियोंका जन्म हुआ। विकासका अन्तिम परिणाम मानव जाति है। जैसा भी मानो लेकिन मनुष्यसे बढ़कर प्रशस्ततर कोई दूसरी सृष्टि अबतक नहीं हुई है।

— —

प्रश्न यह उठा कि मनुष्यसृष्टिसे परमेश्वरको प्रसन्नता तथा आनन्द क्यो हुआ? और उतनेमें संतोष क्यों कर लिया? इसका उत्तर है– "धिषणा" मनुष्य में विशेष है। "धिषणा वाग् धिषेर्दधात्यर्थे धीसादिनीति वा धीसानिनीति वा" ऐसी यास्क निरुक्ति है। मनुष्यमें वाणी विशेष है। मनुष्यमें धारणा विशेष है। मनुष्यमें धी बुद्धिके लिये स्थान है। मनुष्य बुद्धिका सनन संभजन-अवलम्बन करता है। "बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा" इस कोशके अनुसार सीधा अर्थ धी–प्रज्ञा भी है। मनुष्यकी विशेषता आकार प्रकारसे नहीं, रुपसौंदर्यसे नहीं, किन्तु और किसी से है। शायद लोग समझते हैं कि काले बाल और गोरे चेहरेसे मनुष्य सुन्दर होता है, श्रेष्ठ होता है। सौन्दर्य एक कल्पित तत्त्व है। पशुओंको स्वसजातीय पशुमें सौन्दर्य दीखेगा। पक्षियोंको पक्षियोंमें। अफ्रिकन कहते हैं जितना अधिक काला हो उतना अधिक सुन्दर होता है। सफेद शरीर तो बिमारी है। सफेद गायकी अपेक्षा कपिला कितनी अच्छी होती है। मनुष्यकी विशेषता केवल शारीरिक संरचनासे नहीं और इन्द्रियोंकी विशेषतासे भी नहीं है। गिद्धकी आँखोंकी शक्ति इतनी अधिक है कि वह कोसों दूरकी चीजोंको देख लेता है। चीटियोंकी और श्वानोंकी घ्राणशक्ति मनुष्यों की अपेक्षा दस गुना ज्यादा है। शक्कर कहीं भी रखो चीटियां पहुँच जायेंगी। श्वान सूंघ-सूंघ कर चोर आदिका पता लगाता है। चातक जहरको देखकर पहचान लेता है। पहले समयमें राजा लोग चातकोंको पालते थे। भोजनमें जहर मिलाकर कोई मार न दे इस भयसे। जहर देखते ही चातककी आँखोंसे पानी गिरता है। मनुष्यकी महत्ता इन्द्रियोंको लेकर भी नहीं है। मनुष्यकी महत्ता है बुद्धिको लेकर। मनुष्यकी महत्ता वाणीको लेकर है। उसीको यहांपर धिषणा शब्दसे बताया है।

धिषणा बोलना पर्याप्त नहीं है। कौनसी धिषणा? कैसी धिषणा? यह प्रश्न फिर उठता है। उपनिषदोंमें मानव योनिको रमणीय योनि तथा कूकर-सूकर आदिको कपूय योनि बताया है। वाक्य इस प्रकार है–

"अथ ह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्
ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा
अथ ये कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्
श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा

मन्त्रका पूर्वोक्त ही अर्थ है। पुण्यकर्मवाले ब्राह्मणादि पुण्ययोनिको प्राप्त होते हैं, बुरे कर्मवाले पापयोनि कूकर सूकर योनिको प्राप्त होते हैं। इस मन्त्रवाक्यमें रहस्यपूर्ण रीतिसे एक शब्द आया है। वह है कपूय योनिके रूपमें चाण्डालयोनिको कहना। चाण्डाल तो मनुष्य ही होता है। कूकर सूकरके साथ इसका परिगणन क्यों किया? कूकरादिमें विशेष बुद्धि नहीं है। चाण्डाल भले नीच जातिका हो, पर है तो मनुष्य। विशेष बुद्धि उसमें भी है। इसका रहस्य यह है कि विशेष बुद्धिमात्रसे भी रमणीय योनि नहीं होती। चाण्डाल नीच बुद्धिका होता है। नीच बुद्धि, नीच कार्यकर्ता चाण्डाल कहलाता है।

"काकः पक्षिषु चाण्डालः पशूनां चैव कुक्कुरः ।
पापो मुनीनां चाण्डालः सर्वेषां चैव निन्दकः ॥"

ऐसा भी वचन आता है। काक और कुक्कुर मलभक्षी है अतएव मलिनमति हैं। पापी मुनि और निन्दक दूसरोंकी बुराईरूपी मलका भक्षण करते हैं। चाण्डाल एक जाति भी है। उक्त उपनिषद मन्त्रमें एक और बात ध्यान देने योग्य है। वह है–रमणीय योनिकी परिगणनामें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनको लिया। शूद्रको छोड़ा। इससे लगता है कि शूद्रयोनि भी कपूय भले न हो रमणीय तो नहीं ही। सो क्यों? इसलिये कि शूद्रकी भी मति कुछ मलिन होती है। उपनिषदमें जानश्रुतिकी कथा आती है। जानश्रुति जन्मतः क्षत्रिय था वह छकड़ेके नीचे बैठे रैक्वके पास गया। हंस परस्पर जानश्रुतिकी प्रशंसा कर रहे थे तो एक हंसने कहा था कि अरे तुम लोग जानश्रुतिकी क्या प्रशंसा करते हो? छकड़ेके नीचे बैठे रैक्वके सामने ये कुछ भी नहीं हैं। यह सुनकर राजा जानश्रुति रैक्वके पास गया था रैक्वने राजाको कहा–"अह हारेत्वा शूद्र गोभिः सह तवैवास्तु" हारयुक्त गाड़ी और गायोंको भेंट देने तुम जो आये हो और विद्या ग्रहण करना चाहते हो इसे तुम अपने पास ही रखो तुम शूद्र हो तुम्हें विद्या नहीं देता हूँ। यहाँ प्रश्न हुआ कि जानश्रुति क्षत्रिय था। उसे शूद्र कैसे कहा। इसपर व्यासजी का कहना है–

"शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि"

जानश्रुतिने हंसोंसे अपना अनादर सुना तो उसको बड़ा शोक हुआ। उस शोकसे जानश्रुति आद्रुत हो गया, व्याप्त हो गया या अभिभूत हो गया। इसलिये "शुगाद्रवणाच्छूद्रः" इस व्युत्पत्तिसे वह शूद्र कहलाया। शूद्र सम्बोधन का मतलब यही कि तुम वेद विद्याके अनधिकारी हो। अतएव विद्या नहीं दी तो राजाने अधिक धनदारादि लाकर प्रदान किया। प्रथम राजाने सोचा था कि रैक्वके पास एक अतिरिक्त विद्या छोटीसी होगी, जिसके लिये मैं छोटा हो गया। इससे शोक हुआ। अपनी समझके अनुसार उस छोटी विद्याको पानेके लिये कुछ गायें और सुवर्णादि दिया तो रैक्वने उसे ठुकराया। तब राजाको समझमें आया कि यह छोटी विद्या नहीं। बड़ी विद्या है। उसके लिये अधिक धनादि देना होगा। पहलेवाला शोक तो नहीं रहा कि एक छोटीसी बातको लेकर मैं छोटा हो गया। फिर भी थोड़ा शोक रह गया जिसको लेकर दुबारा रैक्वने 'शूद्र' करके सम्बोधन किया। किन्तु इतने दानसे राजा पवित्र हो गया था।

"ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियप्रियः।
विद्यया वैति विद्यां यस्तानि तीर्थानि षण्मम ॥"

ब्रह्मचारी संवर्गविद्यायोग्य होता है। पुष्कल धन देनेवाला भी अधिकारी होता है, अत्यन्त मेधावी हो वह भी विद्याधिकारी है। जो वेदाध्ययन कर चुका हो वह भी अधिकारी है। अपना अत्यन्त प्रिय हो तो भी चलेगा। अपने पास जो अपूर्व विद्या है उसे देकर जो विद्या लेना चाहता है वह भी अधिकारी है। इन छहोंको तीर्थ बताया है। भाष्यकारने यहां एक और रहस्य दिखाया है। प्रथम बार रैक्व पूछते हैं—क्या इतने ही धनसे तुम अमूल्य विद्या पाना चाहते हो? विद्या तो शुश्रूषा आदिसे प्राप्य है। इसलिये वापिस किया। परन्तु दूसरी बार भी तो शुश्रूषा आदि नहीं की। तब विद्या कैसे दी? "तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्" की व्याख्या करते हुये कहा—"तस्या दुहितुर्ह मुखं" राजाने अपनी पुत्री को समर्पित किया था। "आत्मा वै पुत्रनामासि" के अनुसार पुत्र या पुत्री अपना ही स्वरूप है। वह सेवा करती रहेगी तो स्वयंकृत शुश्रूषा के बराबर ही वह होगी। अस्तु। तीर्थ होनेसे अधिकारी बन गया। फलतः राजा अब कपूय नहीं रहा।

यहां तक बतायी हुई कथाका सारार्थ यह है कि धिषणा मात्रसे सृष्टिकर्ता परमात्माकी प्रसन्नता नहीं। क्योंकि धिषणा भी दो प्रकारकी

होती है। एक शूद्रादि धिषणा है। दूसरी इससे अन्य सत् धिषणा है। उसका नाम यहां दिया–"ब्रह्मावलोकधिषणं" ब्रह्मदर्शन करनेमें समर्थ धिषणा उत्तम मनुष्योंमें ही है। ब्रह्म शब्दके दो अर्थ है। एक परब्रह्म अर्थ है दूसरा शब्द ब्रह्म अर्थात् वेद अर्थ है। धिषणासे दोनों अर्थ प्राप्त होते हैं। धिष धातुका वाणी अर्थ महर्षि यास्कने बताया। वेदोच्चारणयोग्य वाणी जिसमें है वह ब्रह्मावलोकधिषण है। शूद्रमें दोनों नहीं हैं। जो शोकमोहाविष्ट होगा वह न वेदवाणीको ग्रहण कर सकता है और न ब्रह्मदर्शन ही कर सकता है।

इसपर एक प्रश्न होता है कि अर्जुन शोकमोहाविष्ट था तब वह भी शूद्र जैसा हो गया तो भगवानने उपदेश कैसे किया? बल्कि शोकमोह को हटाने ही के लिये उपदेश होता है। उत्तर यह है कि किसीके हृदयमें शोकमोह बैठ गया है, आविष्ट हो गया है वही शूद्र है। जीवनभर वह रोता ही रहेगा। सत्पुरुषोंमें शोक मोह आगन्तुक होता है। खुशी स्थायी होती है। पामरोंमें खुशी आगन्तुक होती है। शोकमोह स्थायी होता है। इसलिये शूद्रकी व्याख्यामें "शूगस्य तदाद्रवणात्" बताया। आद्रवणका अर्थ है चारों ओरसे द्रवीभूत करना। जैसे धातु पिघलता है तो चारों ओरसे पूरी तरह अन्दर अग्नि प्रविष्ट होती है। वैसे शोकाद्रवणका अर्थ है कि बुद्धिमें कोने कोनेमें प्रविष्ट होकर बुद्धिको पिघलाया। फिर बुद्धि कदाचित कठिन भी हो जाये फिर भी द्रुत (पिघली हुई) लाक्षामें प्रविष्ट रंगके समान वहां सूक्ष्मरूपसे शोकादि रहते ही हैं।

मुदमाप देवः बताया। न कि हृदि संतुतोष। हर्षित हो गया, प्रसन्न हो गया, संतुष्ट हो गया ऐसा नहीं। मोदमें और संतोषमें फरक है। प्रशस्तता-बुद्धिसे जो आनन्द होता है वह मोद है। अलंबुद्धिसे जो आनन्द होता है वह संतोष है। उत्तम कार्यसे मोद होता है। कृतकृत्यतासे संतोष होता है। एक आदमीको एक लाख रुपये मिल गये तो खुशी हो सकती है। संतोष नहीं होता। ब्रह्मीजीने या परमात्मा ने धिषणा को बनाया तो उनको प्रसन्नता हुई। किन्तु संतोष हुआ कि नहीं यह नहीं बताया। मनुष्यकी बुद्धि ब्रह्मावलोकनके लिये योग्य तो है। किन्तु फलोपधायक होना जरूरी नहीं है। एक चिनगारी पूरे जंगलको जलानेमें योग्य तो है किन्तु जलानेसे पहले खतम भी हो सकती है। मनुष्यको बनाकर ब्रह्माजी को प्रसन्नता

अवश्य हुई। किन्तु वह प्रसन्नता कायमी हुई की नहीं यह संदेह है। पूरी प्रसन्नता तभी हो सकती है जब वह फलोपधायिनी हो। परमात्मा पूर्ण प्रसन्न तभी हो सकता है यदि धिषणाका फल ब्रह्मावलोकन हो। धिषणा इस प्रकार फलोपधायिनी हो। बगीचेमें आमका पेड़ लगाया। लगाने के बाद जड़ जम गयी। नये पत्ते आने लगे तो लगानेवालेके मनमें प्रसन्नता अवश्य होती है। किन्तु पूरी प्रसन्नता नहीं मानी जा सकती। आमका फल पैदा करनेमें वह योग्य है। किन्तु कहीं कीड़ा लग गया, फल ही नहीं आया तो? वह लगानेवाला निराश हो जाता है। ब्रह्मावलोकन योग्य बुद्धि परमात्माने बनायी। किन्तु उसमें कीड़े लग गये। कामक्रोधादि कीड़े ही तो हैं। तब परमात्मा भी संभवतः निराश हो जाता होगा। अतः परमात्माकी पूर्ण प्रसन्नता ब्रह्मावलोकनरूपी फलकी उपधायिका बुद्धि हो तभी संभव है। परन्तु इतना काम परमात्माका नहीं है। फलोपधायक बनानेका काम हमारा है। मनुष्यका है। परमात्माने आँख दी। उससे परदोष देखना या भगवत्प्रतिमादि देखना हमारे अधीन है। तदर्थ आँखको स्वच्छ निरोग रखना भी हमारा काम है। सुबह उठकर मुँह धोनेका काम हमारा है, परमात्माका नहीं। श्रोत्रसे परनिन्दा सुनो या वेदशास्त्रवाणी सुनो यह हमारे अधीन है। हमारा काम है। त्वगिन्द्रिय पाणीन्द्रियादिसे गुरुचरण-स्पर्शादि करना या परदारस्पर्शादि करना हमारे अधीन है। इसी प्रकार बुद्धि को स्वच्छ, तन्दुरुस्त रखना हमारा काम है और उससे विषय चिन्तन करना या परमात्मचिन्तन करना हमारे अधीन है। अर्थात् "मुदमाप देवः" ब्रह्मावलोकधिषण मनुष्यको बनाकर परमात्मा प्रसन्न तो हुआ। अब उसे फलोपधायक बनानेका काम हमारा है। बुद्धिको फलोपधायक हमें ही बनाना होगा।

ब्रह्मावलोकनरूपी फलसे युक्त बनानेके लिये महान पुरुषार्थ करना होगा। उसके लिये आधिभौतिक उपायोंके साथ आध्यात्मिक तथा आधिदैविक उपायोंको भी करना होगा। आधिभौतिक उपाय तो सात्त्विक आहारादि है। जैसा अन्न वैसा मन यह प्रसिद्ध है सद्वार्ता श्रवण करो। सत्संग करो। सद्विचार रखो ये सब आधिभौतिक उपाय हैं। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। इसके लिये आधिदैविक शक्ति एवं आध्यात्मिक शक्ति संपादन करनी पड़ेगी। और वही मुख्य है। अन्नादि तो प्रायः प्रारब्धाधीन हैं।

किन्तु आध्यात्मिक तथा आधिदैविक शक्ति संपादन करना प्रारब्धाधीन नहीं है। पुरुषार्थाधीन है। कौनसा तदर्थ पुरुषार्थ करना? इस प्रश्नका ही उत्तर गायत्री मन्त्र है।

गायत्री मन्त्र उस बुद्धिको ही प्रेरित करने का उपाय है जिसे ब्रह्मावलोकधिषण बताया। मन्त्रका जाप, देवता ध्यान, अर्थानुसन्धान आदि सभी आध्यात्मिक और आधिभौतिक उपाय है। "धियो यो नः प्रचोदयात्" का अर्थ है जो हमारी बुद्धिको प्रेरणा दे। यह कथन वस्तुतत्त्वनिरूपण मात्र है या प्रार्थनारूप है? केवल वह बुद्धिको प्रेरित करता है इस प्रकार वस्तुतत्त्वका निरूपण मात्र हो तो उसका कोई खास प्रयोजन नहीं है। वह हमारी बुद्धिको प्रेरणा दे ऐसी प्रार्थना हो तो वाक्यकी सार्थकता है। किन्तु उस पक्षमें भी परमात्मा समस्त बुद्धिको प्रेरणा देता ही है इसलिये प्रार्थना व्यर्थ ही होगी। बादल पानी बरसा रहा है तब प्रार्थना करें कि हे बादल तू पानी बरसा दे तो यह प्रार्थना निरर्थक होगी। अतः केवल प्रेरणा मात्र अर्थ नहीं हो सकता। किन्तु विशिष्ट प्रेरणा अर्थ होगा। वस्तुतः प्रथम पक्षमें भी–अर्थात् वस्तुतत्व कथनमात्र है इस पक्षमें भी 'प्रेरयेत्' इतना न कहकर "प्रचोदयात्" कहने का कुछ मतलब और ही निकलता है। प्रचोदनका अर्थ है उत्कृष्ट प्रेरणा। एक चोर अपने साथीको चोरी करनेके लिये प्रेरित करता है उसके उपाय चिन्तनके लिये प्रेरित करता है। उसके तौर तरीकोंको अच्छी तरह समझनेके लिये प्रेरित करता है। वह प्रेरणा जरूर है, किन्तु प्रचोदना नहीं है। असत् अर्थमें प्रचोदयतिका प्रयोग नहीं होता। जैसे भारी चोरके लिये प्रख्यात चोर नहीं कहा जाता। कुख्यात चोर कहते हैं। वैसे उसकी प्रेरणाके लिये भी प्रचोदयति प्रयोग नहीं होता। प्रयोजयति, प्रेरयति आदि प्रयोग ही होता है। तब यह प्रश्न उठेगा कि गायत्रीमें प्रचोदयात् क्यों कहा? "स एव साधु कर्म कारयति, स एवासाधु कर्म कारयति" इत्यादि श्रुतिके अनुसार सत् असत् आदि समस्त कर्म ज्ञानमें परमात्मा ही कारक प्रेरक है। तब केवल सत्कर्म प्रेरकके रूपमें प्रचोदयात् शब्दसे उपस्थित करनेका अर्थ है कि यहां सत्कर्मप्रेरणार्थ प्रार्थना है। इसको अर्थापत्तिगम्य अर्थ कहते हैं। तात्पर्य यह है कि चाहे वह वस्तुकथन हो चाहे प्रेरणार्थक, दोनों पक्षोंमें यहां प्रार्थना गम्यमान है। इसका विस्तार तो मन्त्र व्याख्यानावसरमें हम करेंगे।

प्रकृतमें हमें इतना ही कहना है कि यह गायत्री मन्त्र सदर्थमें प्रेरणा करने के लिये प्रार्थनारूप होने से यह विश्वहितकारी है। गायत्री मन्त्रके द्वारा परमात्मासे जब हम प्रार्थना करते हैं कि हे परमात्मा तू हमारी बुद्धिको प्रेरित कर दे, प्रचोदित कर दे तो परमात्मा ऐसी प्रेरणा करता है जिससे उस प्रार्थनाकारी की बुद्धि सत्कर्म करनेमें सदुपासना करनेमें एवं सद्ज्ञान संपादनमें प्रेरित हो जाती है।

(३)

देहरोगहरं सूर्य भवरोगहरं हरम् ।
गायन्ती पातु गायत्री ताभ्यां प्रज्ञां प्रतन्वती ॥

मानव शरीर बनाकर परमात्मा प्रसन्न हुआ। क्यों? इसमें बुद्धिकी विशेषता है। ब्रह्मावलोकन योग्य बुद्धि इस समय मानव शरीरमें ही है। दूसरे शब्दोंमें–मनुष्यमें मनुष्यत्व विशिष्ट बुद्धि ही है। उस मनुष्यत्वका उद्भावक गायत्री मन्त्र है। वह बुद्धिको प्रेरणा दिलाकर विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न करती है। अत एव विश्वहितकारी है। बालकको मानव बनानेके लिये ही सर्वप्रथम उपनयन संस्कार कर गायत्री मन्त्रका उपदेश देते हैं। उसके जपसे, उसके अर्थचिन्तनसे प्रेरणा मिल जाती है। जिससे क्रमसे वह ब्रह्मावलोकनपर्यन्त फल पाता है, जो जीवनका चरम लक्ष्य है। उसीकी प्रार्थना "धियो यो नः प्रचोदयात्" से गायत्रीमें की गयी है। शास्त्रकार कहते हैं :–

धियां प्रणोदिनीं देवीं गायत्रीं शिरसा सह ।
धारयन्नात्मविज्ञानं लभते नात्र संशयः ॥

बुद्धिके लिये प्रेरणादायिनी गायत्री को शिरके साथ धारण करनेवाला आत्मसाक्षात्कार पाता है। शिरकी व्याख्या आगे मिलेगी। "शिरसा सह" यह उपलक्षण है। प्रणव तथा व्याहृतियोंके साथ गायत्रीका धारण होता है। अतएव उपक्रममें द्व्यर्थक वाक्य हमने पढ़ा था–"प्रणौमि व्याहरन् देवीं गायत्रीं शिरसा सदा" इसका सीधा अर्थ है–गायत्री देवीको व्याहरन्–बोलता हुआ, जप करता हुआ, उसीको मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ। दूसरा अर्थ है–प्रणौमि=प्रणवका उच्चारण करता हूँ। व्याहरन्=व्याहृतिको बोलता हूँ। शिरसा=गायत्री शिरोमन्त्रके साथ गायत्रीको बोलता हूँ।

गायत्री विश्वहितकारिणी किस प्रकार है? इस प्रश्न का उत्तर मिला बुद्धिप्रणोदना द्वारा बुद्धिको प्रेरित कर। बुद्धिको प्रेरित करने पर किस प्रकार मनुष्यका हित सम्पन्न होता है? यह प्रश्न पुनः उठता है। यद्यपि सत्कर्म, सदुपासना आदिमें वह प्रवृत्त होता है, जिसकी बुद्धि सत्प्रेरित हुई है यह बात सामान्यरूपसे पूर्वमें बतायी किन्तु विशेषरूपसे कहना अवशिष्ट है। गायत्री मन्त्र तो बहुतसे लोग जपते हैं। किन्तु अन्य मनुष्यों की अपेक्षा गायत्री जपकारियोंमें खास कोई विशेषता देखनेमें नहीं आती। अतः सामान्यरूपसे कहने मात्रसे स्पष्टीकरण नहीं होता। और गायत्री जप करनेवालोंमें विशेषता क्यों नहीं दिखायी पड़ती यह भी जानना जरूरी है। जिस प्रतिबन्धसे वह स्थिति बन गयी उसे हटाना भी तो आवश्यक है। अतः उस पर विचार अब करेंगे।

एक बार की बात है। महर्षि पुनर्वसु (चरक ऋषि) बैठे हुये थे। ध्यानमग्न थे। शिष्य अग्निवेश पासमें बैठे हुये थे। महर्षिने सहसा आँख खोली। ऊपर दृष्टिपात किया और कहने लगे अहा! महान् विनाश होनेवाला है।

अग्निवेश :—कैसे?

पुनर्वसु :—हजारों लाखों ये रोग मर्त्यलोककी ओर बढ़ रहे हैं। मानव इन रोगोंसे पीड़ित होकर उभयतो भ्रष्ट होंगे। इहलोकसे भी और परलोक से भी।

आधिव्याधिशतग्रस्ता निरस्तज्ञानचक्षुषः।
पशुतुल्याश्चरन्त्येते देहमात्रैकदृष्टय;॥

मानसिक रोग आधि और शारीरिक रोग व्याधिसे जो एक दो नहीं सैकड़ों हैं लोग ग्रस्त हो रहे हैं। और होंगे। परिणामतः ज्ञानचक्षु इनकी लुप्त हो जायेगी। और पशुतुल्य होकर विचरण करेंगे। भक्ष्याभक्ष्य स्पृश्यास्पृश्य विचारसे रहित होंगे। इनकी दृष्टि देहमात्रपर टिकेगी। आत्म दृष्टि नहीं रहेगी।

समस्त धर्म-कर्म-ज्ञानादिके लिये प्रथम स्वस्थ शरीर चाहिये।

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"

ऐसा अनुभवियोंका भी कहना है। शरीर अस्वस्थ होनेपर प्रायः मन भी अस्वस्थ हो जाता है। तब परमार्थ चिन्तन नहीं हो पाता। सिरदर्द जोरदार

हो रहा हो उस समय यह रोगादि मिथ्या है इत्यादि उपदेश क्या काम कर सकेगा? कोई महापुरुष ही ऐसा होगा जो हमेशा निर्विकार रह सकता हो। किन्तु ऐसा पुरुष कृतकृत्य हो चुका होता है। उसको साधनकी अब अपेक्षा नहीं रहती है। साधनकी अपेक्षा जिसको हो उसको तो शरीरकी अस्वस्थता साधनामें बाधक होती है।

अग्निवेश :– ये रोग क्यों आने लगे? रोगोत्पत्तिमें क्या मूल है?

पुनर्वसु :– पांचों भूत प्रकुपित हो रहे हैं। स्वस्थका अर्थ है स्व में स्थिति। स्वरूपमें स्थिति। विषमताका अभाव। वात-पित्त-कफ सम होते हैं तो शरीर स्वस्थ होता है, विषम हो जाते हैं तो अस्वस्थ हो जाता है। पञ्चभूततत्व स्वरूममें नहीं रहते। एक दूसरेपर आरूढ़ होकर उसे अभिभूत करते हैं तो विषमता आ जाती है। सामान्य विषमता तो होती है और आवश्यक भी है। अतएव सृष्टि चलती है। गुणसाम्यसे प्रकृति और गुणवैषम्यसे विकृति और सृष्टि होती है। किन्तु विषमता बढ़ जाती है तब अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अतिशीत-अशीत, अतिवात-अवातादि होते हैं। पृथिवी पर उसीके कारण विषलतायें पैदा हो जाती हैं। विष जन्तु पैदा हो जाते हैं। अन्नमें, वृष्टिमें, हवामें, वृक्ष लता घास आदिमें विषाणुओंका प्रवेश हो जाता है। जल विषैला होने लगता है। वापी-कूपादि जलमें रंग बदलने लगता है। वृष्टि जलमें यह परिवर्तन आने लगता है।

पुनर्वसुके इस दर्शनमें हम अपना अनुभव भी मिला सकते हैं। काश्मीरमें हम खीरभवानीमें दर्शनार्थ गये। वहां देखा कि दिनमें कई बार पानीका रंग बदलता है। लोग उसे सिद्धि मानते हैं। चमत्कार मानते हैं। लेकिन आनन्दवन आश्रमके कुंए के जलमें भी ऐसा परिवर्तन देखा तो मैंने सोचा यह परीक्षा का मौका मिला। या तो यह भी सिद्धि चमत्कार होगा, या जलमें कुछ गड़बड़ी। कुंवा खाली करवाया तो नीचे काफी कचड़ा निकला। किन्तु उसके बाद रंग परिवर्तनका सिलसिला समाप्त हो गया। हो सकता है खीरभवानी में कोई चमत्कार ही हो।

पुनर्वसु आगे कहने लगे कि इस विषमताके कारण वायुमें प्राणशक्ति की न्यूनता हो रही है। आध्यात्मिक प्राणशक्तिका वर्धन उसीसे होता है। दीर्घ जीवन के लिये प्राणशक्तिकी नितान्त आवश्यकता है। इसको भी हम अपने अनुभवसे जोड़ सकते हैं। हम कैलासमें पहुंचे तो सत्रह अठारह

हजार फूट ऊंचाईपर भारी थकावट अनुभव होने लगी। मैंने देखा कि केवल मैं ही नहीं थक रहा हूं। ये साथवाले भी थक रहे हैं, मजदूर भी थक रहे हैं, जिनपर सामान लादे थे वे घोड़ें आदि भी हांफ रहे हैं। क्या कारण था? वहां वायुमें आक्सिजन कम था। आक्सिजन ही तो प्राणशक्ति है। इस प्रकार अन्य भूतोंमें भी है।

वेदोंमें इस भूत प्रकोपको रुद्रप्रकोप बताया है। अष्टमूर्ति शंकरके आठ शरीरों में पाँच तो पञ्चभूत ही है। अतः भूतप्रकोप रुद्रप्रकोप ही है। इनमें भी तीन मुख्य बताये हैं। प्रकोपको वेदोंमें इषु शब्दसे इंगित किया है। इषु माने बाण। रुद्राध्यायमें तीन मन्त्र आये हैं–

"नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः
ये ऽन्तरिक्षे येषां वात इषवः
ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः"

आकाशमें वृष्टि रुद्रोंके इषु हैं। अन्तरिक्षमें वायु रुद्रोंके इषु हैं। पृथिवीमें अन्न रुद्रोंके इषु हैं। जलमें, वायुमें और अन्नमें दोष आता है तो वह नाशका कारण होता है इसलिये इनको इषु बताया।

इसप्रकार के भूतवैषम्यसे शरीरमें भी विषमता आ जाती है। यहां भी पञ्चभूतोंमें वैषम्य आने लगता है। और विशेषतया तीनमें। तीन अर्थात् वे ही वात, पित्त और कफ।

भूतेषु कुपितेष्वेषु स्वस्वकार्याक्षमत्वतः ।
कायोऽयं शीर्यतेऽस्निग्धमृज्जन्यघटवद् द्रुतम् ।

ये पञ्चभूत कुपित होते हैं तो अपना-अपना कार्य करनेमें अक्षम होते हैं। पृथिवी की धारण शक्ति है, जलकी जीवनशक्ति है, तेजकी स्फूर्तिशक्ति है, वायुकी प्राणनशक्ति है, आकाशमें श्रवण शक्ति है। ये सभी शक्तियां कमजोर पड़ जाती हैं तो शरीर शीघ्र ही जीर्ण हो जाता है। सूखने लगता है, स्फूर्ति नहीं रहती, श्वासकासादिसे प्राणशक्ति खत्म होती है, बहरापन आने लगता है, अन्धापन आ जाता है। सत्यादि युगमें लोग दीर्घायु होते थे। रामजीकी बारह हजार वर्ष आयु की या दशरथ जीकी साठ हजार वर्ष आयुकी बात छोड़ दीजिये तो भी भीष्मपितामह, द्रोणाचार्यादि दो सौ डेढसौ वर्ष उमरमें जवानोंके साथ अपराजित युद्ध करते थे।

अग्निवेश :– क्यों पञ्चभूतों में प्रकोप होने लगा है? क्यों विषमता होने लगी है?

पुनर्वसु :– इसलिये कि धर्मविप्लव होने लगा है। वर्णाश्रमियोंका धर्म नष्ट हो रहा है। यज्ञयागादि लुप्त होते जा रहे हैं। यज्ञादि कर्म परम श्रेयस्कर हैं।

"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिस्ततो ह्यन्नं ततः प्रजाः ॥"

अग्निमें डाली गयी आहुति सूक्ष्मरूपसे आदित्य किरणोंमें मिल जाती है। आदित्यकिरणोंसे ही पर्जन्य मेघ होता है। उससे वृष्टि होती है और प्रजोत्पत्ति होती है। यज्ञसे जो मेघ होता है, वृष्टि होती है, उससे उत्पन्न अन्नमें जीवनशक्ति विशेषरूपसे होती है। कृत्रिम खादसे अन्न भले अधिक हो, पर जीवनशक्ति कम रहती है। पहलेके समयमें सर्वत्र नियमित वेदघोष होता था जो आकाश शक्तिको बढ़ाता था। होमादिसे अग्नि शक्तिकी वृद्धि होती थी। साथ ही जल शक्तिकी भी। रुद्राभिषेकादि भी जलशक्तिवर्धक है। इसलिये यह वचन प्रसिद्ध है–

"न तीर्थपादोदककर्दमानि न वेदशास्त्रध्वनिगर्जितानि ।
स्वाहास्वधाकारविवर्जितानि श्मशानतुल्यानि गृहाणि तानि ॥"

गुरु ब्राह्मणादि तीर्थरूप है। उनके चरणोदकसे गृह पवित्र होता है। वेदशास्त्रध्वनिसे अन्तरिक्ष पवित्र होता है। स्वाहा स्वधाकार रूपी होमादिसे अग्निकी पवित्रता और उसीके धूमसे वायुकी, वातावरणकी पवित्रता होती है। इनके अभावमें तो श्मशानतुल्य ही घर समझो। लोग ब्रह्मचारी बनकर ब्रह्मचर्यपालनके साथ वेदाध्ययनादि सम्यक् नहीं करते। गृहस्थ सत्य अहिंसादि के साथ पञ्चयज्ञादि सम्पादन नहीं करते। वानप्रस्थ होकर तपस्या नहीं करते। संन्यासी होकर संगपरित्यागके साथ ब्रह्मचिन्तनमें संलग्न नहीं रहते। इस प्रकार वर्णाश्रमधर्मविप्लव होनेसे भूतप्रकोप होता है।

अग्निवेश :– यह धर्मविप्लव क्यों होने लगा? लोग क्यों धर्मच्युत होते हैं?

पुनर्वसु :– लोगोंमें भोगासक्ति बढ़ गयी। उनका हृदय रागद्वेषकलुषित होने लगा। स्वर्ग-नरक-इह-परलोक-ईश्वर-गुरु आदिमें उनका विश्वास नहीं रहा। भोगासक्तिके ही कारण इन्द्रियसंयमका अभाव होने लगा। सन्ध्या अग्निहोत्रादि कर्मसे लोग विमुख होने लगे।

"अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥"

अनेक प्रकारके चित्तभ्रम होने लगे। लोग मोहजालमें फंसने लगे। ऐसे लोग कामभोगमें आसक्त एवं प्रसक्त होकर अशुचि नकरमें पड़ते हैं। मरणोत्तर जो नरक है सो है ही, इहलोक में भी नरक दर्शन होने लगता है। जवानी में प्रवेश होने से पूर्वही बुढ़ापा आ गया। जमाना था, जब ऋषि लिखते थे–

"अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि सर्ववेदब्रह्मचर्यम्"

अड़तालीस वर्षतक चारों वेदोंके अध्ययनके लिये ब्रह्मचर्यपालन करते थे। अब तो बारह पन्द्रह वर्षमें ही बालक कामभोगासक्त होने लगते हैं। अड़तालीसतक तो बुढ़े ही हो जाते हैं।

अग्निवेश :– भोगासक्ति बढ़नेमें क्या कारण है?

पुनर्वसु :– विचारहीनतासे होनेवाला चित्तका चाञ्चल्य। इन्द्रियां वैसे ही स्वयं चञ्चल है। "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः" इस प्रकार उपनिषत् मन्त्र ही कहता है। विचारशक्ति ही उन्हें संयममें ला सकती है। एक सामान्यज्ञान होता है। दूसरा वैचारिक ज्ञान होता है। प्रत्यक्षादिसे सामान्यज्ञान होता है। विचारसे कालान्तरीय परिणामज्ञान होता है। एक युवा पुरुषने एक युवती को देखा। उसके मनमें कामका उदय हुआ। वह देखने लगा कि कामोपभोगसे मुझे सुख मिलेगा–यह सामान्यज्ञान हुआ। एक मनुष्यने दूसरे के जेब में धन देखा। उसके मनमें लोभका उदय हुआ। वह देखने लगा कि इसे चुपकेसे लें तो मेरा बहुत काम बन जायेगा। यह सामान्य ज्ञान हुआ। एक आदमीने अपने विरोधीको देखा। उसे क्रोधोदय हो गया। उसने देखा इसे मार डालो तो कांटा निकल जायेगा। यह सामान्य ज्ञान है। केवल देखनेसे जो ज्ञान होता है, वह सामान्य ज्ञानसे आगे नहीं बढ़ता। प्रथम देखनेपर जो ज्ञान होता है वही पशुमें रहता है। 'पश्यति केवलमिति पशुः' पशु कामभोग में तुरन्त प्रवृत्त होगा। क्रोधमें

दूसरे पशुको तुरन्त सींग मारेगा। लोभमें दूसरेसे छीनकर खायेगा। विशेष ज्ञान मनुष्यमें होता है। यह विचारसे होता है। मनुष्य भी कामी, लोभी, क्रोधी है। परन्तु विचारसे वह निवृत्त होगा। परदारगमनसे पराघात हो सकता है। स्वशक्तिनाश हो सकता है। स्वधर्म एवं नीतिका नाश होता है। परधनके छीननेसे मार पड़ सकती है, जेल हो सकता है। अन्ततः ईश्वरीय सजासे कोई छूट नहीं सकता। क्रोधसे परघात करता है उसकी भी भविष्यमें वैसी ही गति होगी जो कामी और क्रोधीकी होती है। अतः ऐसा कार्य न करना चाहिये यह विचारजन्य विशेष ज्ञान है। इस विचार के अभावसे भोगासक्ति आदि होती है। मनुष्य पशुतुल्य होता है।

"अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्
विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्"

ऐसी उक्ति प्रसिद्ध है। वर्तमान अल्पसुख है। परिणाममें बहुत कुछ खोना पड़ जायेगा। उस अल्पसुख के लिये भारी नुकसान करनेवाला ही विचारमूढ़ है।

अग्निवेश :– क्या कारण है कि लोग विचारहीन होते हैं?

पुनर्वसु :– विवेकशून्यता ही विचारहीन होनेमें हेतु हैं। अच्छा क्या-बुरा क्या? स्थायी क्या-क्षणिक क्या? सगुण क्या-सदोष क्या? यह विवेक हो तब आगे विचार चल सकता है। वेदशास्त्राध्ययनके विना, सत्संगके विना विवेक नहीं हो सकता।

"सत्सङ्गेन विना नैव विवेको जायते नृणाम्"

(विनु सत्सङ्ग विवेक न होई)

विना सत्संग, विना शास्त्राध्ययन विवेक नहीं हो सकता।

अग्निवेश :– अविवेकसे लेकर विनाशपर्यन्त जो अनर्थ परंपरा है सबका मूल निदान क्या है यह मैं जानना चाहूंगा (क्योंकि यह कारणपरम्परा और लम्बी हो सकती है।)

पुनर्वसु :– प्रज्ञापराध ही मूल है।

यहींसे पुनर्वसु अपना सूत्र प्रारंभ करते हैं।

"प्रज्ञापराधो मूलं सर्वरोगाणाम्"

प्रज्ञाका अपराध ही समस्त रोगोंका मूल है। चाहे वह बाह्य रोग हो चाहे आन्तरिक रोग हो। चाहे वह शरीर रोग हो, चाहे भवरोग हो। प्रज्ञाके अपराधसे शास्त्र एवं संत पुरुषोंकी अवहेलना होती है। फलतः वह अविवेकी पशुतुल्य रहता है। प्रत्यक्षमात्र प्रमाणपर रहता है। उसमें गुणदोष विचार नहीं होगा। और उससे अविश्वास एवं भोगादि आसक्ति होगी। उससे पुण्यपापका अनुसंधानाभाव होगा। उससे धर्मत्याग और भूतप्रकोप होगा। परिणामतः शारीररोग और भवरोग स्थायी होकर "पतन्ति नरकेऽशुचौ" वर्तमानमें और मरणोत्तर भी नरकपात होगा।

"छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्"

विवेक ही न रहा तो आगे विचारादि क्यों हो? उसमें रोगाणुका प्रवेश होता है। आत्मनिष्ठाका अभाव होता है। प्रज्ञा ही धी है। बुद्धि है। प्रज्ञापराधको दूर करनेके लिये ही गायत्री मन्त्र है। "धियो यो नः प्रचोदयात्" गायत्री मन्त्रसे प्रज्ञापराध दूर होगा।

यह आधिभौतिक तरीकेसे विचार हुआ। अब आधिदैविक तरीकेसे भी विचार किया जाये। बुद्धिको प्रेरित करके गायत्री विश्वहित सम्पन्न कैसे करती है? गायत्री जपसे बुद्धिको प्रेरणा मिलती है, और इसीके अर्थचिन्तनसे विवेक होने लगता है। फिर विचारादि क्रमसे वह विश्वहितकारिणी होती है। साधारणतया लोग जप करते हैं किन्तु अर्थानुसन्धान नहीं करते। और नियम विधियोंका पालन नहीं करते। इसलिये जप करते हुए भी सफल नहीं हो पाते। अतः आधिदैविक चिन्तन साथमें होना चाहिये।

गायत्री मन्त्रका अधिष्ठाता देवता सूर्य है। सूर्यके लिये यह प्रसिद्ध है कि–

"आरोग्यं भास्करादिच्छेत्"

आदित्यकी उपासनासे आरोग्यकी प्राप्ति होती है। तेजोमय सूर्यका चिन्तन करते हुए गायत्री मन्त्रकी जपात्मक उपासना करनेसे सर्वरोगनिवृत्ति होती है। गायत्री जप करनेवालोंमें क्या, जप करनेवाले जितने भी हैं, सबमें एक दोष आ जाता है। और वह यह है कि प्रथम कुछ दिन ध्यानपूर्वक भले कर लें किन्तु बादमें जप केवल यान्त्रिक हो जाता है। मुखसे मन्त्रावृत्ति होती रहती है, हाथसे यन्त्रवत् माला फिरती जाती है, मन अपना अलग

काम करता रहता है। ऐसा जप यद्यपि सर्वथा निष्फल नहीं है, शब्द अपना काम अवश्य करेगा किन्तु जो वास्तविक फल होना चाहिये वह नहीं होता। विधिपूर्वक अनुष्ठान हो तभी वह पूर्ण सफल होता है। गायत्रीका जप करते हुये सूर्यका ध्यान करें तो वह सूर्य भी बुद्धिको प्रेरणा करेगा। सूर्य शब्दका अर्थ बृहदारण्यक उपनिषदमें भाष्यकारने किया है–

"सुष्ठु ईरणाद् रसान् रश्मीन् प्राणान् धियो वा----"

रसोंको, रश्मियोंको, प्राणोंको और बुद्धिको सम्यक् ईरण प्रेरण करता है अतः सूर्य नाम हुआ। सूर्यतापिनीमें भी

"प्रज्ञाकामः भास्करं भगवन्तमुपासीत"

बताया है। अतः सूर्योपासनासे प्रज्ञाप्राप्ति भी होती है। उससे भवरोगनिवृत्ति भी संभावित है। सविता का अर्थ भर्ग के साथ एकीभूत होकर हर भी होता है अर्थात् परब्रह्म परमात्मा भी अर्थ है। उस परमात्मा का ध्यान करते हुये गायत्रीका जप किया जाये तो सर्वसंसारहरण समस्तानर्थ निवृत्ति भी होगी। इस प्रकार गायत्री सर्वथा विश्वोपकरिणी है। सामान्य-जनको प्रज्ञापराधनिवृत्तिके द्वारा सकलरोगनिवृत्ति होनेसे स्वस्थ जीवन प्राप्त होगा। उपासकोंके लिये सूर्य भगवानकी प्रसन्नताके द्वारा सर्वरोग-निवृत्ति तथा प्रज्ञाप्राप्ति दोनों ही होंगी। और ज्ञानियोंको अज्ञानहरणके द्वारा सर्वानर्थनिवृत्तिरूप मोक्षका लाभ होगा। प्रथम प्रज्ञापराधनिवृत्ति के द्वारा होगा द्वितीय सूर्यदेवताप्रसादके द्वारा और तृतीय तत्वबोध की प्राप्ति के द्वारा।

(४)

"प्रज्ञापराधहरणीं चित्तनैर्मल्यकारिणीम् ।
धर्मार्थकामफलदां गायत्रीं मोक्षदां भजे ॥
प्रचोद्य सारथिं बुद्धिं या संसारान्निवर्तयेत् ।
नयेच्च नॄःपदं विष्णोर्गायत्रीं तामुपास्महे ॥"

यहां तक हमने यह देखा कि "प्रज्ञापराधो हि मूलं सर्वरोगाणाम्।" चाहे देह रोग हो, चाहे भवरोग। सबका मूल प्रज्ञापराध है। उस अपराधसे छुटकारा पानेके लिये और मोक्षादि प्राप्त करनेके लिये गायत्री मन्त्र उपाय है। गायत्रीमन्त्र प्रज्ञापराधहरणपूर्वक परम गति प्रदान कैसे करता है? उसके

लिये अन्य किस साधन की सहकारिता आवश्यक है? इत्यादि प्रश्न पुनः अवशिष्ट हैं। प्रज्ञापराधका हरण एक तो स्वयं शक्तियुक्त पवित्र होनेसे होता है।

"गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी
गायत्र्यास्तु परं नास्ति दिवि चेह च पावनम् ॥"

इत्यादिरीति योगी याज्ञवल्क्यने तथा कूर्मपुराणादिमें बताया है। पाप-नाशादिसे चित्त निर्मल होता है, ज्ञानोदय होता है।

कठोपनिषदमें इस मानव शरीरका रथरूपकसे वर्णन कर बुद्धिको सारथिके रूपमें बताया है

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥" इत्यादि ।

यह आत्मा रथी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियां घोड़े हैं इत्यादि। इस रथसे गन्तव्य स्थान कौनसा है इसका भी निरूपण किया।

"विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥"

विज्ञान अर्थात् सद् बुद्धिको सारथि एवं संयत मनको लगाम बनाकर जो इस शरीररथसे आगे बढ़ता हैं वह मार्गको पूरा कर गन्तव्य स्थान परमात्मपदको प्राप्त होता है। यह मानव शरीर केवल एक यान नहीं है। यह रथ है। रम धातुसे क्थन् प्रत्यय जोड़ने पर रथ शब्द बनता है। रम्यते ऽत्र, अनेन इत्यादि विग्रह है। यान बोलते तो जाना हीं जाना अर्थ निकलता। भाषामें 'या' को 'जा' कर दिया। संसरण मात्र अर्थ आता। संसरण ही संसार है। चलना ही चलना वहां रहता है। रथ कहनेसे गन्तव्य स्थान पहुंचानेवाला ऐसा सामान्य अर्थ है ही, रमण साधन यह भी अर्थ निकलता है। रम धातुसे ही राम शब्द भी होता है। 'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः।' योगी जिसमें रमण करते हैं वह राम है। अभेदरूपसे रहकर योगी आनन्दित होते हैं। उसी आनन्दका साधन रथ है। वह आनन्द मोक्षरूपी आनन्द है। स्वरूपानन्द है। उसका साधन यह मानवशरीररूप रथ है। यह आत्मा रथी है, रथस्वामी है। यह इस रथके द्वारा गन्तव्यस्थान पहुंचकर आनन्द पा सकता है। गन्तव्य स्थान रसरूप

है। "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति" रस पाकर ही यह आनन्दित होता है। गन्तव्य स्थान पहुंचनेके लिये घोड़ेके रूपमें इन्द्रियां हैं।

"इन्द्रियाणि हयानाहुः"

इन्द्रियोंको घोड़ा बताया है। क्या इन्द्रियोंसे अतीन्द्रिय रसतक पहुंचना संभव है? नहीं। तो फिर? रथ भी तो गन्तव्य स्थान तक नहीं पहुंचता। प्रासादमें विश्राम कक्षतक पहुंचना है। क्या वहां रथ जाता है? रथ से उतरकर ही प्रासादमें प्रविष्ट होते हैं। शयनकक्षमें पहुंचते हैं। वैसे इस शरीरको भी त्यागनेपर ही विदेहकैवल्य प्राप्त होता है। हां, महलतक पहुंच सकते हैं। वहांके दिव्यसुगन्ध, दिव्यरूपादिका रथमें बैठे-बैठे भी अनुभव कर सकते हैं। जीवन्मुक्तिसुख तो इस शरीरमें रहते-रहते भी मिल सकता है। वहांतक इन्द्रियां भी पहुंच सकती हैं।

"कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुः"

ऐसा बताया है। धीर पुरुष इन्द्रियोंको विषयोंसे परावृत्त कर आत्माकी ओर लगाते हैं। अतः घोड़ोंकी कोई समस्या नहीं है। समस्या है सारथिकी। सारथिको प्रशिक्षित होना आवश्यक है। सारथिको प्रेरित करना भी आवश्यक है।

सारथिको सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि जिसका वह सारथि है वह रथ है, घर नहीं, रथी भी नहीं। कोई ड्राइवर यह समझे कि यह गाड़ी घर है, रहने का स्थान है तो गलत होगा। कोई टेक्सीमैन अपनी प्राईवेट टेक्सीको घर समझकर उसीमें खाना पीना सोना शुरू नहीं करता। उसीमें रसोई बनाना शुरू नहीं करता वह गमनार्थ खरीदा है। कोई-कोई टेक्सीवाले बम्बई जैसे शहरोंमें टेक्सीमें ही सोते और विश्राम करते भी है। किन्तु उनको भी यह मालूम है कि यह घर नहीं है। यातायात का साधन है। सेठ तो उसे साधनमात्र समझता है। परंतु शरीररूपी रथमें कुछ और ही बात होने लगी। इसको तो सारथि और रथीने अपना ही घर समझ लिया। गन्तव्य स्थान तक या घर तक पहुंचनेके बाद ही छोड़ना है। घर दूसरा ही है। वहाँ इससे उतरकर जाना है इस बातको भूल गये। शरीररूपी रथमें कुछ विशेषता है। टेक्सी चालू करो और चलाओ तो ही चलती है। इस शरीररथको चालू करनेकी

जरूरत नहीं है। इसके इंजन के स्थान में इन्द्रियरूपी घोड़े हैं। वे स्वयं चेतनसे होनेसे चलते रहते हैं। इन्द्रियां अचेतन होनेपर भी चेतन जैसी हो गयी हैं। "अचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।" यह स्वयं चलती है। "विषयांस्तेषु गोचरान्।" ये विषयोंकी ओर चलती रहती हैं। सारथि यदि सो गया तो ये घोड़े रथको खड्डेमें अवश्य ले जाकर गिरायेंगे। इस सारथिको तो सदा सचेत रहना होगा। साथ-साथ प्रशिक्षित भी। उसे रथको कैसे ले जाना, कहां ले जाना इन दोनोंका ज्ञान होना चाहिये। घोड़ोंको कैसे आगे बढ़ाना है? कहाँ मोड़ना है? कहां रोकना और कैसे रोकना है इसका भी ज्ञान होना चाहिये। और यह सब करने का अभ्यास भी होना चाहिये। यद्यपि घोड़ोंको भी प्रशिक्षित करना आवश्यक है। किन्तु यह काम स्वयं बुद्धिरूपी सारथि कर लेगा। और प्रेरणा भी बुद्धि कर सकती है।

"यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥"

जो रथी सारथिरहित होगा, या जो सारथि विशिष्टज्ञानरहित होगा, प्रशिक्षित नहीं होगा प्रेरित नहीं होगा वह अमनस्क ही होगा। हाथ में लगाम रखेगा नहीं। लगाम छोड़कर बैठा रहेगा। और वह हमेशा अशुचि होगा। क्योंकि इन्द्रियां भटकनेवाली होंगी। वे ही तो विषयाहरणसे अशुचि होती है। वह उस परमपदको तो क्या प्राप्त होगा? असत् की ओर उसकी गति होगी। वह संसारकान्तारमें जा फंसेगा।

"यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥"

इसके विपरीत जो रथी सारथि सहित होगा या जो सारथि विशिष्टज्ञानवाला प्रशिक्षित होगा, प्रेरित होगा उसके हाथ में लगाम रहेगी। उसकी इन्द्रियां परमार्थकी ओर प्रत्यावर्तित होनेसे शुचि होंगी। वह गन्तव्य अध्वाका पार पायेगा जहां अपना घर है, जहाँसे फिर भटकना नहीं होगा।

इन सब विवरणोंका सारांश है बुद्धि सारथिको बराबर बनाये रखो। उसके लिये अत्यधिक सावधान रहना चाहिये। एक कारका ड्राईवर मुझे बोलने लगा कि गाड़ीमें बैठकर सेठ लोग क्या बोलते हैं यह हमें प्रायः

पता नहीं रहता। क्योंकि हमारी सभी इन्द्रियां काम करती रहती हैं। आँखोंसे आमने-सामने, अगल-बगल सर्वत्र निगाह रखनी पड़ती है। नहीं तो एक्सिडेन्ट होनेमें देर नहीं लगती। कानसे दूसरी मोटरोंके हार्न आदिपर ध्यान रखना पड़ता है। कोई दरवाजा बराबर बंद न हो तो आवाजसे हम जान लेते हैं। गाड़ी गरम हो रही है, इंजन कैसा है यह त्वगिन्दियसे पता करना पड़ता है। कुछ अंदर जलने लगा तो सूंघकर मालूम कर लेते हैं। हाथसे हैंडल सम्भालो। पांवसे ब्रेक आदि सम्भालो। दूसरोंको संबोधित करनेके लिये वाणीका भी उपयोग करना पड़ता है। प्रायः समस्त इन्द्रियोंको ठीक तरह से उपयोग करना पड़ता है। अत्यंत सावधानी रखनी पड़ती है। बुद्धिसारथिकी भी ऐसी ही बात है। प्रत्येक इन्द्रियों की गतिका उसे पता होना चाहिये। उनसे भी काम लेना है।

इस बुद्धि सारथिको प्रशिक्षण तथा प्रेरणा कहांसे, कैसे प्राप्त हो यह विचारविषय है। क्योंकि उसके बिना मूल्यवान मानव जीवन व्यर्थ होगा। पशुतुल्य होगा। इसके उत्तरमें कहा जा रहा है कि इसको प्रेरणा देनेवाली गायत्री है। इसको प्रेरणा स्वयं रथी नहीं दे सकता। वह तो बैठा है। जहां ले जाओ वहां जाता है। और अन्यत्र जाना चाहेगा तो भी उसके हाथमें कोई सत्ता नहीं है। राष्ट्रपतिके कार्यक्रम तो सचिवों के हाथ में होते हैं। उसके अनुसार ही राष्ट्रपति चलेगा। यद्यपि प्रशिक्षण सत्संगसे, शास्त्राध्ययन आदिसे हो सकता है। परंतु वह प्रायः शिक्षणमात्र होता है, प्रशिक्षण नहीं। नलपाक पुस्तक का अध्ययन या अनुभवियोंकी पाक वार्ताका सम्यक् श्रवण शिक्षण हो सकता है। प्रशिक्षण नहीं। प्रशिक्षण वह है जो कार्यान्वयनमें समर्थ हो। नलपाक पढ़कर् कोई रसोई नहीं बना सकता। इसी प्रकार सत्संगादिसे शिक्षण मिलेगा। किन्तु कार्यान्वयन सामर्थ्य तो आन्तरिक शक्तिके उद्भवसे ही संभव है। आन्तरिक शक्तिके उद्भव का साधन गायत्री है। शक्ति यद्यपि हमारे अंदर ही है, और उद्भावयिता परमेश्वर है किन्तु उसका उद्भव अर्थात् प्राकट्य गायत्रीसे होता है। इस बातको योगि याज्ञवल्क्यने सदृष्टान्त बताया है।

"गवां सर्पिः शरीरस्थं न करोत्यङ्गपोषणम्।
निःसृतं कर्मसंयुक्तं पुनस्तासां तदौषधम् ॥

एवं स हि शरीरस्थः सर्पिर्वत्परमेश्वरः ।
विना चोपासनादेव न करोति हितं नृषु ॥"

एक किसानके पास बड़ी दुधारु गाय थी। बीस किलो दूध देती थी। वह बिमार हो गयी। अंग सूखने लगे तो किसान वैद्यके पास गया। वैद्यने कहा-घीमें गुडूची (गिलोय) मिलाकर गायको दो। किसान घरमें गया और उसे गुरुचके पत्ते, लता आदि खूब खिलाया। लेकिन गाय ठीक नहीं हुई। वह वैद्यके पास शिकायत लेकर आया। बोला कि आपकी दवाके बावजूद भी गाय मरने जा रही है। वैद्यने कहा क्या दवा तुमने खिलायी? बोला घी और गुडूची। वैद्यने पूछा दोनोंको किस प्रकार किस मात्रा में मिलाया? किसानने कहा मिलानेकी क्या जरूरत थी? गौ के अंदर दूध और उसमें घी है ही। अपने आप दोनों मिल जायेंगे। मात्रा का हिसाब हो ही नहीं सकता। क्योंकि उसके पेटमें जितना घी है सब मिलनेवाला ही है। वैद्य ने कहा तब गुडूचीका तत्व भी गायके शरीरमें मिलेगा। अरे भोंदू, दवा ऐसी नहीं होती। इसी प्रकार परमेश्वर हृदयमें है। वही बुद्धि का प्रचोदयिता है। '**धियो यो** यहां यो का अर्थ परमेश्वर ही है। किन्तु गायत्रीसे प्रसन्न हुए विना प्रगट हुए विना वह बुद्धिकी शक्तिको प्रादुर्भूत नहीं करता। गायत्रीसे प्रसादित परमेश्वर ही प्रचोदयिता है, शक्तिदाता है।

दूसरा प्रश्न यह था कि गायत्री की उपासना करनेवालों में भी वह चामत्कारिक शक्ति दिखायी नहीं पड़ती। उसका कारण क्या है। क्या उसके लिये अन्य सहकारीकी आवश्यकता है? इसका उत्तर सकारात्मक है। मन्त्रजपमात्र शक्तिकारक होनेपर भी सहकारीके होनेपर ही वह पूर्णरूपसे विकसित होता है। एक गायत्रीकी उपासना है। दूसरा अर्थज्ञान है। गायत्रीसे सूर्यकी उपासना, अन्य देवोंकी उपासना एवं परमात्माकी उपासना होती है। इसका निरूपण आगे होगा ही। किन्तु स्वयं गायत्रीकी भी उपासना होती है। उसको समझनेपर गायत्री का महत्वज्ञान होने से उसका प्रभाव बढ़ जाता है। मनु महाराज कहते हैं–

"त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥"

ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेदसे गायत्रीके तीन पादोंका दोहन परमेष्ठी प्रजापतिने किया। जैसे गायसे दूध दुहा जाता है, वही गायका सार है वैसे

श्रुतिरूपी गायोंसे गायत्रीक्षीरका दोहन किया। (तदित्यृचः तत्सवितुर्वरेण्यं इत्यादि ऋचाका)मतलब यह वेदों का सार है। अतएव पुनः कहा–

"एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥"

इस ॐकार अक्षरको और व्याहृतिसहित गायत्रीको प्रातःकाल और सायंकाल सन्ध्या समयमें जप करने मात्र से तीन वेदोंके अध्ययनका पुण्य प्राप्त होता है। इस प्रकार समझकर उत्कर्षदृष्टि प्रथम गायत्री वर्णों में करनी चाहिये और पूर्वोक्तरीत्या गायत्रीके स्वरूप की महिमाका चिन्तन करना चाहिये। कूर्मपुराणमें एवं काशीखण्डादिमें बताया है।

"गायत्री वेदजननी गायत्री लोकपावनी ।
न गायत्र्याः परं जप्यमेतद्विज्ञानमुच्यते ॥"

गायत्री वेदोंकी जननी है। गायत्री समस्त लोकको पावन करती है। गायत्रीसे बढ़कर अन्य कोई जपयोग्य मन्त्र नहीं है। यह ब्रह्मसाक्षात्कारका साधन है। इसी प्रकार योगि याज्ञवल्क्यादिका भी वचन पहले दिखाया जा चुका है।

एक कथा इस प्रकार प्रसिद्ध है कि एक ब्राह्मण गङ्गाकिनारे बैठकर दीर्घ समयसे गायत्री जप कर रहा था। दूसरा एक श्माशानिक भी वहां कुछ दिनसे बैठने लगा। एक दिन जपके समय ब्राह्मणके कंधेपर रखा गमछा नीचे गिरा। ब्राह्मण बुर्जपर था। नीचे उतरनेपर ही कपड़ा ले सकता था। द्वितीय उत्तरीयके विना कर्म नहीं करना चाहिये। तब उसे उठाने वह आसनसे उठने लगा। श्माशानिक ने कहा कि आपकी गायत्री में इतनी भी शक्ति नहीं है कि आप उसे ऊपर मन्त्र-शक्तिसे उठालें। ब्राह्मणने कहा-मेरे पास वैसी शक्ति नहीं है। शूद्रने कहा-तब मेरा भूतमन्त्र गायत्रीसे श्रेष्ठ है। देखो मैं मन्त्रशक्तिसे उसे ऊपर उठाता हूँ। उसने भूतावाहन किया। उसने गमछेको तुरंत ऊपर उठाकर रख दिया। ब्राह्मणको इतना आश्चर्य हुआ कि सारी जिंदगी गायत्री जपकर बितायी, मुझे कुछ नहीं मिला। इस शूद्रका भूतमन्त्र ही इससे अच्छा है। ब्राह्मणने शूद्रसे भूतमन्त्र मांगा। शूद्रने भूतमन्त्र दिया और कहा-अडतालीस दिन श्मशानमें बैठकर इसका जप करो। तुम्हें भूत दर्शन देगा और वह वशमें

आयेगा। ब्राह्मण रातको बारह बजे श्मशान में जाकर जप करने लगा। अडतालीसवें दिन आवाज आयी-हे विप्र! बताओ तुम्हें क्या चाहिये? तुम कौन हो? ब्रह्मणने पूछा। मैं तुम्हारा उपास्य भूत हूं, भूतने कहा। ब्राह्मण-मेरे सामने तो आओ, दर्शन कर लूं। भूत-मैं तुम्हारे सामने नहीं आ सकता हूँ। क्यों? तुम्हारे गायत्री मन्त्रका इतना उग्र तेज है कि मैं सामने आते ही भस्म हो जाऊँगा। ब्राह्मण ने कहा-तब तुम जाओ मेरी गायत्री ही ठीक है। ब्राह्मणने आकर गंगास्नान कर प्रायश्चित किया और पुनः गायत्री जपने लग गया। तात्पर्यार्थ यही है कि गायत्रीकी महिमा अपार है। उसे समझो तो गायत्रीपर अटल श्रद्धा होगी और वह फलदायिनी होगी। गायत्रीके प्रत्येक अक्षरकी महिमा है और वह भी अपार है। प्रत्येक अक्षरके देवता है, देवियां हैं। अर्थ भी है। ऋषि हैं और छन्द आदि भी हैं। यद्यपि सम्प्रदाय भेदसे अनेक प्रकारसे ऋषि छन्द आदि हैं। तथापि उपनिषत् के अनुसार यहाँ दिग्दर्शन मात्र कराते हैं। एक एक अक्षरके ऋष्यादि देखें:—

"वसिष्ठश्च भरद्वाजो गार्ग्यश्चाप्युपमन्युवत् ।
भृगुः-शाण्डिल्य-लुहित-विष्णु-शातातपा अपि ॥
सनत्कुमारो व्यासश्च शुकः किं च पराशरः ।
पुण्ड्रक-क्रतु-तक्षाश्च कश्यपोऽत्रिरगस्त्यवत् ॥
उद्दालकोऽङ्गिरा नाभिकेतुर्मुद्गल एव च ।
ऋषयोऽङ्गिरसश्चैव विश्वामित्रस्तथैव च ॥"

तत् का वसिष्ठ ऋषि । स का भरद्वाज । वि का गार्ग्य या गर्ग इत्यादि दृष्टव्य है।

"त्रिरावृत्या हि गायत्री त्रिष्टुप् च जगती तथा ।
छन्दांस्यनुष्टुप् पङ्क्तिश्च बृहत्युष्णिक् तथाऽदितिः ॥

तत् का गायत्री छन्द, स का त्रिष्टुप छन्द, वि का जगती, तुर् का अनुष्टुप, व का पङ्क्ति, रे का बृहती, ण् का उष्णिक्, यं का अदिति। फिर उन्हींकी द्वितीय तृतीय आवृत्ति।

इसी प्रकार चौबीस अक्षरोंके चौबीस देवताः-

"अग्निः प्रजापतिसोम ईशानोऽर्को गृहेश्वरः।
मित्रो भगोऽर्यमा चैव सविता त्वष्टृ पूषणौ ॥
इन्द्राग्निर्वायुरेवापि वामदेवस्तथैव च।
मित्रावरुणभ्रातृव्यविष्णवो वामनस्तथा ॥
विश्वदेवश्च रुद्रश्च कुबेरश्चाश्विनावपि ।
ब्रह्मा चेत्यक्षराणां स्युश्चतुर्विंशतिदेवताः ॥

पूर्ववत तत् का अग्निदेवता, स का प्रजापति देवता इत्यादि। चौबीस अक्षरों की चौबीस देवियां भी है। वे है- प्रह्लादिनि, प्रज्ञा, विश्वभद्रा इत्यादिः-

प्रह्लादिनी तथा प्रज्ञा विश्वभद्रा विलासिनी ।
प्रभा शान्ता च मा कान्तिः स्पर्शा दुर्गा सरस्वती ॥
विरूपा च विशालाक्षी शालिनी व्यापिनी तथा ।
विमला च तमोहारी स्यात् सूक्ष्मावयवापि च ॥
पद्मालया च विरजा विश्वरूपा तथैव च ।
भद्रा शिवा चतुर्विंशा देवी स्यात् सर्वतोमुखी ॥

उपनिषदोंमें पुष्पसादृश्यादि भी बताया है। अधिकस्याधिकं फलं इस न्यायसे जितना हो सके उतना अधिकाधिक सम्पादन करनेका प्रयास करना चाहिये। गायत्री के अर्थ के बारेमें आगे बताया ही जायेगा। परंतु आगे विवरण प्रसिद्ध पदार्थों को लेकर होगा। गायत्रीके प्रत्येक अक्षरोंका भी अर्थ विष्णुधर्मोत्तरादि पुराणोंमें बताया है। चौबीस अक्षरोंके चौबीस तत्व ही अर्थ वहां कहा गया है।

"कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च बुध्दीन्द्रियाणि च ।
पञ्च बुध्दीन्द्रियार्थाश्च भूतानां चैव पञ्चकम् ॥
मनो बुद्धिस्तथैवात्मा अव्यक्तं च यदुत्तमम् ।
चतुर्विंशतिरेतानि गायत्र्या अक्षराणि च ॥"

पाँच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच विषय शब्दस्पर्शादि, पांच भूत पृथिवीजलादि और चार है मन, बुद्धि, महत्तत्त्व और अव्यक्त। किन्तु पचीसवां मुख्यतत्त्व आत्मा परमात्मा कैसे छूट गया? छूटा नहीं। पूरी गायत्रीका परब्रह्म अर्थ है। व्यासवचन है–

"न भिन्नां प्रतिपद्येत गायत्रीं ब्रह्मणा सह ।
सोऽहमस्मीत्युपासीत विधिना येन केनचित् ॥"

गायत्रीको ब्रह्मसे भिन्न मत समझो। वही मैं हूं ऐसी उपासना करो। क्यों गायत्री और ब्रह्ममें भेद नहीं? गायत्री वाचक है, सविता वाच्य है। सविता ब्रह्म है।

"वाच्यवाचकसम्बन्धो गायत्र्याः सवितुर्द्वयोः ।
वाच्योऽसौ सविता साक्षाद् गायत्री वाचिका परा ॥"

ऐसा काशीखण्ड एवं विष्णुधर्मोत्तरमें बताया है। और वाच्यवाचककी एकता याज्ञवल्क्यने बतायी। तथा ब्रह्मा,विष्णु, महेश्वरादि भी संगृहीत है।

"गायत्र्येव परो विष्णुर्गायत्र्येव परः शिवः ।
गायत्र्येव परो ब्रह्मा गायत्र्येव त्रयी यतः ॥"

ऐसा काशीखण्डमें बताया है। इसीलिये छान्दोग्यमें बताया-

"गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किं च।"

बृहदारण्यकमें प्रकारान्तरसे कुछ बातें बतायी हैं। गायत्रीका प्रथम पाद अष्टाक्षर भूमि अन्तरिक्ष और द्यौ (स्वर्ग) है। ऋक्, यजु, साम ये द्वितीय पाद है। प्राण, अपान, व्यान ये तृतीय पाद है। इत्यादि। इन सबका तात्पर्य है कि गायत्रीकी, गायत्रीके प्रत्येक पादकी और गायत्रीके प्रत्येक अक्षरकी अलग-अलग महिमा होनेसे बड़े ध्यानसे अक्षर, मात्रा, स्वर आदिका उच्चारण करते हुए जप करना चाहिये। और अक्षर पदादिकी उपासना भी करनी चाहिये, जिससे गायत्रीजप शक्तिशाली हो। जप उपासना आदिके लिये मन्त्रोंके ऋषि, छन्द और देवता का जानना परम आवश्यक है। इसलिये प्रत्येक अक्षरके ऋषि आदि हमने संक्षेपमें बताया। पूरी गायत्रीको हम पहले ही बता चुके हैं-विश्वामित्र ऋषि है, गायत्री छन्द है और सविता देवता है।

(५)

"बुद्धिं मेधां मतिं प्रज्ञां संप्रज्ञां प्रतिभामपि ।
प्रचोदयन्ती गायत्री पातु नो वृजिनार्णवात् ॥"

परमात्मा ने मानवको विशेष उपहारके रूप में बुद्धि दी। साथ ही इसके विकासका अवसर भी दिया। विकासके लिये जो अवसर दिया यही

महत्वपूर्ण है। जन्मकालमें और उसके बाद भी काफी दिनोंतक मनुष्यबालकमें और अन्य प्राणियोंमें भी कोई खास अन्तर दिखायी नहीं पड़ता। अविवेक सबमें समान ही रहता है। किन्तु बादमें मनुष्यबालक प्रगति करता है। अन्य नहीं। हजारों वर्ष पहले गाय, घोड़े, कुत्ते, गधे आदि जैसे थे वैसे ही आज भी हैं। न उन्होंने कपड़ा पहनना सीखा और न घर बनाना ही। चिड़ियां यदि घोंसला बनाती है तो हजार लाख बरस पहले जिस प्रकार बनाती रही वैसे ही आज भी रिवाज है। किन्तु मनुष्य इस विषयमें बहुत आगे बढ़े। वैज्ञानिक उन्नति बहुत कर गये और कर ही रहे हैं। अतएव यही कहा जाता है कि पशुओंमें बुद्धि नहीं होती। वैसे तो पशुओंमें भी अन्तःकरण होता है। वे भी मालिकको पहचानते हैं। शत्रुमित्रको पहचानते हैं। देखते हैं, सुनते हैं। किन्तु सामान्य बुद्धि ही उनमें होती है। विशेष बुद्धि नहीं। मनुष्यमें विशेष बुद्धि होती है, जिसे गायत्री विकसित करती है।

बुद्धि के अनेक विभाग हैं। एक प्रगतिशील समझदारी है। इसीको बुद्धि कहते हैं। दूसरी मेधा है। ग्रहणपटुता जिसको कहते हैं। मेधावी छात्र है ऐसा कहते हैं। तीसरी मति है। मनन-शीलता जिसको कहते हैं। विशेष ज्ञान प्रज्ञा है। जिसके होनेपर विद्वान् कहलाता है। यहांतक तो लौकिक है। संप्रज्ञा और पराप्रज्ञा अलौकिक है। संप्रज्ञा संप्रज्ञात समाधिमें उत्पन्न ऋतंभरा प्रज्ञाको कहते हैं। वह श्रुतानुमानान्यविषय है। "श्रुतानुमाना-भ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्" ऐसा पातञ्जल सूत्र है। अन्तिम पराप्रज्ञा है। जो अखण्डाकारवृत्तिरूप है। इन सबकी व्याख्या मन्त्र व्याख्यानके अवसरमें विशेषरूपसे की जायेगी। कुछ अन्य भेद भी आगे बतायेंगे। इन सबको लेकर धियः यह बहुवचन है। हमारी बुद्धियोंको प्रेरित करे ऐसा सुननेपर कितनी बुद्धियां मनुष्य की होती हैं यह प्रश्न उठता है। इन बुद्धियोंको प्रचोदित करनेकी यह प्रार्थना है। उसीसे मनुष्य आत्मरक्षा कर सकता है। इसके अभावमें मनुष्य आत्मघाती होता है। आचार्य शंकर आत्मघाती का स्वरूप कहते हैं–

"लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम् ।

य: स्वात्ममुक्त्यै न यतेत विद्वान्
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ॥"

यह नरजन्म बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होता है। पुण्यसंचयपरिपाकसे ही मानव जन्म मिलता है। उसमें पुरुष जन्म और अधिक दुर्लभ है। यह सुनकर कुछ आधुनिक स्त्रियां कहती हैं कि आचार्य भी पक्षपाती थे क्या? पक्षपातकी बात नहीं। मण्डनपत्नीका आचार्यने महान् सन्मान किया था। किन्तु श्रुतिपारदर्शन स्त्रियों के लिये दुष्कर है। पुरुष कभी भी विरक्त होकर जंगलमें जाकर तपस्या कर सकता है। स्त्रियोंके लिये प्राचीन कालमें भी यह संभव नहीं था। आज तो सुतरां नहीं है। प्राचीन कालमें ब्रह्मचारियों के मध्यमें कण्वाश्रममें शकुन्तला और उसकी सहेलियां निर्भय रहती थीं। शकुन्तला कोई छोटी बच्ची नहीं थी। परंतु कण्वाश्रमके ब्रह्मचारी कितने संयमी एवं सभ्य थे। क्या आजकी परिस्थिती ऐसी है? अस्तु। तपके विना और वैराग्यके विना श्रुतिपार ब्रह्म दर्शन नहीं हो सकता।

"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा ।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ॥"

ऐसा उपनिषद का मन्त्र भी है। सत्यके व्रतसे, घोर तपसे, सम्यग् ज्ञानसे और ब्रह्मचर्यसे ही यह आत्मा प्राप्य है। अस्तु। ऐसा पुरुषमानवशरीर प्राप्त होनेके बावजूद जो मनुष्य आत्माके मोक्ष के लिये प्रयत्न नहीं करता-ज्ञानसम्पादन नहीं करता वह अद्ग्रहसे-असत् शरीरादिको ही आत्माके रूप में ग्रहण करनेके कारण आत्मघाती होता है। शरीरादि सत् नहीं है। "कालत्रयेऽपि तिष्ठतीति सत्" तीनों कालोंमें जो एक रूपसे रहे वही सत् है। आत्मा एकरस है। अविकारी है। उसे शरीरादि रूपसे ग्रहण करना असद्ग्रह है। श्रीमद्‌भागवतमें इसी प्रकार आत्महननका लक्षण बताया है।-

"नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारण् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥"

यह मनुष्य शरीर अति दुर्लभ है। चौरासी लाख योनियोंमे भटकते-भटकते बड़ी कठिनाईसे ईश्वरकृपासे कोई पुण्य जागृत होता है तभी मिलता है। पशुपक्षियोंमें तो मरणकालमें पशुपक्षी संस्कार ही दृढ़ रहता है। वे फिर पशुपक्षी बनते रहते हैं। मनुष्यसंस्कारके जगनेका अवसर तो अतिन्यून है। हाँ परमात्मा स्वयं समस्त प्राणियोंके ऊपर अमुक समयके बीतनेपर एक एक बार कृपा करता है। वह मानव संस्कार जागृत करता है और पुण्यको भी जगाता है तब प्राणीको यह मानव जन्म मिलता है। अतएव यह मानव शरीर अतिदुर्लभ है। परतु हम सब मानवशरीरमे आये हुए हैं, हमारे लिये तो सुदुर्लभ कहां? हमे तो सुलभ हो चुका है। किन्तु ध्यान रखो। भवसागर पार करने का एकमात्र प्लव-नाव यही मानव शरीर है। अतएव यह मानव शरीर भोगार्थ नहीं, मोक्षार्थ है। सुकल्प है-सुसमर्थ है। हां, नावको आगे बढ़ानेके लिये कर्णधारको आगे करो। नाविकको आगे करो। वह है गुरु। गुरु शरणमें जाओ। गुरु ज्ञान देगा। गुरुका काम ज्ञान देना ही है। "गुरु विनु ज्ञान न होई" यह प्रसिद्ध है। गायत्री आदिका उपदेश गुरुसे लेना चाहिये। उसका अर्थ गुरुसे सुनना चाहिये। "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" परमार्थज्ञान प्राप्त करने के लिये गुरुके पास जाना ही चाहिये। गुरुके पास ही जाओ। गुरुकृपा होनेपर शास्त्रकृपा होगी। गुरूपदेश से शास्त्र मिलेगा और उसीसे शास्त्र अनुकूल होगा। प्रश्न है ईश्वरकृपा भी तो चाहिये? अवश्य। किन्तु चिन्ता न करो। ईश्वर हमेशा कृपा की वर्षा करता ही रहता है। पात्र को सीधा रखो, घड़ा भर जायेगा। औंधा न रखो। एकने घडा उलटा रखा, दिनभर रातभर वर्षा होती रही। किन्तु घड़ा खाली का खाली रह गया। उसको सीधा रखो। उसका मुँह ऊपरकी ओर रखो। ऊपरसे बारिश होती है। ईश्वराभिमुख चित्त रखो। गायत्रीमन्त्रादिजप करना ही ईश्वराभिमुख होना है। इन सबके होनेपर भी प्रमादके कारण जो भवसागर पार नहीं करता वह आत्मघाती है।

आत्मरक्षणके लिये गायत्री मन्त्र है। गायत्री मन्त्रके जपसे बुद्धि प्राप्त होगी, वह प्रचोदित होगी गायत्री के अर्थचिन्तनसे ज्ञानविज्ञान प्राप्त होगा। मानव जन्मकी सफलता के लिये, आत्मघातसे बचनेके लिये और परमार्थतत्त्वकी प्राप्तिके लिये गायत्रीका जप, अर्थज्ञानादि प्राप्त करना चाहिये।

"गायन्तं त्रायत इति गायत्री"

यह इसकी व्युत्पत्ति है। गायनका अर्थ प्रसिद्ध है षडजादि स्वरोंके आरोह-अवरोह के साथ उच्चारण करना। गायकोंके मण्डलमें सात स्वर प्रसिद्ध है। षडज (सा) ऋषभ (रे) गान्धार (गा) मध्यम (मा) पञ्चम (पा) धैवत (धा) निषाद (नी) ये सात स्वर हैं। गायत्री मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद तीनोंमें आता है। सामवेदमें गीतिके साथ गाया जाता है। वहाँ सात स्वर होते हैं। ऋग्वेद तथा यजुर्वेदमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर हैं। इन तीन स्वरोंसे गायत्री गायी जाती है। पाणिनीय शिक्षामें बताया है–

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

स्वरहीन और वर्णहीन मन्त्र मत जपो। कोई वर्ण बीचमें छूटना नहीं चाहिये। स्वर बराबर होना चाहिये। झूठा प्रयोग नहीं होना चाहिये जैसे श को ष, ष को श आदि बोलना। उससे जप करनेवालों को हानि होती है।

एक भक्तने मुझे बताया कि महाराज! मैं रोज गायत्रीकी पचीस माला जप करता हूं। इतना बहुत हो गया ना महाराज! मैं प्रभावित हुआ। मैंने सोचा कि इसकी मेहनत प्रशंसनीय है। मैंने पूछा-कितना समय लगता है? उसने कहा-पन्द्रह मिनिट। मैंने पूछा-क्या एक माला का पंद्रह मिनिट समय? उसने कहा-नहीं महाराज! पूरी पचीस माला का। मैंने कहा-तब तो तुमने अपना उद्धार कर लिया। अरे! मुझे दस माला करनेमें एक घंटा लगता है। वह भक्त बोला-आप लोग पंडित हैं इसलिये आपको ज्यादा समय लगता है। मैंने कहा- जो पण्डित नहीं उसको तो इससे ज्यादा समय लगना चाहिये। मैंने अंदाजा लगाया कि वह मालाके मनकोंको सिर्फ सरकाता जाता होगा। वास्तविकता यह है कि तुम भले एक ही माला करो, किन्तु सावधानीसे करो। एक विद्यार्थी है। गणितकी परीक्षा दे रहा है। पन्द्रह प्रश्नोंमेंसे दसको हल करना है। दस-दस मार्क एक प्रश्न के हैं पूरे पन्द्रह प्रश्नोंको उसने हल किया। उत्तर गलत, रास्ता गलत। एक दूसरा विद्यार्थी है। उसने चारही प्रश्न हल किये। किन्तु सही। अब बोलो कौन

पास होगा, कौन फेल होगा? हमने देखा एक मकान बारिशमें चूता था। हर साल एक बोरा सिमेंट और दस बोरा रेत मिलाकर डालता था। सब बह जाता था। एक साल आधी बोरी सिमेंट और दो बोरी रेत डाली। तो हमेशा की शिकायत समाप्त हो गयी। थोड़ा करो, किन्तु ठीक ढंगसे। केवल संख्या पूर्ति से परमेश्वर प्रसन्न नहीं होता।

बृहदारण्यकमें दूसरी व्युत्पत्ति बतायी है। "एषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता।

सा ह्येषा गयांस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे
तद्यद् गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम ।
स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणांस्त्रायते ॥

गय शब्दका अर्थ है प्राण। प्राणोंकी रक्षा करने से इसका नाम गायत्री पड़ा। गयांस्त्रायत इति गयत्रः। गयत्र एव गायत्रः। (स्वार्थमें अण्) गौरादि होनेसे ङीष् प्रत्यय। प्राणोंकी रक्षा एवं इन्द्रियोंकी रक्षा गायत्री जपसे होती है। गायत्री जपसे दीर्घायुष्यादि प्राप्त होता है। पुराणों में कहा है-

"द्वे सन्ध्ये ह्युपतिष्ठेत गायत्रीं प्रयतः शुचिः ।
यस्तस्य दुष्कृतं नास्ति पूर्वतः परतोऽपि वा ॥"

सुबह और शाम संध्या समयमें गायत्री जप करनेवालोंके पूर्वपाप और परपाप नष्ट होते हैं-

"दशकृत्वः प्रजप्ता सा रात्र्यहोर्यत्कृतं लघु ।
तत्पापं प्रणुदत्याशु नात्र कार्या विचारणा ॥"

दस बार गायत्री जपो तो रात-दिन किये छोटे पाप नष्ट होते हैं।

"शतं जप्ता तु सा देवी पोपौघशमनी स्मृता ।
जप्ता सहस्त्रं सा देवी महापातकनाशिनी ॥"

सौ जपो तो ढेर पाप नष्ट हो जायेंगे। हजार जपो तो महापातक भी नष्ट होंगे।

"अन्तर्जले त्रिरावर्त्य गायत्रीं प्रयतस्तथा।
मुच्यते पातकैः सर्वैर्यदि न ब्रह्महा भवेत्॥"

जलमें डुबकी लगाकर तीन बार गायत्री बोलें तो सर्वपापमुक्ति होगी यदि वह ब्रह्महत्याकारी नहीं हो तो। इत्यादि रीति गायत्रीकल्पमें बहुत कुछ बताया है।

गायत्री, सावित्री और सरस्वती ऐसे तीन नाम प्रसिद्ध है। कहीं कहीं इनको भिन्न रूपसे बताया है। परंतु कालभेद से एक ही के ये नाम अन्य महर्षियोंने बताया है-

"गायत्री नाम पूर्वाह्णे सावित्री मध्यमे दिने ।
सरस्वती च सायाह्ने सैव सन्ध्या त्रिषु स्मृता ॥"

प्रातः कालमें उसका नाम गायत्री है। मध्याह्नमें सावित्री है और सायंकालमें सरस्वती नाम है। वही तीन सन्ध्या है। व्युत्पत्ति भेदसे भी एक एक नाम बताये है।

गायत्री प्रोच्यते तस्माद्गायन्तं त्रायते सदा ।
सवितृद्योतनात् सैव सावित्री परिकीर्तिता ॥
जगत्प्रसवितृत्वाच्च वाग्रूपत्वात्सरस्वती ।

जपकारीकी रक्षा करती है अतः गायत्री, सविताकी द्योतिका और जगज्जननी होनेसे सावित्री और वाणीरूप होनेसे सरस्वती नाम पड़ गये।

"गायत्री वा इदँ सर्वं भूतं यदिदं किंच ।
वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ॥"

इत्यादि वचन छान्दोग्यमें है। यह सब गायत्री है। क्योंकि वाक् ही गायत्री है। यह सारा जगत् वाक् है। "वाचारम्भणं विकारः" वाणी से उत्पन्न हुआ। वाणी ही सबकी रक्षा करती है। बृहदारण्यकमें भाष्यकारने गायत्र्यवच्छिन्न ब्रह्मकी उपासना सर्वोत्तम उपासना बतायी है। उससे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति बतायी। तदर्थ ही गायत्री वर्णन बृहदारण्यकमें आया।

गायत्रीमन्त्रजपके साथ प्राणायाम करने का भी विधान आया है।

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥
अहोरात्रकृतात्पापान्मुच्यते नात्र संशयः ।

प्रणव और व्याहृतियों के साथ और अन्तमें शिरके साथ तीन बार कुम्भकमें गायत्री जपना चाहिये। वही प्राणायाम हैं। इतनेसे अहोरात्रकृत पाप नष्ट होते हैं।

यहांतकका सारांश यही है कि शास्त्रानुसार बाल्य अवस्थासे ही गायत्री मन्त्रका जप करना चाहिये। केवल जप करना भी सार्थक है। उससे भी

शक्ति प्राप्त होती है। दिव्यता आ जाती है। उसके बाद इसी मन्त्र के द्वारा सूर्योपासना करें एवं शिव-विष्णु आदि देवोंकी भी उपासना करें। यथाशक्ति गायत्री पुरश्चरणादि भी करें। फिर गायत्रीका महावाक्यार्थ ज्ञान गुरुमुखसे प्राप्त करे। उसमें सफलता पाने के लिये. गायत्र्यवच्छिन्न ब्रह्मकी भी उपासना करे। आदिसे अन्तपर्यन्त गायत्रीसहित प्राणायाम भी करते रहना चाहिये। इस विषय में मनु महाराज का कहना है–

"अह्ना राज्या च याञन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः ।
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् षडाचरेत् ॥"

दिन रातमें अज्ञानसे किये पापोंकी निवृत्तिके लिये स्नानोत्तर यति छः प्राणायाम करें। वह यदि गायत्रीसहित हो तो फिर क्या कहना है? यह पहले कह चुके।

"प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत् कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥"

संन्यासीके लिये ऊपर बताया। अन्य भी ब्राह्मणादि यदि विधिवत् प्रणवादिसहित प्राणायाम तीन तक भी करें तो भी उसे परम तप समझो। इस प्रकार जीवनको गायत्रीमय बनाना चाहिये। अन्तिम लक्ष्य तो पदार्थशोधनपूर्वक वाक्यार्थ ज्ञान जो अखण्डाकारवृत्तिरूप है उसे संपादित करना ही है। जिससे मानवजीवनका परमलक्ष्य परमपुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः हम इस महामन्त्रकी व्याख्या करेंगे।" योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते " ऐसा वेदवचन है।

गायत्री प्रवचनोंका उपक्रम समाप्त[1]

गायत्री मन्त्रकी व्याख्या भाष्य, भाष्यविवरण तथा भाष्यवार्तिकमें विस्तारसे होगी ही तथापि वह मुख्य रूपसे शांकरभाष्यानुगमन मात्र होनेसे अन्य व्याख्याओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन करनेके लिये उपयोगी तदनुरूप कुछ शब्दार्थ यहां प्रस्तुत करना असंगत नहीं होगा। सामान्यरूपसे गायत्रीका अर्थ यही समझा जाता है कि तत्= उस, सवितुः

---

1. पाँच महिनों तक गायत्री मन्त्र पर दिये गये डेढ़ सौ प्रवचनों के उपक्रमात्मक पाँच प्रवचनों का यह संक्षिप्त संग्रह है।

देवस्य= सूर्यदेवके या परमात्माके, वरेण्यं = वरणीय, भर्गः = तेजका, धीमहि = हम ध्यान करें, यो = जो, नः = हमारी, धियः = बुध्दिको, प्रचोदयात् = प्रेरणा दें।

(१) तत् पदका अन्वय सविताके साथ भी किया गया है और पक्षान्तरमें भर्गः के साथ भी किया गया है। सविताके साथ अन्वय पक्षमें लुप्त षष्ठी मानकर उस सूर्यदेवका भर्ग ऐसा अन्वय माना है। किन्तु धियो यः पुल्लिङ्ग प्रयोग वैदिक लिङ्गव्यत्ययसे मानना पडता है। "धियो यो" यहांके यत्पदार्थका परामर्शक तत्पद है।

(२) तत् का दूसरा अर्थ तनोतीति तत् अर्थात् "व्यापक" किया गया है। व्यापक तेज या व्यापक सविता ऐसा अन्वय है।

(३) तत् का "ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः"—— इस गीता वचन के अनुसार ब्रह्म अर्थ भी किया गया है। ब्रह्मरूपी सविता या ब्रह्मरूपी भर्ग तेज ऐसा अन्वय होगा।

(४) तत् का चौथा अर्थ "प्रसिध्द" है। शास्त्रोंमें प्रसिध्द ब्रह्म और ब्रह्मतेज है। प्रत्यक्षप्रसिध्द सूर्य और सौरतेज है। ये सभी अर्थ शांकरभाष्यमें भी हैं।

(५) वल्लभीय भाष्यमें प्रसिध्द अर्थ लेते हुये भी "सत्यं परं धीमहि" का परम सत्य अर्थ लिया। "जन्माद्यस्य यतो" इस यत् पदार्थका परामर्शक तत्पदं अन्तर्निहित होनेसे उसका प्रकट "सत्यं परं" स्वरूप ही प्रसिध्द तत्पदार्थ है। वह सर्वलोकप्रसिध्द तथा सर्ववेदप्रसिध्द है। कालयत्रयाबाधित है। यही पुरुषोत्तम है।

सवितुः

(१) सविताका सामान्य अर्थ सूर्यदेवता है। इस मन्त्रसे सूर्यकी उपासना मुख्यतया की जाती है। सूर्यका ध्यान किया जाता है। सूर्य प्रत्यक्ष देवता माना गया हैं। " यदादित्यगतं तेजः " इस प्रकार गीतामें सूर्यतेज को भगवत्तेजरूप बताया है।

(२) सूर्यमण्डलस्थित हिरण्यगर्भ ही सविता है ऐसा दूसरा अर्थ है। हिरण्यगर्भ सुवणवण तेजस्वी देव है। "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" इस श्रुतिके अनुसार वही प्रथमज है। सुक्ष्मजगत-समष्टि उपधिवालेको वेदान्तमें हिरण्यगर्भ बताया है। वह भी हो सकता है। किन्तु "आप्रणखात् सुवर्णः"

नाखूनसे लेकर मस्तकपर्यन्त सुवर्णवर्ण है। इस श्रुतिके अनुसार उपास्य तो मुख्यतया साकार है।

(३) षूङ् प्राणिप्रसवे इस धातुपाठके अनुसार समस्तजगत्प्रसवकारी सविता है। ईश्वर जगतका स्त्रष्टा है। वेदान्तमें मायोपाधिक चैतन्य ईश्वर है, वही जगत् की सृष्टि करता है। "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" इस प्रकार गीता में कहा है। अध्यक्षविशिष्ट प्रकृति या प्रकृतिविशिष्ट अध्यक्ष चराचर जगत् का जनक है। प्रकृति जड, चेतन निष्क्रिय है। सांख्यवाले कहते हैं--पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः। पंगु अंधे के कन्धेपर चढा तो दो विकल मिलकर एक सकल बना।

(४) षू प्रेरणे धातुसे भी सविता शब्द होता है। उसका अर्थ है प्रेरियता--प्रेरणा करनेवाला। वह परब्रह्म परमात्मा या अन्तर्यामी है। यह अर्थ अधिक संगत इसलिये है कि अन्तिम पादमें यही अर्थ स्पष्ट किया है। अन्तिम पादमें जीवसाक्षी बताया है। यहां ईश्वरसाक्षी बताया यही फरक है। यहां चैतन्य मायाविशिष्ट न होनेपर भी मायोपहित या मायोपलक्षित है। सूतसंहितामें–"स्वमायाशक्तिसंभिन्नशिवरुद्रादिसंज्ञितम्। आदित्यदेवतायास्तु प्रेरकं परमेश्वरं" बताया है। संभिन्नं का विशिष्टं अर्थ हो तो ईश्वर है। उपहितं अर्थ हो तो साक्षी है। महर्षि याज्ञवल्क्यने दोनोंको मिलाकर विष्णु अर्थ बताया है।

"हिरण्यवर्ण पुरुषँ ध्यायेम विष्णुसंज्ञकम्। विशनात्सर्वभूतानां विष्णुरित्यभिधीयते ।

"हिरण्यगर्भ ब्रह्माका नाम है। अतः ब्रह्मा अर्थ करना भी यहां संभव है। उव्वट तथा महीधरमें "प्रसवदातुःआदित्यान्तरपुरुषस्य हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्य वा विज्ञानानन्दस्वभावस्य वा ब्रह्मणः" ऐसी व्याख्या की है। योगार्थ और रूढि अर्थको लेते हुये प्रसवदातुः = आदित्यान्तरपुरुषस्य बताया। वह कौन? उत्तर दो विकल्पोंमें दिया-हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्य ब्रह्मणः, विज्ञानानन्दस्वभावस्य वा ब्रह्मणः । शांकरभाष्यमें पूर्वोक्त सभी अर्थ प्रायः आ जाते हैं।

(५) सवितुः का प्रसविता अर्थ है। वह स्वयं गायत्री है। गायत्री वेदमाता है। वेदत्रयके अर्थकी प्रतिपत्ति-जननी है। उपासकोंमें निर्विघ्न वाक्यप्रसव गायत्री करती है एवं चुतर्विध पुरुषार्थजननी गायत्री है। वही

श्रीस्वामिनी है। राधिका है। तब सवितुः यह पुल्लिङ्ग प्रयोग किस प्रकार? सवित्री शब्द होना चाहिये। नहीं। कृष्णभावमें आकर पुल्लिंग प्रयोग हो गया। स्त्रीभाव गूढ हो गया। उस स्वामिनी का वरेण्य जो देवका भर्ग है उसका ध्यान करें ऐसा अन्वय है। ऐसी कृष्णभक्तोंकी व्याख्या है। इस मतमें सवितृ पदसे सृष्टिमात्र बताया। स्थिति और लय वरेण्यं भर्गः इन दो पदोंसे सूचित है।

वरेण्यं

वरेण्यं शब्द वृ धातुसे औणादिक एण्य प्रत्यय करनेसे बना है। "मुख्यवर्यवरेण्याश्च" इस कोशके अनुसार श्रेष्ठ, मुख्य आदि इसका अर्थ है। परंतु प्रायः सभी आचार्योंने कृत्य प्रत्ययार्थमें एण्यको माना है। "वरणीयं" ऐसा अर्थ सबने किया है।" उणादयो बहुल "यहां बहुल निर्देशसे वह अर्थ भी लिया जा सकता है। अतः "सर्वैरुपास्यतया ज्ञेयतया च संभजनीयं" इस प्रकार व्याख्यामें कर्तृवाचक पदमें तृतीयाकी भी उपपत्ति है।

(१) वरणीयं संसारभयभीरुभिः। ऐसी एक व्याख्या है। जो संसारभयसे छुटकारा पाना चाहते हैं। उनके लिये सविताका तेज वरणीय है। इस मतमें गायत्री मन्त्र मुख्यरूपसे वैराग्यवान के लिये जप्य है।

(२) वरणीयं प्रार्थनीयं नियमादिभिरपगतकल्मषैः सततं ध्येयम् ऐसी दूसरी व्याख्या है। प्रार्थनीयं ध्येयं दोनों लिखनेसे ऐसा लगता है कि गायत्री मन्त्रोच्चारणपूर्वक ध्यान विवक्षित है। निष्पाप भावसे सभी वरण इस मतमें कर सकते हैं।

(३) वरेण्यं सर्वजन्तुभिः ऐसा सूतसंहितामें कहा है। इसका मतलब हुआ शक्ति सहकारी होनेसे उच्चारण वरण आदिमें समर्थ मनुष्य-तो क्या और भी कोई जन्तु हो वह भी वरण कर सकता है। शांकरभाष्यादिमें भी सर्वैः जोडा है। इसलिये वही अर्थ है।

(४) उपास्यरूपसे भजनीय है और ज्ञेय रूपसे भी भजनीय है। इनमें आश्रयणीय अर्थ अभिव्यक्त होता है। अतः उपासनाविषयीकर्तव्यः और ज्ञानविषयीकर्तव्यः ऐसी दो अभिव्यक्तियां होती हैं।

(५) यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" ऐसी श्रुति है। जिस परमात्माको ही यह साधक वरण करता है या जिस साधक को ही यह परमात्मा वरण

करता है वही साधक परमात्माको पाता है ऐसा उभय वरण वहां विवक्षित है। वरण शब्दसे ध्वनि निकलती है कि कन्या अपने इष्टको ही पतिरूपमें वरण करती है और पति भी अपनी इष्ट कन्या को ही। उस कन्याका अन्यत्र पुनः विनियोग नहीं होता। वैसे ही भक्त एक बार समर्पणके बाद पुनः अन्यत्र अपने मनको नहीं लगाता। वह अनन्यशरण होता है। अनन्यदासभावसे भक्त भजन करे तो आत्मीयरूपसे भगवान् उसे स्वीकार करता है। ऐसा भक्तिपक्षीय एक अर्थ है।

(६) सवितुर्वरेण्यं एक साथ होनेसे गायत्रीभावापन्न होकर या राधाभावापन्न होकर श्रीकृष्ण वरणीय है। ऐसा माधुर्यभावपक्षीय अर्थ है।

भर्गः

(१) भ्रस्ज पाके धातुसे "अञ्च्यञ्जियुजिभृजिभ्यः कुश्च" इस सूत्रसे असुन् प्रत्यय और कवर्ग अन्तादेश करनेपर "भर्गस्" शब्द सकारान्त होता है। भर्जन का अर्थ होता है भूंजना। दोषोंको और पापोंको भून डालता है। नष्ट करता है। इसलिये भर्ग कहलाया। भर्ग उस वीर्यको कहते हैं जो पापोंको भून डाले। "वरणाद्वा अभिषेचनाद् भर्गोऽपचक्राम, वीर्यं वै भर्गः" ऐसी श्रुति है। वीर्य अर्थात वीरता, सामर्थ्य, शक्ति। फलपाकहेतु होनेसे भी भर्ग कहलाया।

(२) "भ्रस्ज पाके" से ही बना भर्गस् शब्द बाध अर्थमें भी है। वह भर्ग जो अविद्या एवं उसके कार्योंका बाध कर डाले। साक्षात्कारात्मक ज्ञानका विषय होनेपर ब्रह्मचैतन्य अविद्यादि को बाधित करता है। स्वरूपस्फुरण होनेपर सर्व संसार बाध होता है।

(३) भ्राज दीप्तौ धातुका भी भर्गस् शब्द माना है। इस पक्षमें भर्गस् का दीप्ति ज्योति अर्थ है। योगी याज्ञवल्क्यने बताया है- "आदित्यान्तर्गतं वर्चो भर्गाख्यं तन्मुमुक्षुभिः। जन्ममृत्युविनाशाय दुःखस्य त्रितयस्य च। ध्यानेन पुरुषैर्यश्च द्रष्टव्यं सूर्यमण्डले।" आदित्यस्थ ज्योति का नाम भर्ग है।

(४) पूर्वोक्त याज्ञवल्क्यवचनानुसार ही आदित्यान्तर्गतआदित्यावच्छिन्न चैतन्य ज्योति अर्थ भी भर्ग का हो सकता है। अज्ञाननाशक वह ज्योति है। उव्वटाचार्यने मण्डल पुरुष एवं रश्मि तीनोंको भर्ग बताया है।

(५) भञ्जो आमर्दने, भञ्जनाद् भर्गः ऐसी भी व्याख्या कि गयी है। प्रकाश जो तमोभञ्जन करता है।

(६) भृञ् भरणे, भरणाद् वृष्टिप्रदानादिना भूतानां भरणहेतुत्वाद् भर्गः। जगतका भरणपोषण करनेवाला भर्ग है। आदित्यपक्षमें वृष्टि आदिके द्वारा भरणपोषण करता है। परमात्मा पक्षमें सर्वभरण परमात्मा करता ही है।

(७) शैव सिद्धान्तमें भर्गस् शब्द का अर्थ शिव या शैव ज्योति है। क्योंकि शिवके नामों में भर्ग शब्द आता है। शिवमें वह रूढ है। यद्यपि शिववाचक भर्ग शब्द अकारान्त है तथापि वेदोंमे कहीं अकारान्त पद सकारान्त हो जाता है। और सकारान्त पद अकारान्त भी होता है। जैसे रजस् और रज समानार्थक है। महस् और मह समानार्थक है। अन्य अर्थ में लोकमें भर्ग शब्दका प्रयोग नहीं होता। अष्टमूर्तिमें सूर्य भी आता है। अतः सविता सूर्यरूपी मूर्तिमें चैतन्य ज्योतिके रूपमें विराजमान शंकर अर्थ करनेमें कोई बाधा नहीं है। सविताका स्रष्टा अर्थ माननेपर भी स्रष्टा शैव मतमें शिव है। "यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत् स्रष्टुम्। पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः।" ऐसा स्पन्दकारिकामें बताया है। अर्थात सृष्ट्यर्थ अनुत्तरमूर्तिका स्पन्दन ही शिवतत्व है। सूतसंहिताका उद्धरण हम पहले ही दे चुके है।

(८) भर्गस् का अन्न अर्थ भी शांकरभाष्यमें लिया गया है।

देवस्य

(१) दिवु क्रीडा विजिगीषा इत्यादि अनेक अर्थोंमे धातु है। उनमें क्रीडा, रुचि, द्युति और स्तुति इन अर्थोंको कई आचार्योंने लिया है। "लोकवत्तु लीलाकैवल्यं" के अनुसार देव-परमात्मा लीलाविग्रह है। सृष्ट्यादिलीलाकर्ता है। दिव्यरूपमें या दिव्यलोकमें या "अमृतं दिवि" स्वप्रकाशमें वह रोचमान तथा द्योतमान है। देवता आदि "स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः" के अनुसार उसकी स्तुति करते हैं।

(२) 'देवो वर्षति' के अनुसार वृष्टिदानादि करनेवाला देव है। वह प्रकाशमान है।

(३) सवितुः से जगदधिष्ठानसद्रूपता, वरेण्यंसे आनन्दरूपता बतायी। देवस्यसे चिद्रूपता बतलायी गयी है।

(४) देवपद सर्वज्ञता बतानेके लिये है। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" ऐसी श्रुति है। अन्वयके बारेमें:-

(१) तस्य सवितुर्भर्गः (२) सवितुः तद् भर्गः। (३) सवितुर्वरेण्यं, सवित्रा गायत्र्या वरणीयं देवस्य परमात्मनस्तद्भर्गः। (४) सवितुः प्रसादाद्भर्गः अन्नादिकं धारयामः।

धीमहि

(१) ध्यै चिन्तायाम् धातुसे आत्मनेपद लिङ् लकार और संप्रसारण वैदिक प्रयोग होनेसे हुआ। ध्यान करते हैं यह एक अर्थ है। परमात्माका ध्यान करना।

(२) धा- धारणपोषण अर्थों में धातु है। उसका लिङ्में दधीमहि होता है। द का लोप छान्दस हुआ। परमात्माको हम मनसे धारण करते हैं।

(३) योऽसौ सोऽहं ऐसा अनुसन्धान अर्थ है।

(४) निदिध्यासन अर्थ भी है।

(५) धीङ् आधारे इस धातुसे धी येमहि की जगह विकरण लोप कर धीमहि बनाया। अन्नादिके हम आश्रय बनें ऐसा अर्थ होगा।

धियः

(१) धी का निघण्टुके अनुसार कर्म अर्थ है। कर्ममें प्रेरित करें।

(२) धी का बुद्धिवृत्ति अर्थ है अतः बुद्धिको या बुद्धिवृत्तिको प्रेरित करें। कुल मिलाकर समस्त सत्कर्म सदुपासना ज्ञान आदिके लिये बुद्धिको प्रेरित करें यह अर्थ होगा।

(३) कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियादिको प्रेरित करनेवाला उन्हें प्रेरित करें।

यः

(१) यत्पदार्थ परमात्मा है। सविता देवका यह परामर्शक है।

(२) यत्पद भर्गका परामर्शक है।

(३) यत्पद का जीवसाक्षी अर्थ है।

(४) यत्पद का अन्तर्यामी अर्थ है।

नः

(१) यत्पद त्वंपदलक्ष्यार्थबोधक है। नः यः त्वंपदवाच्यार्थबोधक है।

(२) सामान्यतः जीवबोधक है।

(३) भक्तजनबोधक है।

प्रचोदयात्

(१) यह प्रेरणा के लिये प्रार्थनारूप है।

(२) वर्तमान अर्थमें ही लेट् लकारका प्रयोग है। प्रार्थना अर्थ नहीं है।

(३) प्रेरणामात्र अर्थ है। उसकी प्रार्थना लिङ्गगम्य है।

(४) विशिष्ट कार्यमें प्रेरणा ही प्रचोदन है। मूलतत्वप्राप्तिपर्यन्त प्रापण ही प्रकर्ष है। सो भी लिङ्गगम्य ही है।

अन्य भी छोटे-मोटे भेद आचार्योंकी व्याख्याओंमें देखने में आते हैं। उतना अधिक विस्तार अनुपयोगी होनेसे हम यहाँ छोड़ रहे हैं।

गायत्री की गरिमा

गायत्री की गरिमा विश्वविख्यात है। अथर्ववेद में बताया है–

"स्तुता मया वरदा वेदमाता
प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं
ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥"

गायत्री वेदमाता है। वरदायिनी है। द्विजोंको पवित्र करती है। मेरी स्तुतिसे प्रसन्न होकर वह मुझे सत्प्रेरणा दे। प्राण, सन्तान, पशु, कीर्ति, धन एवं ब्रह्मवर्चस् मुझे देकर तब हे माता! तुम ब्रह्मलोक जाओ। गायत्री जपसे ये सभी फल प्राप्त होते हैं। अन्तमें ज्ञान एवं मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिये बाल्यावस्थामें ही इसका उपदेश देनेका भारत वर्षमें रिवाज है।

शांकरभाष्य

गायत्री मन्त्र अन्यन्त गहन है। वेदमाता इस उपाधिसे ही इसकी महानता का अनुभव हो जाता है। इसपर अनेकानेक भाष्य व्याख्या आदि आज तक हो गये हैं। उपलब्ध भाष्य एवं विवरणादिमें अत्यन्त गहराई तक पहुँचनेवाला एकमात्र शांकरभाष्य है। आधुनिक समीक्षक इस पर अवश्य ही विप्रतिपत्ति उठा सकते हैं कि यह आदि शंकराचार्यकी ही कृति है या किसी अन्य पीठस्थ आचार्यकी या शंकर नाम के किसी अन्य आचार्य की। संयोगवश शायद किसी समीक्षक के हाथ में यह भाष्य आया ही नहीं कि इसपर समीक्षा करें। जो भी हो अन्यान्य ग्रन्थोंपर जैसे श्वेताश्वतर भाष्यादि है ऐसा पूर्वपक्ष उठाया ही गया है। अतः संभावित

ऐसी आशंकाओंका पूर्व ही निराकरण करना उचित होगा। यद्यपि किसी प्राचीन आचार्यकी व्याख्या इस भाष्यपर अभीतक उपलब्ध नहीं हुई है। मूल ही दुर्लभ था तो टीकाओंकी बात ही क्या है। तथापि क्वचित् क्वचित मूलभाष्य आंशिकरूपसे छपा है। कतिपय लाईब्रेरियोंमें वह उपलब्ध भी है। परंतु अधूरा ही उपलब्ध हुआ। हमने एतदर्थ कोई विशेष प्रयत्न भी नहीं किया। किन्तु भाष्यकी गंभीरताको देखते हुये इसे आदि शंकराचार्यकी कृति माननेमें कोई आपत्ति नहीं दीखती।

दूसरी बात यह है कि सायणाचार्यने ऋग्वेद भाष्यमें गायत्री की व्याख्या करते समय आचार्यका पूर्णतया अनुगमन किया है। जैसे कि अन्यत्र वे करते हैं। उदाहरणार्थ बृहदारण्यक भाष्य, ईशावास्यभाष्य एवं तैत्तिरीयभाष्यादिमें द्रष्टव्य है। कहीं-कहीं सायण माधवने तो आचार्य भाष्यका निर्देशकर व्याख्या आरंभ की है और कहीं उसके विना भी। परंतु सर्वत्र आचार्यानुरूप ही व्याख्या की गयी है। गायत्री की व्याख्यामें भी यह बात अक्षरशः सार्थक है। जहां अतिसंक्षेपमें आचार्यने लिखा है उसका विस्तार सायणभाष्यमें उपलब्ध है। अतएव सायणोत्तरवर्ती इसे मानना सभव नहीं है। क्योंकि परवर्ती व्याख्याकार पूर्वापेक्षासे अधिक स्पष्ट लिखते हैं। न कि उसकी अपेक्षा अस्पष्ट। जैसे भर्गस् शब्दका आचार्यने एक अर्थ अन्न भी किया। फिर "अन्नादिलक्षणं फलं धीमहि धारयामः तस्याधारभूता भवेमेत्यर्थः" ऐसा कहा। डुधाञ् धारणपोषणयोः का दधीमहि रूपको ही धीमहि शब्दके रूपमें कहा। अतएव धारयामः अर्थ भाष्यकारने किया ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु इस स्पष्ट अर्थ के बाद "तस्याधारभूता भवेम" क्यों व्याख्या की? हम अन्नको धारण करें, पायें यह अर्थ स्पष्ट है। क्या उससे अधिक स्पष्ट हम अन्नके आधारभूत बनें यह अर्थ है? यदि नहीं तो "तस्याधारभूता भवेम" क्यों लिखा?

सायण भाष्यमें स्पष्ट किया धीङ् आधारे इस धातुका यह रूप है। श्यन् विकरण लोप छान्दस है। बीचमे श्यन् आनेपर धीयेमहि होना चाहिये। श्यन् न करें तो धीमहि होगा। अतः सही अर्थ आधारभूता भवेम यही है। सायणने श्रुति प्रमाण दिखाकर प्रमाणित किया। ऐसी ही अन्य बातें भी है। अतः इन सबको देखते हुए समीक्षकोंके सामने यही बात आती है कि भाष्यमें अतिसंक्षेपमें या इशारेके रूपमें जो लिखा उसका

स्पष्टीकरण ही सायणने किया। सायण के पूर्ववर्ती होनेसे और सायण के आधारभूत होनेसे आदि शंकराचार्य कृति ही इसे मानना उचित है।

यद्यपि भाष्यके आदि में मङ्लाचरणके रूपमें अनुबन्ध चतुष्टय प्रतिपादक कोई श्लोक उपलब्ध नहीं है और न कोई भूमिका ही लिखी है। प्रायः अन्यत्र मङ्गलाचरण के न होनेपर भी भूमिका तो आचार्य लिख ही जाते हैं। इस विषयमें प्रथम मङ्गलाचरण की बात यह हो सकती है कि स्वयं गायत्री मन्त्रको व्याख्येय रूपमें और मङ्गलाचरणरूपमें पढ़कर व्याख्या प्रारंभ की। भूमिका के विषयमे दो बातें हो सकती है। एक यह कि जैसे बहुतसे मुद्रित भाष्योंमें बहुत सारे अंश छूट गये हैं वैसे यहाँ भी भूमिका भाग लुप्त हो गया हो। दूसरी बात यह हो सकती है कि पूर्वमन्त्रोंकी भी व्याख्या की हो अतः नवीन आरंभ न होनेसे न मङ्गलाचरण किया और न भूमिका लिखी। अन्तिम श्लोकद्वयको देखकर यही लगता है कि ग्रन्थ वहां समाप्त कर दिया गया है। इससे पूर्वमन्त्रोंकी और उत्तर मन्त्रोंकी व्याख्या आचार्यने की इसमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः आदिमें कोई मङ्गलाचरण श्लोक भी जरूर लिखा होगा। अन्यथा कमसे कम इतना तो लिखते कि- "तत्सवितुरित्यादि गायत्री-महामन्त्रः तस्या इयमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते।" उत्तरपक्षमें यह भी कहा जा सकता है कि बाल्यकालसे ही मन्त्रोपदेश प्राप्त होनेसे अर्थ जिज्ञासा बनती ही है। अनुबन्ध कथन तो ग्रन्थप्रवृत्ति-प्रयोजक-जिज्ञासोत्पादनार्थ है। वह संपन्न हो चुका है। अतः उसे दिखाना अति उपयोगी नहीं है। परंतु इसमें एक शंका ऐसी होती है कि बीचमें "अथ सर्वदेवात्मनः सर्वशक्तेः सर्वावभासकतेजोमयस्य परमात्मनः सर्वात्मकत्वप्रतिपादकगायत्रीमहामन्त्र-स्योपासनाप्रकारः प्रकाश्यते। तत्र गायत्रीं प्रणवादिसप्तव्याहृत्युपेतां शिरःसमेतां सर्ववेदसारमिति वदन्ति एवंविधा गायत्री प्राणायामैरुपास्या "इसे बीचमें क्यों पढ़ा गया है? मानो कि ग्रन्थ यहांसे प्रारम्भ हो रहा हो। एक गायत्री पुरश्चरण पद्धति भी श्रीमच्छङ्कराचार्यकृतिके रूपमें पूनासे मुद्रित हुई है। उसमें भी- "अर्थं विना प्राणायामफलं न स्यात् योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते इति वचनात्" ऐसा पढ़कर फिर- "अथ सर्वदेवतात्मनः सर्वशक्ते;" इत्यादि यहां का ही पाठ दिया गया है। कुछ फरक प्रथम वाक्योंमे है। बादमें अर्थ करते समय काफी अन्तर भी किया गया है। वहां

तद्यथा बोलकर अथसे नवीन प्रारंभ नही हो सकता ।कन्तु कहीका उद्धरण दिया उसे स्ववाक्यसे मिलाया ऐसा लगता है। क्या यह पूर्वमें स्वयं व्याख्यातका उद्धरण है या अन्य कुछ? यह संशय होता है। प्रकृतमें बीचमें उपासना प्रकारके प्रकाशनकी प्रतिज्ञा की जा रही है तो प्रारम्भमें गायत्री व्याख्यानकी प्रतीज्ञा क्यों नहीं की? गायत्री पुरश्चरण पद्धतिमें अन्त में कुछ विलक्षण श्लोक हैं।

इति श्रीशंकराचार्यभगवद्भिः प्रकाशिता ।
गायत्रीपद्धतिः शुद्धसंप्रदायाद् द्विजन्मनाम् ॥
हिताय ब्राह्मणानां च ब्रह्मचर्यसमृद्धये ।
लिखित्वा पूजयेदेनां सोऽपि सिद्धिमवाप्नुयात् ॥

स्वयं शंकराचार्य अपने लिये भगवद्भिः इत्यादि विशेषण लिख गये यह नही जचता। पुष्पिकामें-"इति श्रीमदाचार्यशंकरगुरुविरचिता" लिखा है। ये शंकरगुरु कोई और ही है या शंकरभगवत्पाद ही? आचार्यका शिष्य कोई लेखक जैसे आचार्य बोलते गये वैसे लिखता गया। अन्तमें ये श्लोक और पुष्पिका अपनी ओर से जोड़ दिये। बीचमें "अथ सर्वदेवतात्मनः" इत्यादि अन्य भाष्यसे उठाकर लिख दिया। ऐसा है क्या? यह भी एक संशय होता है कि "अथ सर्वदेवात्मनः "यहींसे भाष्य प्रारंभ है क्योकि शुद्ध गायत्रीकी व्याख्या पुनः यहांपर की गयी है। किन्तु सायणानुसार इसका पूर्व भाग आचार्यकृत ही है।

जो भी हो व्याक्या अति गम्भीर है यह अध्येता को स्पष्ट प्रतीत होगा ही। हमने तो इसे आचार्यकृति स्वीकार कर पूर्वापर संगति बैठाते हुए व्याख्या करनेका प्रयास किया है। परंतु इस शर्त के साथ कि दूसरा कोई शुद्ध प्रामाणिक पाठ मिल जायेगा तो समुचित परिवर्तन आगे किया जायेगा। "आचार्याः कृत्वा न निवर्तन्ते" यह वचन मुझपर लागू नहीं होगा।

विवरण तथा वार्तिक

भाष्य अति गम्भीर होनेके कारण आशय समझनेके लिये प्रथम एक विवरण लिखा गया। यद्यपि उसमें कुछ ऊपरका भी विचार है तथापि अधिकतर भाष्याशय अभिव्यक्त करनेका ही प्रयत्न किया है। वार्तिकमें

कुछ ऊहापोह भी किया गया है। साथ ही गायत्री वेदजननी है ऐसी जो प्रसिद्धि है उसकी सार्थकताकी ओर भी ध्यान खींचा गया है।

गायत्री मन्त्रकी उपासना करनेका अधिकार किसको है इसपर थोड़ी लम्बी चर्चा वार्तिकमें की गयी है। प्राचीन मींमांसक मूख्यरूपसे तीन हुए। वैसे तो अन्य भी अनेकानेक मीमांसक ऋषि हुए किन्तु बादरि, जैमिनि और बादरायण ये तीन मुख्य हुए। बादरि हमेशा पूर्वपक्षमें ही दिखाये गये हैं। उनका स्वतंत्र कोई ग्रन्थ अभीतक प्राप्त नहीं हुआ है। पूर्वपक्षके रूपमें जैमिनि और बादरायणने उनका नाम लिया है। जैमिनि और बादरायण दोनों उत्तरपक्षमें रहते हैं। प्रायः दोनोमें एकमति है। कहीं-कहीं विरोध भी है। बादरि ऋषि पूर्वमें हुए यह निश्चित है। उनके सिद्धान्तसे चारों वर्णों को उपनयन, अध्ययन, अग्न्याधान, यज्ञादि, उपासना एवं ज्ञानमें अधिकार है। जैमिनि और बादरायण दोनों ऋषि इनके प्रतिकूल रहे। वे त्रैवर्णिक द्विजको ही इन सबमें अधिकार मानते हैं। स्त्री और शूद्रको उपनयन एवं अध्ययन आदि में अधिकार नहीं है यही उनका कहना है। दोनोंका मत हमने वार्तिकमें दिखाया है। यद्यपि वार्तिकमें अपने सिद्धान्त का स्पष्ट निर्देश नहीं किया है किन्तु वर्तमान परिस्थितिके अनुसार विचार किया जाये तो बादरि मत ही सुसंगत लगता है। बादरिके अनुसार वर्णाश्रमधर्मकी रक्षा सुगम है। आज सनातनियोंमें जो बिखराव आया है, वर्णाश्रमधर्मकी जो अवहेलना होने लगी है या हो गयी है। उसका मूल कारण अत्यधिक विषमता और ऊँच-नीच भाव ही है। प्रजातन्त्रमें कोई भी अपनेको नीच स्वीकार नहीं कर सकता। जातिभेद तो हर देशमें है। वह तो हट नहीं सकता। किन्तु भारी विषमताका परिणाम यही होगा कि जाति विभाग ही समाप्त होगा। प्रजा अधिक मतसे जिस पक्षमें होगी वही स्थायी होगा। यद्यपि तार्किक तर्क कर सकते हैं कि हजार उल्लू मिलकर सूर्यका अभाव सिद्ध करें तो क्या सूर्यका अस्तित्व मिट जायेगा? इत्यादि। परंतु यह केवल तर्क मात्र होगा। अनुभव तो विपरीत चल रहा है। शास्त्रीय रीति का पूर्ण परिपालन करनेवाला आज कहीं है या नहीं यही सन्देह अब सामने आ चुका है। फिर बादरि जैसे ऋषियोंने अपने समयमें अपना सिद्धान्त तो चलाया ही होगा जिसको उखाड़नेके लिये जैमिनि एवं बादरायण जैसे धुरन्धर महारथियोंको अपनी सारी ताकत लगानी पड़ी।

बल्कि बादरायण राजगुरुके रूपमें प्रसिद्ध हुए राजसहायसे भी उन्होंने अपना सिद्धान्त फैलाया होगा। यह विषमता न होती तो सभी जातिवाले अपनी गौरव-गाथा बनाकर स्वीय जातिधर्ममें निष्ठा रखते हुए वैदिक सिद्धान्तकी रक्षा करते। और पूरा भारत एकजुट हो जाता। अर्थात् वैदेशिक आक्रमणका मिलकर मुकाबला करता। आचार्य शंकरने भी वर्णविभाग मानते हुए ही गौरवलाघवका कारण मनुष्यकी योग्यताको ही मनीषा पञ्चकमें "चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम" कहकर स्पष्ट किया। "चाण्डालोऽस्तु द्विजोऽस्तु" इस अंशसे वर्णविभाग दिखाया। गुरुः कहकर ज्ञानको गौरवका कारण बताया। जो लोग यहाँ भी यह कहते हैं कि वहां संमुख आये हुए चाण्डालवेषधारी भगवान् विश्वनाथ ही थे अतः गुरुत्व माना। परंतु यह तो तोड-मरोडकी कुशलताका प्रदर्शनमात्र है। यदि यही बात है तो "चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु" यह विकल्प दिखाने की क्या जरूरत थी? अभिज्ञापक्षमें भी विश्वनाथजी को पहचानते हुए विश्वनाथ भगवान्के संमुख "चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरिति" कहकर अपना यथार्थ हृदय ही सामने रखा यही तात्पर्य सरलतासे सब कोई समझ सकते हैं। क्या आचार्य विश्वनाथ बाबाके सामने मन में कुछ रखकर वाणी से अन्य कुछ कह गये ऐसी कल्पना करना शोभास्पद है?

"मुरारेस्तृतीयः पन्थाः" के उदाहरणात्मक अन्य कतिपय मनीषियोंका कहना है कि मनीषापञ्चक जैसे छोटे-मोटे सैकड़ों ग्रन्थ आचार्यके नामसे अन्य व्यक्तियोंने ही लिख डाले हैं। चाहे वे शंकराचार्यपीठोपविष्ट अन्य शंकराचार्य हों या शंकराचार्यनामसे ग्रन्थ लिखकर अपना नाम छिपानेवाले हों। किन्तु इन सब बातोंमे कोई तथ्य नहीं है। क्योंकि शंकराचार्य पीठस्थ शंकराचार्योंका अपना-अपना नाम अलग था। उन्ही नामोंको पुष्पिकामें लिखकर वे ग्रन्थ पूर्ण करते थे। आचार्यपीठस्थ ऐसा जाली काम करते रहे इत्यादि कल्पना उन्हीं के लिए शोभा देती है जो ऐसा काम स्वयं करते हैं, जाली काम करनेके आदि हैं। अस्तु। अतएव प्रकृत गायत्री भाष्यके बारेमें भी इस प्रकार का पूर्वपक्ष करनेवालोंको मेरा यही उत्तर रहेगा। जबतक दृढ़तर विपरीत प्रमाण उपस्थित नहीं होता तबतक ऐसे तर्कोंको मान्य करना अनुचित ही होगा।

ज्ञानमें अधिकार शुद्रादिको है या नहीं इस विषयमें भाष्यकार शंकराचार्यका मत स्पष्ट है। ब्रह्मसूत्र भाष्यमें अपशूद्राधिकरणमें शूद्रोंको ज्ञानमें अधिकार विदुरधर्मव्याधादिके दृष्टान्तसे उन्होंने सिद्ध किया जब कि रामानुजाचार्य माध्वाचार्यादि अन्य सभी भाष्यकारोंने शूद्रका अनधिकार ही व्यासानुमत माना। किन्तु वेदाध्ययनके बारेमें शांकरमत क्या है यह अस्पष्ट सा है। अपशूद्राधिकरणकी अन्तिम पङ्क्तिमें वे यही कहते हैं कि "वेदपूर्वस्तु नाधिकार इति स्थितम्। "वेदपूर्वकज्ञानमें शूद्रोंको अधिकार नहीं है। यहां अन्तमें "स्थितं" शब्दका प्रयोग क्यों किया? कुत्र स्थितम्? यह प्रश्न उठेगा। शास्त्रेषु स्थितं अर्थ है तो यहां उसका उत्थापन आवश्यक नही था। यहां सन्दिग्धार्थनिर्णयार्थ अधिकरणका आरंभ है। स्थितं शब्दका सिद्धान्त अर्थ मानकर समाधान कर सकते हैं। ऐसा शब्दार्थ न होनेपर भी उस अर्थमें मीमांसक लोग स्थित शब्दका प्रयोग करते हैं। किन्तु उसका पर्यवसान तो वेदाधिकारमें ही होगा। और पूर्वमीमांसाके अपशूद्राधिकरणसे अधिक अर्थ नहीं लाया जा सकता। फिर ज्ञान वेदपूर्वक हो या अवेदपूर्वक हो। प्राप्त होनेपर क्या फरक पड़ता है? ज्ञानको ऐकान्तिक फल मोक्ष स्वीकार ही किया है। यह माना जाये कि "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार वेदोंके विना ज्ञान ही नहीं होता, तो विदुर-धर्मव्याधादिको ज्ञान और मोक्ष आचार्यने कैसे स्वीकार किया? ऐसी स्थितिमें वहां की सारी पक्तियां बेकार हो जायेंगी। यदि श्रद्धावादियोंके अनुसार यह माना जाये कि विदुर धर्मव्याधादिने पूर्वजन्ममें उपनिषदोंका अध्ययन किया था। उससे उनको अपरोक्षकल्प ज्ञान भी हो गया था। प्रारब्ध प्रतिबन्धसे पूर्णसाक्षात्कार नहीं हुआ। इस जन्म में पुस्तकावलोकनादिमात्रसे उन्हीं श्रुतियोंसे ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ, तो यह प्रश्न सामने आयेगा कि ऐसे फिर सभी जीव अनादि होनेसे असंख्य कल्पोंमें-जैसे एक कीडेने बताया था कि मैं कई बार इन्द्र बन गया हूँ, तदनुसार, सबने कई बार श्रुत्यध्ययन भी किया होगा। तब पुस्तकावलोकनादिसे श्रौतज्ञान सबको क्यों नहीं हो सकता? दूसरी बात- "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" इस श्रुति के अनुसार वर्तमान जन्म में ही गुरु अभिगमनकी आवश्यकता नहीं है क्या? इस ढंगके कई प्रश्न

सामने आ जाते हैं। और अपशूद्राधिकरण की सार्थकता दुरुपपाद होगी। अतः ऐसा लगता है कि भाष्यकारने स्थितगतिचिन्तनमात्र किया।

अनेक स्थानोंमें शूद्रादिको वेदमें अनधिकार भाष्योंमें झलकता है। किन्तु नृसिंहतापनीमें जहां स्पष्टतया प्रणवादि मन्त्रमें स्त्री एवं शूद्रको अनधिकार बताया वहां भाष्यकार लिखते हैं कि प्रणवादिकी परिगणना करनेसे नृसिंह मन्त्रमें स्त्री एवं शूद्रको भी अधिकार सिद्ध होता है। परंतु यह आश्चर्यकारी निरूपण है। नृसिंह मन्त्र भी उपनिषदन्तर्गत होनेसे वैदिक ही हुआ। उस वैदिक मन्त्र में स्त्रीशूद्राधिकार भाष्यकारने कैसे कहा? इस चर्चाको वार्तिक में उठाया है। दूसरी बात गायत्रीके भाष्यमें वरेण्य का ही कई बार सर्वैः संभजनीयं अर्थ किया है। भजन लिङ्ग प्रमाणसे गायत्री मन्त्रसे ही होगा। अर्थात् गायत्री मन्त्र भजन का अङ्ग है। तब भाष्यकारने 'सर्वैः' कैसे लिखा? इस बातको भी वार्तिकमें उठाया है। विशेष वहीं द्रष्टव्य है। सारांश यह है कि इस विषयमें भाष्यकारका मत स्पष्ट नहीं है। शायद उन्होंने विद्वानोंके विवेकपर ही इसे छोड़ दिया है। जहां जैसा प्रसंग आया वहां वैसी व्याख्या मात्र स्वयं ने की। अतः अब यह विद्वानोंकी जिम्मेदारी है कि वे अधिकारपर देशकालके अनुसार शास्त्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत करें।

गायत्री की व्याख्या हमने शांकरभाष्यानुसार ही प्रस्तुत की है। इस मन्त्रपर हमने एक बार पांच मासतक निरन्तर प्रवचन किया था। जिसके उपक्रमात्मक पांच भाषणोंको यहीं भूमिकामें प्रथम हमने लिख दिया है। लगभग डेढ़सौ भाषण है। उनका पुनः संपादन तथा मुद्रणादि श्रमसाध्य होनेसे हमने इस समय उस पर हाथ नहीं लगाया। यदि लोगोंकी विशेष अभिरुचि अभिव्यक्त हुई तब उस पर विचार किया जा सकेगा इतना ही इस समय कह सकते है इसके लिये भगवदादेशको ही मैं सर्वोपरि समझता हूं।

गायत्रीमन्त्रशांकरभाष्यम्

ॐ

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।

ॐ सविता देव ब्रह्मके संभजनीय उस ज्योतिका हम ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धिको प्रेरणा दें।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।

ओंकारार्थ सच्चिदानन्दरूप उस ब्रह्मके वरणीय तेजका हम ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धिको प्रवर्तित करता है।

ॐभूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यं
ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात्
आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् ।

ॐकारवाच्यार्थ ब्रह्मसे अभिन्न भू और वैसे ही भुवः स्व, मह, जन, तप एवं सत्य है, तत्स्वरूप सविताके सुप्रसिद्ध भजनीय ज्ञानज्योतिका हम ध्यान करते हैं जो सर्वव्यापक, सर्व-प्रकाशक, सर्वोत्कृष्ट, नित्यमुक्त, आत्मस्वरूप सच्चिदानन्दघन ॐकारार्थ ब्रह्मरूप है और जो हमारी बुद्धि को प्रेरणा देता है वही मेरा यथार्थ स्वरूप है। वही मैं हूँ।

ॐ = ॐ कारार्थ	भर्गः = तेजका
सवितुर्देवस्य = सूर्यदेवके (या)	धीमहि = हम ध्यान करते हैं
देवस्य = स्वयं प्रकाश	यः = जो
सवितुः = जगत्स्रष्टा ब्रह्मके	नः = हमारी
तत् = उस	धियो = बुद्धिको
वरेण्यं = वरणीय (संभजनीय)	प्रचोदयात् = प्रेरणा दें

* * * * * * * *

ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात् ।

यः सविता देवः नः—अस्माकं धियः कर्माणि धर्मादिविषया वा बुद्धीः प्रचोदयात्-प्रेरयेत्, तत् तस्य, सर्वासु श्रुतिषु प्रसिद्धस्य-देवस्य द्योतमानस्य, सवितुः—सर्वान्तर्यामितया प्रेरकस्य जगत्स्रष्टुः परमेश्वरस्य आत्मभूतं वरेण्यं-सर्वैरुपास्यतया ज्ञेयतया च संभजनीयं, भर्गः-अविद्या-तत्कार्ययोर्भर्जनाद् भर्गः-स्वयंज्योतिः परब्रह्मात्मकं तेजः, धीमहि तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहमिति वयं ध्यायेम।

यद्वा तदिति भर्गोविशेषणम्। सवितुर्देवस्य तत्-तादृशं भर्गो धीमहि। किं तदित्यपेक्षायामाह-यः इति। लिङ्गव्यत्ययः। यद् भर्गो धियः प्रचोदयादिति तद् ध्यायेमेति समन्वयः।

यद्वा यः सविता=सूर्यः धियः=कर्माणि प्रचोदयात्=प्रेरयति स तस्य सवितुः प्रसवितुः देवस्य द्योतमानस्य सूर्यस्य तत्सर्वैर्दृश्यतया प्रसिद्धं वरेण्यं=सर्वैः संभजनीयं भर्गः पापानां तापकं तेजोमण्डलं धीमहि= ध्यायेम मनसा धारयेम।

* * * * *

ॐ कारपदार्थ उस सूर्य भगवानके वरणीय तेजका हम ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धिको प्रेरणा दें।

जो सविता देव हमारी धी अर्थात् कर्मोंको या धर्मादिविषयक बुद्धियोंको प्रेरित करता है, समस्त श्रुतियोंमें प्रसिद्ध, प्रकाशमान, सबके अन्तर्यामीके रूपमें प्रेरणा करनेवाले जगत् स्रष्टा उस परमेश्वरके भर्गका अर्थात् अविद्या एवं उसके कार्य संसारका भर्जन करनेवाला होनेसे जिसको भर्ग बताया उस स्वयंज्योति परब्रह्मरूपी तेजका, जो मैं हूं वही वह है, जो वह है वही मैं हूं ऐसा ध्यान हम करते हैं।

अथवा 'तत्' यह भर्गका विशेषण है—सविता देवके उस भर्गका हम ध्यान करते हैं। किस भर्गका? इस अपेक्षामें यह इत्यादि (तृतीय पाद) है। नपुंसक लिङ्ग 'यत्' के स्थानमें यः ऐसा पुँलिङ्ग प्रयोग है। जो तेज धी को प्रेरित करता है उसका हम ध्यान करते हैं ऐसा अन्वय है।

अथवा जो सविता अर्थात् सूर्य, कर्मोंको प्रेरित करता है वही बुद्धिस्थ है। सबके जन्मदाता, प्रकाशमान, सूर्य के समान सर्वप्रत्यक्ष, प्रसिद्ध, सर्वसेव्य, सर्वपापापहारी उस भर्गनामक तेजोमण्डलका हम ध्यान करते हैं—अर्थात् मनसे धारण करते हैं।

यद्वा भर्गः शब्देनात्रान्नमभिधीयते। यः सविता देवो धियः प्रचोदयति तस्य प्रसादाद् भर्गोऽन्नादिलक्षणं फलं धीमहि धारयामः। तस्याधारभूता भवेमेत्यर्थः।

अथ सर्वदेवात्मनः सर्वशक्तेः सर्वावभासकतेजोमयस्य परमात्मनः सर्वात्मकत्वप्रतिपादकगायत्रीमहामन्त्रस्योपासनाप्रकारः प्रकाश्यते। तत्र गायत्रीं प्रणवादिसप्तव्याहृत्युपेतां शिरःसमेतां सर्ववेदसारमिति वदन्ति। एवं विशिष्टा गायत्री प्राणायामैरुपास्या।

सप्रणवव्याहृतित्रयोपेता प्रणवान्ता गायत्री जपादिभिरुपास्या।

तत्र शुद्धा गायत्री प्रत्यग्ब्रह्मैक्यबोधिका। धियो यो नः प्रचोदयादिति-नोऽस्माकं धियो बुद्धीर्यः प्रचोदयात्-प्रेरयेदिति सर्वबुद्धिसंज्ञाऽन्तःकरणप्रकाशकसर्वसाक्षी प्रत्यगात्मेत्युच्यते। तस्य प्रचोदयाच्छन्दनिर्दिष्टस्यात्मनः स्वरूपभूतं परं ब्रह्म तत्सवितुरित्यादिपदैर्निर्दिश्यते। तत्र "ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणास्त्रिविधः स्मृतः इति तच्छब्देन प्रत्यग्भूतं स्वतःसिद्धं परं ब्रह्मोच्यते। सवितुरिति सृष्टिस्थितिलयलक्षणस्य सर्वप्रपञ्चस्य समस्तद्वैतविभ्रमाधिष्ठानं लक्ष्यते। वरेण्यमिति सर्ववरणीयं निरतिशयानन्दरूपं

अथवा भर्ग शब्दसे यहां अन्न अर्थ समझना चाहिये। जो सूर्यदेव बुद्धिको प्रेरित करता है उसके प्रसादसे अन्नादिरूप भर्गको हम धारण करें। अर्थात हम अन्नादिके आधार (स्वामी) बनें।

अब सर्वदेवात्मक, सर्वशक्तिमान् सबके प्रकाशक, तेजोमय परमात्माकी सर्वात्मकताको प्रतिपादित करनेवाले गायत्रीमन्त्रकी उपासना जिस प्रकारसे हो उसे प्रकाशित किया जायेगा। यहां प्रथम यह ज्ञातव्य है कि ॐकारपूर्वक सात व्याहृतियोंसे सहित तथा "आपो ज्योती" इत्यादि शिरसे युक्त गायत्री सर्व वेदोंका सार है ऐसा शास्त्र कहते हैं। ऐसी विशिष्ट गायत्रीकी प्राणायामोंसे उपासना करनी चाहिये। तथा ॐकारसहित भूर्भुवः

स्वः इन तीन व्याहृतियोंके सहित तथा अन्तमें ॐकारसहित गायत्रीकी जपादिसे उपासना करें।

इसमें जो शुद्ध गायत्री है वह प्रत्यगात्मा और ब्रह्मकी एकताका बोध कराती है। "धियो यो नः प्रचोदयात्" से हमारी बुद्धिको जो प्रेरित करें यह कहती हुई सबकी बुद्धिरूपी अंतःकरणके प्रकाशक सर्वसाक्षी प्रत्यगात्माका प्रतिपादन करती है। प्रचोदयात् इस शब्दसे निर्दिष्ट उस आत्माके स्वरूपभूत परब्रह्मका "तत्सवितुः" इत्यादि पदोंसे निर्देश करती है। इसमें "तत्" पदसे "ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणः" इस गीतावचन के अुसार प्रत्यक् तत्त्व स्वतः सिद्ध परब्रह्मको कहती है। "सवितुः" से सृष्टि स्थिति एवं लययुक्त संपूर्ण प्रपञ्च एवं समस्त द्वैत भ्रान्तिके अधिष्ठानको लक्षित करती है। "वरेण्यं" से सर्ववरणीय निरतिशय आनन्दरूप,

भर्ग इत्यविद्यादिदोषभर्जनात्मकज्ञानैकविषयत्वं, देवस्येति सर्वद्योतनात्मकाखण्डसदेकरसम्। सवितुर्देवस्येत्यत्र षष्ठ्यर्थो राहोः शिरोवदौपचारिकः।

सर्वदृश्यसाक्षिलक्षणं यन्मे स्वरूपं तत् सर्वाधिष्ठानभूतं परमानन्दं निरस्तसमस्तानर्थरूपं स्वप्रकाशचिदात्मकं ब्रह्मेत्येवं धीमहि, ध्यायेम। एवं सति सह ब्रह्मणः स्वविवर्तजडप्रपञ्चेन सह रज्जुसर्पन्यायेनापवादे सामानाधिकरण्यनिरूप्यैकत्वन्यायेन सर्वसाक्षिप्रत्यगात्मनो ब्रह्मणा सह तादात्म्यरूपमेकत्वं भवतीति सर्वात्मकब्रह्मबोधकोऽयं गायत्रीमन्त्रः संपद्यते।

सप्तव्याहृतीनामयमर्थः—भूरिति सन्मात्रमुच्यते। भुव इति सर्वं भावयति प्रकाशयतीति व्युत्पत्या चिद्रूपमुच्यते। स्वरिति सुव्रियत इति व्युत्पत्या सुवरिति सुष्ठु सर्वैर्व्रियमाणसुखस्वरूपमुच्यते। मह इति महीयते पूज्यत इति व्युत्पत्या सर्वातिशयत्वमुच्यते। जन इति जनयतीति जन इति सकलकारणत्वमुच्यते। तप इति सर्वतेजोरूपत्वं, सत्यमिति सर्वबाधारहितम्। एतदुक्तं भवति-लोकस्वरूपं तदोंकारवाच्यं ब्रह्मैवात्मनोऽस्य। सच्चिद्रूपस्वभावादिति। अथ च भूरादयः सर्वलोका ॐकारवाच्या

* * * * *

"भर्गसे" अविद्यादि दोषोंको भूंजनेवाला ज्ञानमात्रका विषयत्व तथा 'देवस्य' से सबको प्रकाशित करने वाला अखण्ड चिन्मात्रस्वरूप लक्षित होता है। "सवितुः भर्गः" यहां अभेदमें षष्ठी है। जैसे 'राहोः शिरः' इत्यादि स्थलमें।

संपूर्ण दृश्योंका साक्षी जो मेरा स्वरूप है वह सबका अधिष्ठान है, परमानन्द है, सर्व अनर्थरहित है, स्वप्रकाश चैतन्य ब्रह्म है ऐसा हम ध्यान करें। इससे शबलब्रह्मका स्वविवर्त जड प्रपञ्चके साथ रज्जुसर्पन्यायसे बाध होनेपर सामानाधिकरण्यसे जैसे एकत्व प्राप्त होता है वैसे यहां सर्वसाक्षी प्रत्यगात्माका ब्रह्मके साथ तादात्म्यरूप एकत्व (आर्थिक सामानाधि-करण्यसे) होता है। इस प्रकार यह गायत्री मन्त्र सर्वात्मक ब्रह्मका बोधक संपन्न होता है।

सात व्याहृतियोंका अब अर्थ देखिये। 'भू सत्तायां' का रूप होनेसे भूः का 'सत्' अर्थ है। भावन प्रकाशन होनेसे उस व्युत्पत्तिसे भुवः का अर्थ चिद्रूप होता है। सु व्रियते इस विग्रहसे प्रथम सुवर् शब्द होता है। 'उ' का लोप करनेपर स्वर् होता है। सब लोग जिसको चाहें वह सुख ही स्वर् का अर्थ है। मह धातुका पूजा अर्थ है। अतः महः का पूजनीय अर्थ होता है पूजनीय वही है जो सर्वातिशायी हो। अतः महः का तात्पर्यार्थ सर्वातिशायी है। जन्म देनेवाला जन कहलाता है अतः जनः का सर्वकारण अर्थ निकलता है। तपानेवाला तेज होता है। अतः तपः से सर्वतेजस्वरूप अर्थ प्राप्त होता है। सत्यं का अर्थ है समस्त बाधाओंसे रहित। फलतः व्याहृतियोंके साथ यह अर्थ अवगत होता है—भूः आदि लोकोंका वास्तविक स्वरूप जो ॐकार वाच्यार्थ है।

ब्रह्मात्मका न तद्व्यतिरिक्तं किंचिदस्तीति व्याहृतयः सर्वात्मकब्रह्म-बोधिकाः

गायत्रीशिरसोऽप्ययमेवार्थः। आप इति व्याप्नोतिति व्युत्पत्त्या व्यापकत्वमुच्यते। ज्योतिरिति प्रकाशरूपत्वं, रस इति सर्वातिशयत्वम्, अमृतमिति मरणादिसंसारनिर्मुक्तत्वम्।

सर्वव्यापि सर्वप्रकाशकत्वं सर्वोत्कृष्टनित्यमुक्तत्वमात्मरूपं सच्चिदा-नन्दात्मकं यदोंकारवाच्यं ब्रह्म तदहमस्मीति गायत्रीमन्त्रस्यार्थः।

गुहाशये ब्रह्महुताशनेऽहं-कर्तेदमंशाख्यहविर्हुतं सत् ॥१॥
विलीयते नेहमहं भवामीत्येष प्रकारस्त्वभिधीयतेऽत्र ।
यदस्ति यद्भाति तदात्मरूपं, नान्यत्ततो भाति न चान्यदस्ति ।
स्वभावसंवित्प्रतिभाति केवला, ग्राह्यं ग्रहीतेति मृषैव कल्पना ॥२॥

* * * * *

वही स्वरूप ब्रह्म आत्माका भी स्वरूप है। क्योंकि आत्मा भी स्वभावतः सत् चित् स्वरूप है। और भूरादि सभी लोक ॐकारका वाच्यार्थ ब्रह्मस्वरूप होनेसे उससे अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है। अतः व्याहृतियां सर्वात्मक ब्रह्मबोधक हैं।

ऐसा ही गायत्री शिर (आपो ज्योति रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्) का भी अर्थ है। आप धातुका व्यापक भी अर्थ होनेसे यहां व्यापकत्व विवक्षित है। ज्योतिसे प्रकाशरूपत्व, रसः से सर्वातिशायित्व, अमृतं से मरणादिरूप संसारसे मुक्तत्व अर्थ विवक्षित है। मिलाकर अर्थ यह है कि सर्वव्यापक, सर्वप्रकाशक, सर्वोत्कृष्ट, नित्यमुक्त, सत्, चित्, आनन्द जो आत्माका स्वरूप है जो कि ॐकारका वाच्य है वह मैं हूँ।

बुद्धिरूपी गुहामें शयन करनेवाले ब्रह्मरूपी अग्निमें 'अहं कर्ता' इस ज्ञानमें स्थित इदमंशरूपी हविष का हवन किये जानेपर वह अंश स्वयं विलीन हो जाता है, वह इदमंश (कर्तृता) मैं नहीं ऐसा प्रकार इस गायत्री मन्त्रमें बताया गया है।

जो अस्ति है, जो भाति है (है, भासित हो रहा है) वह आत्मस्वरूप ही है। आत्मासे अन्य कोई भासता नहीं और है भी नहीं। स्वरूपज्ञान ही केवल भासित होता है। उसीमें यह ग्राह्य है, यह ग्रहण करता है ऐसी कल्पना होती है जो मिथ्या है।

गायत्रीमहामन्त्रः तदीयं शांकरभाष्यं
तस्य जयमङ्गलीयं विवरणं च
ॐ

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

जयमङ्गलीयं भाष्यविवरणम्

नमामि परया भक्त्या गायत्रीं वेदमातरम् ।
लभते मनुजः श्रेयो यदर्थपरिचिन्तनात् ॥१॥
नमामि भगवत्पादं भाष्यकारं जगद्गुरुम् ।
आविश्चकार गायत्र्या रहस्यं यः कृपावशात् ॥२॥
तदीयभावबोधार्थमतिसंक्षेपतो मया।
प्रस्तूयते विवरणं विस्तरो वार्तिके स्थितः ॥३॥
भाष्याकूतमुपादाय भाष्यगीरेव भूष्यते ।
गाङ्गं जलं समुद्धृत्य यथा गङ्गैव पूज्यते ॥४॥

अथ भगवान् भाष्यकारः सर्वलोकानुदिद्धीर्षुर्गायत्रीम् एवाऽऽबालसुलभामुपलभमानः तस्या उपासनादिहेतुतया सविशेषपरत्वं तत्त्वबोधहेतुतया निर्विशेषपरत्वं च व्याख्यास्यन् प्रथमं निर्गुणसगुणभेदभिन्नोपासनाविषये निर्गुणोपासनपरमर्थमाह-य इत्यादि। ननु शिष्टाग्रणीर्भगवान् भाष्यकारः कथं न मङ्गलाचरणमकार्षीदिति चेद्। उच्यते। गायत्रीमन्त्रमिमं पठित्वैव व्याख्यां कर्तुमारब्ध, भाष्यकार इति तस्यैव मङ्गलाचरणत्वान्न पृथङ्मङ्गलमाचरत्। तदिति यत्पदनिर्दिष्टार्थपरामर्शकत्वात् प्रथमं यत्पदार्थं योजयंति-यः सवितेति। उक्तं च याज्ञवल्क्येन—

तच्छब्देन तु यच्छब्दो बोद्धव्यः सततं बुधैः ।
उदाहृते तु यच्छब्दे तच्छब्द उदितो भवेत् ॥ इति ।

ननु तदिति नपुंसकप्रयोगो भाति। न च वक्ष्यमाणरीत्या सवितृविशेषणत्वात्पुंस्त्वमेवेति वाच्यम्। सवितृपदस्य नपुंसकप्रयोगसत्त्वात्।

तथा च कथं यत्तदर्थसामानाधिकरण्यमत आह देव इति। देवशब्द-स्याजन्तस्य नित्यपुंस्त्वात्तद्विशेषणयोस्तत्पदसवितृपदयोरपि पुंस्त्वाद् यत्तदोः सामानाधिकरण्यमुपपद्यत इति भावः। अन प्राणने प्राणनकर्ता देव इत्यादिकुसृष्टिर्मा भूदिति स्पष्टार्थं व्याचष्टे-नोऽस्माकमिति। कर्मनामसु धीशब्दपाठदर्शनाद् व्याचष्टे-धियः कर्माणीति। यज्ञादिकर्माणीत्यर्थः।

ननु कथं कर्मणां प्रेरणं? तेषां जडत्वाद्, अनिष्पन्नानामप्रेर्यत्वाद् निष्पन्नानां प्रेरणावैयर्थ्यात् तत्प्रयुक्तातिशयासंभवात्। न च नः प्रचोदयादित्यन्वयः। सम्बन्धसामान्ये षष्ठीमादायाऽस्माकमिति भाष्यमुप-पद्येत। द्वितीयान्तमेव वा तदस्त्विति वाच्यम्। धिय इत्यस्यानन्वयापत्तेः। धियो यज्ञादिकर्मणः संपादनाय नोऽस्मान् प्रचोदयादिति व्याख्या त्वध्याहारादिक्लेशकारित्वादुपेक्ष्येति चेन्न। कर्मेत्यनेन कर्मशक्ति-विवक्षणात्। कर्मशक्तयश्च विद्यमाना एव भगवत्प्रेरिताः शुभकर्माणि निष्पादयन्तीति युक्तं तत्प्रेरणम्। ननु "एष एव साधु कर्म कारयति यानेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति, एष उ ह्येवासाधु कर्म कारयति यानधो निनीषती"ति श्रुतेर्भगवत्प्रेरितस्यैवासाधुकर्मकारित्वमपीति कथं यज्ञादि-कर्ममात्रप्रेरकत्वमिति चेन्न। प्रार्थ्यमानतया फलतः साधुकर्मकारकत्वेनैव विवक्षितत्वात्।

ननु नात्र प्रार्थना गम्यते यत्पदेनानुवादस्यैव प्रतीतेः तथा च सर्वकर्मप्रेरकत्वेनैव सविता देव उपतिष्ठत इति चेन्न। एवमपि सर्वकर्मप्रेरको यो देवस्तं धीमहीत्युपास्यमानत्वेन रूपेण कथनादर्थतः सत्कर्मप्रेरकत्वं तत्प्रार्थना वा लभ्यत एव। अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यापत्तेः। सर्वसमर्थं त्वां प्रणमामीत्युक्तौ रक्षणं कुर्वित्येव व्यङ्ग्यार्थो न तु मारणं कुर्विति।

परे तु कर्माणीत्यस्य कर्मेन्द्रियाणीत्यर्थः।

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥

इत्येवं कर्मेन्द्रियप्रयोजकत्वेन भागवताद्युक्तेः। न च निघण्टौ कर्मशब्दः क्रियात्मककर्मपरक एव। तथाच धीपदस्य कर्मपरकत्वं, पुनः कर्मेन्द्रिया-

दिपरकत्वमित्यतिक्लेश एवेति वाच्यम्। प्रचोदनसमवधानेन तदुपस्थितावतिक्लेशविरहात्।

इत एव वाऽरुचेः पक्षान्तरमाह-धर्मादिविषया वा बुद्धीरिति। अयं भावः-धीपदस्य न कर्मणि रुढिः। किन्तु चिन्तनाद्यर्थकत्वमेव। "ध्यै चिन्तायामिति" स्मृतेः। कर्मार्थकत्वं तु लक्षणयापि भवितुमर्हति। "यो यत्क्रतुर्भवति स तत् कर्म करोतीति" श्रुतेः क्रतुपदार्थसंकल्पात्मकधीप्रयुक्तत्वात्कर्मणाम्। न चैवं धीपदस्य "धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः" इति कोशाद् बुद्ध्यर्थकत्वाद् बुद्धेश्चैकत्वाद् धिय इति बहुवचनं नोपपद्येतेति वाच्यम्। धर्मादिविषयभेदेन वृत्तिभेदात्तमुपादाय बहुवचनोपपत्तेः। न इति बहुवचनाद् बुद्धीनामपि बहुत्वाच्च।

अत्रापि धर्मादिविषयकत्वेन बुद्धीः प्रेरयेदिति वा धर्मादिविषयिण्यो यथा स्युस्तथा बुद्धीः प्रेरयेदिति वा फलितार्थः। स प्राग्वदुपपादनीयः।

अत्रैवं विविच्य व्याख्येयम्। यथा सत्पुरुषा अविचारयन्तोऽपि कर्माणि कुर्वाणाः स्वभावतः शोभनकर्माण्येव कुर्वते तथा मदीयाः कर्मशक्तीः कर्मेन्द्रियाणि वा स एवं प्रेरयेत् यथा ताः तानि वा सत्कर्मस्वेव प्रवर्तेरन्। अथवा स्वाभाव्येन धर्मादिविषया एव बुद्धिवृत्तय उत्पद्येरन्निति। धर्मादीत्यादिना धर्मार्थकाममोक्षाणां सर्वेषां संग्रहः। तथाचोक्तं याज्ञवल्क्येन-

"धियो यो नः प्रचोदयात्। धर्मार्थकाममोक्षेषु बुद्धिवृत्तीः पुनः पुनः" इति।

वस्तुतस्तु भाष्ये वाकारः समुच्चयार्थः। तथा च धियः कर्माणि धर्मादिविषयाबुद्धीश्चेति कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि चेत्यर्थः। इन्द्रियपदानुपादानात् कर्मपदेन प्राणानामपि ग्रहणं, बुद्धिपदेनान्तःकरणस्यापि ग्रहणम्। तथा सति हस्तचरणादिना सार्धं "श्रवणत्वगादीन् प्राणान्नम" इति भागवते श्रवणादेरपि ग्रहणमुपपद्यते। तत्रादिपदेनावशिष्टसमस्तग्रहणम्। "श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मन" इत्यादिश्रुतेश्च। भाष्ये धर्मादिविषया इति प्रागुक्तरीत्या फलितार्थकथनमेव। एवं सत्यत्र सर्वेन्द्रियप्रवर्तकतया त्वंपदार्थलाभ इति भाष्याशयः।

प्रचोदयादिति 'चुद प्रेरणे' धातोर्णिजन्ताद् लिङर्थे लेटि लेटोऽडाटौ इत्याटि इतो लोपे रूपम् इत्याशयेन व्याचष्टे-प्रेरयेदिति। प्रेरणं प्रवर्तनम्। तच्च सर्वान्तर्यामित्वादिति स्पष्टीभविष्यति।

एवं तत्पदपरामृश्यार्थबोधनाय तृतीयपादं व्याख्याय प्रथमद्वितीय-पादौ व्याचष्टे-तदिति। अत्र तस्येत्यर्थे तदिति पदम्। सुपां सुलुगिति सूत्रेण षष्ठ्या लुक्। पदार्थमाह-प्रसिद्धस्येति। व्याख्यास्यमानसर्वान्तर्या-मिणो लोकप्रसिद्धिविरहाद् विशेषणं-सर्वासु श्रुतिष्विति। "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मा अन्तर्याम्यमृत" इत्युपक्रम्य "यः प्राणे वाचि चक्षुषि श्रोत्रे मनसि त्वचि विज्ञाने तिष्ठन्नित्येवं" बृहदारण्यके प्रसिद्धः। न चैवमन्तर्यामिश्रुतावेव प्रसिद्धिर्न तु सर्वासु श्रुतिष्विति वाच्यम्। तस्यैव बोधनाय नानाप्रकारेण श्रुतिषु वर्णनात्। तथा चाह भगवान् "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य" इति।

नन्वेवं तत्पदस्य प्रसिद्धार्थकत्वे यत्पदसापेक्षत्वं नास्ति। यथा 'तस्मै कृष्णाय नमः' इत्यादि। एवं च धियो यो न इति तृतीयपादस्य प्रथमं व्याख्यानमनुपयुक्तमिति चेन्न। यत्पदस्यात्र सत्त्वेन यत्तदोर्नित्य-सम्बन्धात्तदर्थमादायैव तत्पदार्थनिर्वचनौचित्यात्। [किंचित् प्रस्तुत्यैव प्रसिद्धार्थकतया तत्पदप्रयोगदर्शनाच्च। तथा प्रयोगे यत्पदस्यावश्यंभावात्। यथा नूतनजलधररुचये। गोपवधुटीदुकूलचौरायेति प्रस्तुतस्य प्रसिद्धतया तत्पदेन परामर्शस्तस्मै कृष्णाय नम इति। तद्दिव्यमव्ययं धामेत्यादौ तथा दर्शनादित्यप्याहुः]

अमरा निर्जरा देवा इति कोशवचनाद् देवपदं देवत्वजातिविशेष-विशिष्टे रूढम्। तस्य विशेषकं सवितुरिति स्यात् सवितृरूपो देव इति। युक्तं चैतत्। "देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः" इति तद्ध्यानादेः सफलत्वादित्याशङ्कायामेवंविधार्थसंभवेऽपि तस्याल्पफलत्वाद् गायत्र्याश्च वेदमातुर्महाफलत्वप्रतिपादनौचित्यात् सवितृपदस्य विशेष्यपरत्वं दर्शयिष्यन् तद्विशेषणतया देवपदं प्रथममुपादाय व्याचष्टे-देवस्य द्योतमानस्येति। स्वयंप्रकाशस्येत्यर्थः।

सवितृपदं यद्यपि सूर्ये रूढं तथापि वेदेषु यौगिकार्थतयापि बहुलं प्रयोगदर्शनादत्रापि तथा विधार्थग्रहणस्य वेदमातृत्वेनौचित्याद् "षू

प्रेरणे", षूङ् प्राणिप्रसवे इति धात्वोस्तृजन्तरूपलभ्यार्थमाह-प्रेरकस्य जगत्स्रष्टुरिति।

सविता सर्वभूतानां सर्वभावांश्च सूयते।
सवनात्प्रेरणाच्चैव सविता तेन चोच्यते। इति याज्ञवल्क्यः।

कथं प्रेरकत्वं? तत्राह-सर्वान्तर्यामितयेति। "यः पृथिव्यां तिष्ठान्नित्या" द्युपदर्शितश्रुतेरिति भावः। ननु यदि सविता न देवविशेषस्तर्हि कोऽसा-वित्यत आह-परमेश्वरस्येति। स एव जगत्स्रष्टा भवितुमर्हतीति भावः।

अत्र सवितुर्भर्ग इति षष्ठी न भेदे। किन्तु राहोः शिरइतिवन्म-मात्मेतिवच्चाभेदे एवेत्याशयेनाह-आत्मभूतमिति। तथाचोक्तं स्कान्दे सूतसंहितायां-

सवितुः स्वात्मभूतं तु वरेण्यं सर्वजन्तुभिः। इति

स्वात्मभूतं-स्वरूपभूतमित्यर्थः। अभेदान्वयफलितार्थकथनमिदम्। यत्तु आत्मभूतमित्यध्याहरणीयमिति। तन्न। अभेदे षष्ठ्या दर्शितत्वात्स्वयमप्यग्रे तथा व्याख्यास्यमानत्वाच्च।

अग्रे ज्ञानपक्षेऽक्षराणां योजयिष्यमाणत्वात्तत्र ज्ञेयतया संभजनीय-मिति व्याख्याया आवश्यकत्वाल्लाघवेनात्रैव ज्ञानोपासनोभयसाधारण-तया व्याचष्टे-सर्वैरुपास्यतया ज्ञेयतया च संभजनीयमिति। 'वृङ् संभक्तौ' इति धातोरेण्य प्रत्यये रूपमिदं संभजनीयार्थकं वरेण्यमिति। केन रूपेण संभजनीयमिति जिज्ञासायां यथाप्रसङ्गं ज्ञेयतयोपास्ययता चेति बोद्धव्यमिति भावः संभजनीयं संसेव्यं ग्राह्यम्। उपासनाप्रकारो वक्ष्यते।

ननु यदुपास्यतया संभजनीयं तदेव न ज्ञेयतयापि। सविशेषं ह्युपास्यं निर्विशेषं च ज्ञेयम्। न च यन्निर्विशेषं ज्ञानं तदेवोपास्यतां, यदि चोपासनायामुपासनाविषयतया विशेषत्वं तदा ज्ञानेऽपि ज्ञानविषयतया सविशेषत्वं समानं, यदि च ज्ञानविषयत्वोपलक्षितं ज्ञेयं तदोपासनावि-षयत्वोपलक्षितमेवोपास्यमिति समाना रीतिरिति वाच्यम्। अखण्डाकार-वृत्तिरूपज्ञानविषयतायां तेनाज्ञानतत्कार्यनिवृत्तौ ज्ञानविषयताया अपि निवृत्तेः स्वयंप्रकाशं शुद्धं ब्रह्म ज्ञानमित्युच्यते तदेव ततः प्राग् ज्ञेयमित्युच्यते। उपासनाविषयत्वमात्रेण तु नाज्ञानतत्कार्यनिवृत्तिरिति सविशेषमेवोपास्यतया सेव्यत इति चेद्? अत्रोच्यते। विशिष्ट-विषयकवृत्तेर्विशेषणविशेष्यात्मकखण्डद्वयाकारत्वावश्यंभावादखण्डाकार-

वृत्तिविषयत्वं निर्विशेषस्यैव वक्तव्यम्। तथा सति तादृशवृत्त्युद्भवसमनन्तरं तत्समानाकारवृत्तिप्रवाहात्मकोपासनापि संभवतीति कथं न ज्ञानोपासनयोः समानविषयत्वम्। न च ज्ञानात्मिका वृत्तिरपरोक्षरूपा, उपासनावृत्तिस्तु परोक्षात्मिकैव। परोक्षत्वं तु नात्मनः स्वतः। किन्त्वभानापादकावरणविषयत्वैनैवेति-तादृशावरणविषयब्रह्मविषयकोपासनावृत्तिर्नाखण्डवृत्तिरूपेति ज्ञानोपासनावृत्त्योर्न समानविषयकत्वमिति वाच्यम्। यतो नावरणविषयताविशिष्टविषयकत्वेनोपासनावृत्तेः परोक्षत्वं, किन्तूपासनात्मकवृत्तेर्ज्ञानानात्मकत्वेन तत्रापरोक्षत्वाभावमात्रं, तावतैव तत्र परोक्षत्वव्यवहारः। शब्दप्रमाणजन्यत्वेन ज्ञानस्यापरोक्षत्वं, तदनन्तरप्रयत्नजन्योपासनावृत्तेः पुरुषतन्त्रायाः प्रमाणाजन्यतया नापरोक्षत्वम्। ननु च तत्त्वमस्यादिवाक्यानां शतशः श्रवणेऽप्यपरोक्षसाक्षात्कारानुभवाभावाज्ज्ञानमपि प्रथमं जायमानं परोक्षमेव, अपरोक्षत्वे उपासनावैयर्थ्यापत्तेः। परोक्षत्वं च ज्ञानस्याभानापादकावरणविषयताविशिष्टिविषयकत्वादेव भवितुमर्हति। न चैवं तादृशमेव ब्रह्मोपास्यमपीति समानविषयकत्वं ज्ञानोपासनयोरागतमेवेति वाच्यम्। यतो न विशिष्टब्रह्मविषयकज्ञानं मोक्षसाधनं, "तमेवविदित्वा" इत्येवकारश्रवणादिति न विशिष्टं ब्रह्म ज्ञेयम्। तत्त्वमस्यादिवाक्यतः प्रथममपरोक्षज्ञानाभावेऽपि मनननिदिध्यासनसहकृतेनाऽपरोक्षं भवतीति तद्विषयभूतं ब्रह्म शुद्धमेव, तदेव ज्ञेयमिति न ज्ञानोपासनयोः समानविषयत्वमिति चेत्। अत्र केचित्। प्रथमं तावत् तत्त्वमस्यादिवाक्यैर्विशिष्टं ब्रह्मैव ज्ञेयं तदेव तर्ह्युपास्यं चेति समानविषयकत्वमुभयोरविप्रतिपन्नम्। पश्चादुपासनया निदिध्यासनेन शुद्धं ब्रह्म ज्ञेयं भवेन्नाम, परं न तद् वाक्यप्रतिपाद्यं, "यतो वाचो निवर्तन्त" इति श्रुतेः। किंतु स्वप्रकाशतयैव प्रकाशते, तावतैव ज्ञेयत्वव्यवहारः। प्रकृते तु प्राथमिकवाक्यजनितज्ञानविषयतामादाय भाष्ये ज्ञेयत्वमुक्तमित्युपास्यतया ज्ञेयतया च संभजनीयमेकमेवेति।

परे तु अपरोक्षार्थे परोक्षज्ञानानुपपत्तेः, तत्त्वमस्यादिवाक्यानामावरणविषयताविशिष्टब्रह्मबोधकत्वाभावाच्च, आवरणविषयत्वादिबोधकशब्दविरहेण शब्दजनितबोधे तदुपनयनस्यात्यन्तमसंभावितत्वाच्च तादृशवाक्यानां शुद्धब्रह्मविषयकापरोक्षज्ञानजनकत्वमेव स्वीक्रियते।

पुरुषापराधवशात्तु ज्ञानमपरोक्षमपि फलाजनकत्वेन परोक्षवदवतिष्ठते। तथा चोक्तं:

"पुरुषापराधमलिना धिषणा
निरवद्यचक्षुरुदयापि यथा।
न फलाय भर्च्छुविषया भवति
श्रुतिसंभवापि तु तथात्मनि धीः॥"

इति। इत्थं चोपासनादेः पुरुषापराधनिवारणार्थतया सार्थक्यमपि भवति। तादृशप्रथमज्ञानेनाखण्डाकारोपासनवृत्त्याऽऽवृत्त्या तदपराधविगमस्वीकारात्। इत्थं चोपास्यं ज्ञेयं चैकमेव तत्त्वमिति सर्वमुपपन्नमिति प्राहुः।

अन्ये त्वग्रे भाष्ये सगुणोपासनाया अपि स्पष्टं निरूपयिष्यमाणत्वाद् उपास्यतया ज्ञेयतया चेति सामान्यरूपेण लाघवादत्रैवाभिहितं विशिष्टशुद्धयोरत्यन्तभेदविरहाद् गायत्र्याश्च सर्ववेदसाररूपत्वादिति नात्रातिशङ्का कर्तव्येत्याचक्षते।

वस्तुतस्तु

"बुध्देर्बोधयिता यस्तु चिदात्मा पुरुषो विराट्।
सवितुस्तद्वरेण्यं तु सत्यधर्माणमीश्वरम्॥
हिरण्यवर्णपुरुषं ध्यायामो विष्णुसंज्ञकम्।
विशनात्सर्वभूतानां विष्णुरित्यभिधीयते॥
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तमेवं हि व्याप्य तिष्ठति।
पाषाणमणिधातूनां तेजोरूपेण संस्थितः॥
वृक्षौषधितृणानां च रसरूपेण तिष्ठति।
तन्मात्रभूतो भूतानां विश्वरूपेण संस्थितः॥
आदित्ये हृदये चैवं योऽग्नौ व्योम्नि तथा परे।
एक एव भवेदात्मा पञ्चधावस्थितस्तु सः।
एवं यो वेत्ति चात्मानमेकधा संप्रतिष्ठितम्।
ज्ञात्वा चोपास्यते सम्यक् सोऽमृतत्वाय कल्पते॥"

इति याज्ञवल्क्योक्तेर्बुध्देर्बोधयिता चिदात्मा साक्षिलक्षण एवेश्वररूपेण विराड्रूपेण हिरण्यगर्भरूपेणान्तर्यामिरूपेण तेजोरसगन्धादिरूपेण विभूत्यात्मना आदित्यादिस्थानस्थितरूपेणोपास्यतां भजत इति ज्ञेयत्वमुपास्यत्वं चोभयमुपपन्नमेव।

"भ्रस्ज पाके" इत्यस्माद् "अञ्च्यञ्जियुजिभृजिभ्यः कुश्च" इत्यौणादिकसूत्रेण 'असुन्' प्रत्यये कवर्गान्तादेशे च कृते भर्ग इति रूपम्। तत्र कस्य भर्जनमिति जिज्ञासां पूरयन् व्याचष्टे अविद्यातत्कार्ययोर्भर्जनादिति। तत्त्वमस्यादिवाक्यजनिताखण्डाकारवृत्तिव्याप्यचैतन्यमविद्यातत्कार्यभर्जकं भवति। तादृशवृत्त्युपलक्षितचैतन्यं त्विह विवक्षितम्। यथोक्तवृत्तिविशिष्टस्य ध्येयत्वविरहाद् वृत्तिविषयस्य च भर्जकत्वविरहाद् वृत्तेः स्वयंज्योतिष्ट्वविरहेण वृत्तिविशिष्टस्यापि तथात्वादभर्जकत्वादिति तदेवाह-स्वयंज्योतिरिति। किं तज्जोतिरिति जिज्ञासायामाह-परब्रह्मात्मकं तेज इति। परमपदेन विशिष्टव्यावृत्तिः। ब्रह्मात्मकमित्यनेन सूर्यतद्रश्मिवदपि नास्ति भेद इत्युक्तम्।

ध्यायतेरात्मनेपदित्वसंप्रसारणशब्लुकश्छान्दसा इत्याशयेन व्याचष्टे धीमहि ध्यायेमेति। ध्यानस्याकारमाह-योऽहं सोऽसावित्यादि। परस्परभेदव्यावृत्यर्थं परस्परगतपरोक्षत्व-परिच्छिन्नत्वादिनिवृत्यर्थं च परस्परोद्देश्यविधेयभावेन ध्यानम्। तथा च श्रुतिः-

"त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वा त्वमसि" इति।

एवं विधध्याननिराकृतापराधस्य परोक्षत्वपरिच्छिन्नत्वयोर्व्यावृत्त्या शुद्धब्रह्मसाक्षात्कारो भवतीति तत्त्वम्। "योऽसावादित्ये हिरण्मयः पुरुषः सोऽहमिति चिन्तयाम" इति भरद्वाजः।

सुपां सुलुगित्यस्याऽसामान्यत्वात् पदं विना पदार्थोपस्थित्ययोगेन लुप्तविभक्तिस्मरणे पदार्थोपस्थितिविलम्बप्रसङ्गात् कस्या विभक्तेर्लोप इत्यस्य दुरनुसन्धानत्वादेवंविधवर्त्मनोऽगतिकगतित्वाल्लक्षणाश्रयणे गौरवाच्च प्रकारान्तरेण तदिति पदं योजयति-यद्वा तदितीति। अत्र धियो यो न इत्यस्य प्रथममुपादानेऽसंजातविरोधित्वाद् य इति पुंस्येव गृह्येत तथा सति तत्पदस्य पुंस्त्वेन परिणामे तमिति स्याद्। सुपां सुलुगिति लुक्स्वीकारे प्रथमव्याख्यापेक्षयापि गौरवं स्याद् भर्ग इत्यस्यापि क्लेशेनान्वयनीयत्वादित्यतो यथापाठक्रममेव व्याख्यानमारभते-सवितुरित्यादि। ननु प्रथमव्याख्यायामपि तस्य सवितुरित्युक्ते कः स इति। जिज्ञासायां धियो यो न इत्यस्य योजनासंभवाद् पाठक्रमपरित्यागोऽनुचित इति चेन्न। सापेक्षव्याख्यानापेक्षयार्थक्रमेण व्याख्याया लघुत्वात्। अथवा नः इति पदसांनिध्यादहं ब्रह्मास्मीति महावाक्यानुसारी गायत्रीमन्त्र इति तथा

व्याख्या समादृता। तत्त्वमसीति महावाक्यानुसारित्वेन द्वितीया व्याख्येयं क्रियते। अथवा तत्पदस्य प्रसिध्दार्थकत्वेन कः स इत्याकाङ्क्षा नोत्थिताकाङ्क्षा, किन्तुत्थाप्याकाङ्क्षेति तत्रैवाधिकक्लेशः। द्वितीयव्याख्यायां तत्पदं न प्रसिद्धार्थकमिति किं तदित्युत्थिताकाङ्क्षाशमयितृत्वेन पाठक्रमानुसारिणी व्याख्या सुगमा। तदेतदाह-तत् तादृशमिति। प्रसिद्धयर्थव्यावृत्तये तादृशमित्युक्तम्। अत एव कीदृशमित्यपेक्षाया अप्रदर्शनेऽपि न क्षतिः। अथवा किं तदित्यस्य कीदृशं तद् भर्ग इत्यर्थकरणान्नानुपपत्तिः। धीप्रचोदनकर्तृत्वस्य प्रकारत्वात्। तथोत्ररत्र। ननु यदि तदर्थप्रतिपादकं यत्पदं तदा सामानाधिकरण्याद् यत्पदस्य नपुंसकलिङ्गत्वेन भवितव्यमित्यत आह लिङ्गव्यत्यय इति। "व्यत्ययो बहुलम्" इति पाणिनीयस्मरणादिति भावः। न चात्रा प्येवं पूर्ववद् गौरवमिति शङ्क्यम्। पूर्वत्र सम्बन्धबोधकषष्ठीविरहात् पदाध्याहारादिः कर्तव्यः स्यात्। नात्र पदाभावः। लिङ्गव्यत्ययस्तु स्मार्तत्वात् (स्मृत्युक्तत्वात्) न दोषावहः। सलिङ्गसमन्वयमभिनीय दर्शयति-यद् भर्ग इति।

ननु पूर्वव्याख्यायामपि न गौरवम्। तस्य सवितुरित्युक्तेऽपि तस्येति षष्ठ्याः सम्बन्धार्थकत्वविरहात्। अभेदेनैव तत्रान्वयात्। न च समानविभक्तिकयोरेव पदयोरभेदान्वय इति वाच्यम्। नीलकमलस्येत्यादौ। नीलपदोत्तरं षष्ठीविरहेणाभेदान्वयानापत्तेः। न चाऽसमासस्थले समानविभक्तिकत्वनियम इति वाच्यम्। शोभना लक्ष्मीः इत्यादौ सोर्लोपेन समानविभक्तिकत्वविरहादसमासत्वाच्च। न च शोभनोत्तरलुप्तसुविभक्तेः स्मरणात् समानविभक्तिकत्वमिति वाच्यम्। तत् सवितुरित्यत्रापि सुपां सुलुगिति लुप्तषष्ठीविभक्तिस्मरणं क्रियताम्। न च लुका लुप्तत्वान्न तत्स्मरणमिति वाच्यम्। परमे व्योमन्नित्यत्राभेदान्वयविरहापत्तेः। तत्र सप्तम्या लुका लुप्तत्वादिति चेद्। अत्राहुः-व्योमन्नित्यत्र "न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य" इति प्राप्तो लोपो" न ङि सम्बुद्धयोः" इति निषिध्यत इत तत्र सप्तमीस्मरणमवश्यंभावि। तत्सवितुरित्यत्र षष्ठीविभक्तेः स्मरणावश्यंभाविताविरहाद् दुर्घटोऽभेदान्वय इति। नीलकमलस्येत्यत्र न कमलपदोत्तरं षष्ठी। किन्तु नीलकमलपदोत्तरमिति नामार्थयोरभेदान्वयः। शोभना लक्ष्मीरित्यादौ न लुका लुप्ता विभक्तिः। शोभनं दधि, चारु

कुलमित्यादौ लुका लुप्तत्वेऽपि एकत्वादेरनुभवात् क्वचिल्लुका लुप्तस्यापि स्मरणं भवति। अत एव हे वारे, हे वारि इति रूपद्वयम्।

अन्ये तु एवं व्याख्यान्तरमपि भवितुमर्हतीत्याशयेन भाष्ये व्याख्यान्तरं दर्शितम्। न तु पूर्वव्याख्यायामस्वरसात्। अग्रे च सूर्यपक्षे व्याख्या यद्वेत्यादिना करिष्यमाणा न पुर्वत्रास्वरसप्रयुक्ता। न च सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयतीति वाच्यम्। पुरुषोच्चरितेषु तथा नियमस्वीकारेऽप्यपौरुषेयेषु तादृशनियमाऽप्रवृत्तेः। ब्राह्मणेषु मन्त्राणां भिन्नार्थप्रदर्शनदर्शनाद्। न च तत्राऽऽवृत्त्यैवार्थान्तरमिति वाच्यम्। इहापि क्रियतामावृत्तिः। क्रियते च जपादावावृत्तिरिति का तत्र परिदेवना।

एवं निर्गुणोपासनौपयिकं मन्त्रार्थं निरूप्य सगुणोपासनौपयिकतया तं निरूपयति-यद्वा य इति। सवितृपदमत्र प्रसिद्धस्वार्थकमित्याह-सविता सूर्य इति। सवितृमण्डलस्थो हिरण्यगर्भोऽत्र ग्राह्यः। तस्यैवोपास्यत्वाद्। अचेतनस्य मण्डलस्य फलदातृत्वायोगात्। न चाचेतनं कर्मेवोपासनमपि फलदं भविष्यति। कर्मस्थले कर्मतो भिन्न ईश्वर एव फलदायीत्युच्यते तदोपासनास्थलेऽपि उपासनातद्विषयमण्डलादिभिन्न ईश्वर एव फलदो भवत्विति वाच्यम्। उपास्यस्यैव फलदातृत्वेन प्रसिद्धत्वात्। प्रार्थ्यमान-त्वाच्च। अत्रापि धीप्रचोदनफलदातृत्वेन सूर्यः स्तूयते। ननु चोपास्य एव फलदातेति न नियमः। नहि मातृ पितृ गुरु प्रभृतय उपास्यमानाः स्वर्गादिफलं प्रयच्छन्ति, किन्त्वीश्वर एव। तथा चोक्तं भगवता "यो यो यां यां तनुं भक्त्या श्रद्धयार्चितुमिच्छति" इत्युपक्रम्य स्वस्य देवताद्यारा-धनफलदातृत्वं–

"स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥" इति ।

ततः=आराधनात्। न चैवमप्युपास्यं चेतनमेव भवितुमर्हतीति वाच्यम्। मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यादावचेतनस्यापि मनआदेरुपास्यत्वश्रवणात्। न च तत्रापि ब्रह्मण एव चिन्तनमिति ब्रह्मैवोपास्यं न तु मन इति वाच्यम्। एवं सति ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षादित्याधिकरणानुत्थानापत्तेः। ब्रह्मणि मनोदृष्टि-करणे मनस उपासना स्यादित्यचेतनत्वादेव मन उपासनाया अप्राप्तेरिति चेद्। अत्रोच्यते। यद्यपि च मनसि ब्रह्मणो, ब्रह्मणि मनसो वा दृष्टिः स्यात् सर्वथापि चेतनो विषयीभवत्येव। अत्र तु मण्डलोपासनायाम-

चेतनमात्रं विषयः स्यात्। तथाप्यचेतनस्याप्युपासनामभ्युपगम्य वदामः। "देवान् देवयजो यान्ति", "अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्" इति अल्पफलत्वादल्पमेधस्त्वेन निन्दितत्वाच्च गायत्र्या वेदमात्रा वेदप्रधानभूतया एवंविधोपासनापरत्वं न युक्तं कल्पयितुम्। अत्रापि धियो यो नः प्रचोदयादिति धीप्रचोदयितृत्वमचेतनस्य न संभाव्यते। तस्मात् सूर्यमण्डलस्थो हिरण्यगर्भ एवात्र ब्रह्मरूपेणोपास्य इष्यते। तथा च मन्त्रवर्णः—

"पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह
तेजो येत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि"

इति। अत्र च सूर्यस्यैव कल्याणतमं रूपं पुरुष इत्युक्तं सोऽहमिति च। हिरण्यगर्भ एव तत्र पुरुषः। तस्य ब्रह्मरूपत्वं सोऽहमित्यनेनोच्यते। न हि देवतान्तरेणैक्यं प्रत्यगात्मनः संभवति। अत्र पूर्वमन्त्रे हिरण्मयेन पात्रेणेत्यादौ पूषन्नित्युक्तत्वात्स एव पुरुष उत्तरमन्त्रेऽपि प्रतीयते। एतदेवाभिप्रेत्य योगरूढित्वं शब्दस्य सूचयन् योगार्थमपि दर्शयति-"सवितुः सर्वस्य प्रसवितुरिति। "षूङ् प्राणिप्रसवे" इति स्मरणात् प्राणिप्रसवनकर्तृत्वं नाचेतनस्य संभावितमिति हिरण्यगर्भश्चेतनोऽत्राभिप्रेत इत्याकूतम्।

ननु चानुपदमेव तत्पदस्य सर्वैर्दृश्यतया प्रसिद्धमित्यर्थो दर्शयिष्यते। न च हिरण्यगर्भः सर्वदृश्य इति अचेतनं मण्डलमेव दृश्यं सवितृपदार्थो भाष्याभिमत इति चेन्न। शरीरशरीरिभावमादाय चेतनेऽपि दृश्यत्वव्यवहारात्। यथा देवदत्तो यज्ञदत्तपिता पुरतस्तिष्ठन् दृश्यत इति। न हि तत्र शरीरमात्रमर्थः। तस्य पितृत्वासंभवात्। आत्मनश्चातीन्द्रियत्वात्। किन्तु शरीरशरीरिभावमादाय दृश्यत्वव्यवहारः। नन्वेवं शरीरविशिष्टदेवदत्तस्य पितृत्ववन्मण्डलविशिष्टस्यैव सवितृत्वमिति मण्डलस्य विशेषणतयोपास्यत्वादयं घट्टकुटीप्रभातवृतान्त एवेति चेन्न। यतो न वयं मण्डलस्योपासनाविषयत्वं व्यासेधामः। किन्तर्हि? मण्डलस्थतया हिरण्यगर्भोपासनां साधयामः। तथा चात्र सर्वस्य प्रसविता हिरण्यगर्भ एव। हिरण्यगर्भस्य च स्वोत्तरसर्वजगत्प्रसवितृत्वं प्रसिद्धम्। देवस्येति पूर्ववद् द्योतमानस्येत्यर्थकमित्याह-द्योतमानस्येति। अत्र तु भौतिकतेजोरूपेणापि द्योतमानत्वं विशेषः। तत्पदं पूर्ववत्प्रसिद्धार्थकम्। तत्र विशेषमाह-सर्वैर्दृश्यतयेति।

ननु दृश्यस्य भौतिकतेजसो ध्येयत्वं नास्तीति चेन्न। हिरण्य-गर्भादिशरीरत्वेन ध्येयत्वोपपत्तेरुक्तत्वात्।

"यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्"

इति भगवदुक्तेर्ध्येयत्वपर्यन्तार्थत्वात्। अन्यथा सूर्यादितेजो मामकमिति कथनस्यानतिप्रयोजनतापत्तेः।

वरेण्यमित्यस्य पूर्ववत्संभजनीयत्वमर्थमाह-वरेण्यं सर्वैः संभजनीय-मिति। उपस्थानादिना संभजनीयत्वमत्र विशेषः। भर्गःशब्दस्यात्रा-विद्यादिभर्जनार्थकत्वं नास्ति मण्डलादिविषयकत्वेनाखण्डविषयत्व-विरहादित्यतो व्याचष्टे-पापानां तापकमिति।

"यत्किंच दुरितं मयि सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा"

इत्यादिश्रुतेरिति भावः। तेजोमण्डलमिति। न भौतिकतेजोमण्डलमात्रमत्र विवक्षितम्। किन्तु हिरण्यगर्भशरीरत्वावच्छिन्नम्। एतच्चानुपदमुप-पादितम्।

ननु सूर्यमण्डलमेव हिरण्यगर्भशरीरं न तु तदीयतेजोमण्डलम्। न च तयोरैक्यमेवेति वाच्यम्। एवं सत्यत्रापि पूर्ववत् सवितुर्देवस्यात्मभूतमिति व्याख्यास्यत्। मैवम्। सूर्यो ह्यत्यल्पः परिच्छिन्नो दृश्यते। न तावन्मात्र एव ध्येयः। किन्तु परिसर्पत्तेजःसहितः। तस्य च तेजसो नात्यन्तभेदोऽवगम्यते। तथा च प्रत्यक्षत्वादभेदस्य नात्रात्मभूतत्वं वक्तव्यमस्ति। न चैवं घटाद्यवच्छेदेन यत्सूर्यतेजस्तदपि ध्येयं स्यादिति शङ्क्यम्। इदं तेजोमण्डलं गगने दृश्यत इति व्यवहारे परितः प्रसर्पत्तेजोयुतसूर्यमण्डलस्यैव बोधात्।

ध्यायते रूपमादाय संप्रसारणादिकं पूर्ववत्स्वीकृत्याह-ध्यायेमेति। अस्य ब्रह्मवदपरिच्छिन्नत्वविरहादन्यथापि शक्यं व्याख्यातुमित्याशयेनाह-मनसा धारयेमेति डुधाञ् धारणपोषणयोरित्यस्य दधीमहीति रूपस्य दलोपश्छान्दस इति भावः। मनसेत्युक्तेर्मनसा परिच्छिन्नत्वं द्योत्यते।

इदं पुनरिहावधेयम्। यद्यपि सवितृशब्दः सूर्यार्थे रूढः। तथापि न सूर्यमात्रोपासना विवक्षिता। पञ्चानां देवानामुपास्यत्वेन प्रसिद्धत्वात्। तत्र सूर्यस्य नारायणत्वेन प्रसिद्धत्वाद् "आदित्यानामहं विष्णुः" इति स्मृतेश्च "ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासन-संनिविष्ट" इत्यादिस्मरणाच्च सूर्यमण्डलवर्तित्वेन नारायण उपास्यो

भवति। भर्गःशब्दस्य शिवे रूढत्वात् सूर्यस्य भर्गोलक्षणं शिवात्मकं तेजो ध्यायेमेत्यर्थलाभाच्छिवोऽप्युपास्य एव। न चाऽकारान्तभर्गशब्द एव शिववाचकः। इह तु सकारान्त इति वाच्यम्। अञ्च्यञ्जियुजिमृजिभ्यः कुश्च। इत्यसुनि कुत्वे च निष्पद्यमानस्य भर्गःशब्दस्य लोके प्रयोगाऽदर्शनात् सकारान्तशब्दानामकारान्तप्रयोगस्वीकाराच्चार्थैक्यमेव स्वीक्रियते। एवं "सूर्या हिरण्यमयीं लक्ष्मीम्" इत्यादिश्रुतेः सूर्यरूपामिति व्याख्यानदर्शनाच्च श्रीदेव्यादयोऽप्युपास्याः। एवं गणेशस्यापि। एते सर्वे हिरण्यगर्भस्यैव नानास्वरूपभूता भवन्ति।

ननु "य आदित्ये तिष्ठन्" इत्यारभ्य "यमादित्यो न वेद" इत्येवं श्रुतौ वर्णनदर्शनादन्तर्यामी पृथगेव, आदित्यदेवश्च पृथगेव। मण्डलस्य वेदनाऽप्राप्तेर्न वेदेति निषेधानुपपत्तेरिति चेन्न। दत्तोत्तरत्वात्। वेदमातुः गायत्र्या "अन्तवत्तु फलं तेषाम्" इत्यल्पफलोपासनापरत्वायोगात्। धियो यो नः प्रचोदयादिति विशेषणाच्च। न हि अन्तर्यामिज्ञानवेदनशून्यो धियां प्रचोदयिता भवितुमर्हति। यदा तु पञ्चदेवतासु विष्ण्वादिवत् सूर्योऽप्युपास्यत्वेनोपतिष्ठते तदापि परमात्माऽभिन्नत्वेन स ध्येयो भवति। "यां यां तनुम्" इत्युक्तक्रमेण फलकल्पनायां अश्लिष्टत्वात्। एतच्चाग्रे सर्वदेवात्मन इति वदता भाष्यकृता ध्वनयिष्यते।

निर्गुणोपासनाया मोक्षमात्रफलत्वाद् ब्रह्मलोकादेरनुत्पन्नतत्त्वज्ञानानाम् आनुषङ्गिकफलमात्रत्वाद् ब्रह्मलोकगमनसमनन्तरमपि मोक्षावश्यंभावान्न पृथक् फलनिर्देशः कृतः। सगुणोपासनायामप्यन्तःकरणशुद्धिद्वारा परम्परया मोक्षहेतुत्वमेवास्ति निष्कामायामिति न तत्रापि फलनिर्देशः कृतः। संप्रति ये रागिणो भवन्ति किं तेषां गायत्री नोपास्या? नैवम्। सर्वेषामेव द्विजानां गायत्र्युपासनाया विहितत्वादिति सकामोपासनार्थत्वमपि गायत्र्या दुर्वारं, दर्शपूर्णमासवदीप्सितसकलफलत्वाद्वेत्याशयेन सकामोपासनापरतयापि व्याचष्टे-यद्वा भर्ग इति। भृज्ज्यते पच्यते इति व्युत्पत्या भर्गोऽन्नमुच्यते। "अन्नाद् भवन्ति भूतानि" "अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" इति श्रुतिस्मृतिभ्यामन्नस्य मुख्यत्वात्तद्ग्रहणेनाऽमुख्यानामपि ग्रहणं भवति। "अहमन्नमहमन्नाद" इत्यादौ भोग्यसामान्येऽन्नपददर्शनाच्चेत्याशयेन व्याख्यायामन्नादिलक्षणमित्येवमादिपदं योजयित्वा व्याख्यातमिति द्रष्टव्यम्। न च "भ्रस्ज पाके"

इति धातुनिष्पन्नस्य पच्यमानान्नार्थकत्वमेव भवेत्। न तु आदिपद-ग्राह्यगृहधनाद्यर्थकत्वम्। उपलक्षणतया तद्ग्रहणं तु सति प्रमाणे संगच्छत इति वाच्यम्। विषयाणां सर्वेषामेव पच्यमानत्वात्। तथा चाह स्म भगवान्

"शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति"

इति। तथा चाग्नौ पच्यमाना भवन्त्येव शब्दादयो विषया इत्युपलक्षयितुं ते शक्यन्ते। किं च

"वेदाश्छन्दांसि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोऽन्नमाहुः।
कर्माणि धियस्तदु मे प्रब्रवीमि प्रचोदयन्त्सविता याभिरेति॥"

(गो. ब्रा. १-३२)

इति श्रुतौ गायत्रीव्याख्यारूपायां भर्गःशब्दस्यान्नार्थत्वं दर्शितम्। अत एव धियः कर्मार्थत्वमपि सिद्धमिति द्रष्टव्यम्।

यच्छब्देन विधिशक्तिक्षयात्कृतिसामान्यपरतया योजयति प्रचोदयतीति। ननु सूर्यस्यान्नं धीमहीत्यनर्थकमिव भातीत्यतः सम्बन्धसामान्ये षष्ठीमादाय प्रसादादिति पदमध्याहृत्य वा व्याचष्टे-तस्य प्रसादादिति। ननु अन्नादिकं यत्किंचित्सर्वैरपि लभ्यत इति किमनया प्रार्थनयेति चेन्न। मन्त्रे वरेण्यमिति विशेषणेन दत्तोतरत्वात्। सूर्यस्य देवताया अन्नमाहुत्यादिलक्षणं मा ग्राहीति फलमित्युक्तं भाष्ये। ननु अन्नस्य ध्यानमात्रं व्यर्थमन्नस्य प्राप्तेरेव फलत्वादित्यतो व्याचष्टे-धीमहि धारयेमेति। डुधाञ् धारणपोषणयोरिति धातोर्दधीमहीति रूपं तत्र च्छान्दसेन दलोपेन धीमहीति रूपमिति भावः। डुधाञ् धारणपोषण-योरित्यत्र धारणं सृष्ट्यर्थकं प्रायः। धाता विधाता विश्वसृडिति स्रष्टरि प्रयोगदर्शनात्। णिजर्थान्तर्भावितधारणं क्वचित्। यथा गर्भधमित्यादौ। तथा चात्रान्नमुत्पादयेमेति वा परैर्धारयेमेति वाऽर्थः स्यात्। स च प्रकृतानुपयुक्त इत्यतो विशिष्य व्याचष्टे-तस्याधारभूता भवेमेति। तादृशफलभागिनो भवेमेति यावत्। न चास्मिन्नर्थे दधातेः प्रयोगो नास्तीति वाच्यम्। धातूनामनेकार्थत्वस्वीकारेणोपपत्तेः। अथवा धीङ् आधारे इति धातो रूपमिदमिति दृष्टव्यम्।

एवं गायत्र्या उपासनासामान्योपयोगिनमर्थं व्याख्याय संप्रति प्राणायामात्मकं जपात्मकं चेत्युपासनाद्वयं वक्तव्यमिति तत्र ध्यातव्यायां

मानसोच्चारणादिविषयीकर्तव्यायां वा गायत्र्यां योजनीयानि व्याख्यास्यमानार्थान्यक्षराणि पदानि च बोधयन्नाह-अथेति। विष्णुशिवाद्युपासकैः सर्वैरपि गायत्र्युपासना शक्यते कर्तुं, न तु केवलं सूर्योपासकैरेवेत्याशयेन विशेषयति-सर्वदेवात्मन इति। अत एव "सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छतीति" प्रसिद्धम्।

ननु कथं सर्वदेवात्मनः शिवादिरूपेणोपासना शक्यते कर्तुमपकर्षापत्तेः। "ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्" इति न्यायेन शिवादौ ब्रह्मदृष्टेरेवौचित्यात्। न च शिवादौ ब्रह्मदृष्टिरेव क्रियतामिति वाच्यम्। एवं सति न शिवाद्युपासना किन्तु ब्रह्मोपासनैवेति कथं गायत्र्या शिवाद्युपासना संभवतीति चेन्न। शिवादिप्रतीके ब्रह्मदृष्टिकरणेऽपि तस्या शिवाद्युपासनत्वोपपत्तेः। शैववैष्णवगाणपत्याद्युपनिषत्सु ब्रह्मरूपेण शिवादेः स्पष्टवर्णनदर्शनात्। न चैवमपि ब्रह्मदृष्टिमकुर्वाणस्य गायत्र्या शिवाद्युपासना न स्यादिति वाच्यम्। एकदेशोपासनाया अपि संभवात्। वैश्वानरोपासनायामेकदेशोपासनोक्तेः। "औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति दिव एव भगवो राजन्निति" इति प्रसंगे "मूर्धा त्वेष आत्मन" इत्येकदेशत्वोक्तेः। न चोपासनावैयर्थ्यम्। "अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्" इत्यादि फलकीर्तनात्। न चैकदेशोपासनायां "मूर्धा ते व्यपतिष्यदि"त्याद्यनिष्टापत्तिदर्शनान्नैकदेशोपासना युक्तेति वाच्यम्। वैश्वानरोपासनायां दोषश्रवणवदत्र दोषाऽश्रवणात्। शब्दप्रमाणा हि वयम्। न च शिवाद्यात्मत्वेनोपासना न विहितेति वाच्यम्। शिवाद्यात्मत्वेन परमात्मनः स्वत एवोपासनाप्राप्तेः। धीमहीति लिङ्गेन सामान्योपासनाप्राप्तेः। अत एव द्युप्रभृतिरूपेण वैश्वानरोपासनाया अश्रुतत्वेऽपि सामान्यश्रवणमात्रेण औपमन्यवप्रभृतिभिः एकदेशोपासनाकरणमुपपद्यते।

ननु विष्णुशिवादीनां पृथक् शक्तिमत्त्वात् कथं च सर्वफलदातृत्वमत आह-सर्वशक्तेरिति। एक एव परमात्मा नानाशक्तिविशेषोपाधिकतया विष्णुशिवादिसंज्ञां लभत इति भावः। नन्वेवं निर्गुणोपासना नोपपद्येतेत्याशङ्कायामुपाधित्यागे तस्यैव सर्वावभासकसाक्षिस्वरूपत्वान्नैवमित्याह-सर्वावभासकतेजोमयस्येति। नन्वेमपि "अहं सः सोऽहम्" इत्युपासना पूर्वोक्ता नोपपन्नेत्यत आह-परमात्मन इति। आत्मैव परम उपाधिवर्जितत्वेन शुद्धः परमात्मा भवति। न त्वनात्मा परमात्मा

भवितुमर्हतीति भावः। तस्य परमात्मनः प्रतिपादिका गायत्री। ननु तन्मात्रप्रतिपादनाय 'परमात्मा' इत्येतावन्मात्रं वक्तव्यम्। सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यादि वा। किमिति तत्सवितुरित्याद्युच्यते-तत्राह-सर्वात्मत्वप्रतिपादकेति। सवितृशब्देनाभिन्ननिमित्तोपादानत्वलक्षण-स्रष्टृत्वोक्तेः "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य" इति न्यायेन सर्वात्मत्व-सिद्धिरिति भावः। उपासनाप्रकारः=नानोपासनाप्रकारः। ननु गायत्र्यर्थ-सर्वात्मकपरमात्मोपासना क्रियते न तु गायत्र्युपासनेति चेन्न। गायत्र्याः स्वप्रतिपाद्यपरमात्माऽभिन्नत्वेन तस्या अप्युपासनासिद्धेः। गुरुमुपासत इत्यादौ गुरुसेवादिरप्युपासनापदार्थो भवति। तथा गायत्र्युच्चारण-स्मरणादिकं गायत्र्या अप्युपासनैव। अयं गायत्र्युपासक इत्येवं लोके प्रयोगदर्शनात्। न च पञ्चमस्तकादियुक्तदेवीविशेषमादाय गायत्र्युपास-नेत्युच्यत इति वाच्यम्। गायत्रीजपादिकाले तादृशदेव्या ध्येयत्व-विरहान्मन्त्रार्थभावनस्यैव विधिविषयत्वात्। तादृशीं देवीमननुसन्धातरि परमात्मचिन्तनपूर्वकजपकर्तर्यपि अयं गायत्र्युपासक इति व्यवहार-दर्शनाच्च।

तत्र=तादृशोपासनाघटकीभूताम्। तादृशनानोपासनाप्रकारमध्ये वा। प्रणवादीति। प्रणव आदिर्यासां ताः सप्तव्याहृतयः। प्रणवादित्वं सप्तानां पृथक् पृथगेवेति बोध्यम्। तथा च ॐभूः ॐ भुवः ॐस्व इत्येवं प्रणवपूर्वा सप्त व्याहृतयस्ताभिरुपेतामित्यर्थः। प्रणवादीति चाऽऽवर्त-नीयम्। गायत्र्या अपि प्रणवादित्वेनोच्चारणीयत्वात्। शिरःसमेतामिति। आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोमित्येवमन्त्यपाठोपेतामित्यर्थः। सर्ववेदसारमिति। एतच्च व्याख्यास्यमानार्थतः स्पष्टीभविष्यतीति ज्ञेयम्। इति वदन्तीति। ननूक्तार्थानामप्रयोग इति नियमाद् इतिशब्देन कर्मत्वेऽभिहिते सर्ववेदसारमित्यत्र कर्मत्वार्थकद्वितीयाया अप्रयोगो युक्तः। प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमयैव तदा भवितव्यम्। द्वितीयाविभक्तिप्रयोगे वा इतिपदानर्थक्यमिति चेत्। अत्रोच्यते। सर्ववेदसारमित्यन्तमुद्देश्यनिर्देशः। इति वदन्तीति विधेयनिर्देशः। इति किं? तत्राह—एवं विशिष्टेत्यादि। सर्ववेदसारं गायत्रीं प्राणायामैरुपास्येति वदन्तीति योजना। अथवा

सारशब्दो नपुंसकेऽप्यस्ति। नैतत्सारमित्यादिप्रयोगदर्शनात्। वस्तुतस्तु गायत्रीपुरश्चरणे इदमेव वाक्यमाथर्वणश्रुतित्वेन दर्शितमिति नात्र काचनानुपपत्तिरिति ध्येयम्। प्राणायामैरिति। पूरकरेचककुम्भकैरित्यर्थः। एकया पूरणं, चतसृभिः कुम्भनं, द्वाभ्यां रेचनमिति क्रमः। समसंख्याकत्वमपरे वाञ्छन्ति। अन्यच्च प्रकारान्तरं गुरुभ्योऽवसेयम्।

एवं प्राणायामोपासनप्रकारमभिधाय जपोपासनप्रकारमाह-सप्रणवेति। प्रणवसहितं यद् व्याहृतित्रयम् ॐ भुर्भूवः स्व इति तदुपेतेत्यर्थः। सप्रणवेत्यस्याऽऽवृत्तौ गायत्र्यादावपि प्रणवलाभः। प्रणवान्तेति। प्रचोदयाद् ॐ इत्येवंविधेत्यर्थः।

एवमुपासनाविषयं सप्रपञ्चं निरुप्य संप्रति ज्ञेयतया संभजनीयमिति यदुक्तं तद् विवरीतुमाह-तत्रेति। प्राणायामजपाद्युपासनीयप्रणवव्याहृत्यादिविशिष्टमन्त्रघटकीभूतेत्यर्थः। यद्वा प्रथमं प्रणवादिरहिता गायत्री दर्शिता प्राणायामाद्यर्थं सप्रणवसव्याहृतिसप्तकसशिरस्कगायत्री दर्शिता। जपाद्यर्थं च सप्रणवसव्याहृतित्रयगायत्री समुपस्थापिता। तासु तिसृषु मध्ये इत्यर्थः। शुद्धा-व्याहृत्यादिरहिता गायत्री प्रत्यग्ब्रह्मैक्यबोधपरा।

ननु प्रणवव्याहृत्यादीनामपि शुद्धब्रह्मपरतया व्याख्यास्यमानतया शुद्धा गायत्री प्रत्यग्ब्रह्मैक्यप्रबोधिकेति सविशेषणकथनमयुक्तम्। विशिष्टाया अपि तथात्वादिति चेत्। सत्यम्। "तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" इत्यादावपि "तत्सत्यम्" इत्यादेः प्रत्यग्ब्रह्मैक्यबोधकत्वं सुवचम्। तथापि तत्त्वमसीत्यस्यैव तथात्वमङ्गीक्रियते। शेषस्य पदार्थशोधकतयैव विनियोगात्। एवमत्रापि शुद्धगायत्र्या एव प्रत्यग्ब्रह्मैक्यबोधकत्वं शेषस्य तदादिपदार्थशोधकत्वमेव। न च प्रणवेऽकारादिमात्रायाः विश्वविराडादिव्यष्टिसमष्ट्यैक्यबोधकत्वमभिमतमिति वाच्यम्। तथा सति वाक्यभेदेनैकवाक्यत्वानुपपत्तेः। तथा सत्यादिमप्रणवः समष्टीश्वरवाची चरमो व्यष्टिजीववाचीति वा यथानुसन्धानं वा पदार्थशोधकतयैव योजनीयः। भूरादिपदानां यथाव्याख्यानमन्यतरार्थशोधकत्वमितिशुद्धगायत्र्या एव प्रत्यग्ब्रह्मैक्यबोधकत्वमिति।

तत्र त्वंपदार्थतत्पदार्थाऽसिपदार्थान् क्रमेणाह-धियो यो न इत्यादि। बुद्धेर्विशेषेण प्रेरकत्वं बुद्धिसाक्षिण एव। बुद्धिसाक्षी च प्रत्यगात्मा।

ननु-"ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥" इति ।
"सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानम्"

इति चैवमादिभ्यो वचनेभ्यो बुद्धिप्रेरकः परमात्मैवावगम्यते न तु प्रत्यगात्मा। न च प्रत्यगात्मपरमात्मनोरभेदान्न दोष इति वाच्यम्। तदभेदबोधनस्य साध्यत्वेन सिद्धवन्निर्देशानुपपत्तेः। सिद्धत्वे वा गायत्र्या अनुवादकत्वमेव स्यादिति चेन्न। "केनेषितं पतति प्रेषितं मन" इति प्रश्ने "श्रोत्रस्य श्रोत्रम्" इत्यादिना प्रत्यगात्मन एव प्रेरकत्वेन वर्णनात्। न च तत्रापि ईश्वर एवोच्यतामिति वाच्यम्। तस्य "श्रोत्रस्य श्रोत्रम्" इत्यादिना बोद्धुमशक्यत्वात्। अनुसन्दधानस्यान्तश्चैतन्यं किमपि स्वप्रकाशतया प्रकाशत इति युज्यते, "श्रोत्रस्य श्रोत्रम्" इत्यादिकमुत्तरम्। न च ब्रह्मैव प्रेरकमिति वाच्यम्। सर्वथा निरूपाधिकब्रह्मणि प्रेरकधर्मत्वस्यापि विरहात्। मायाद्युपाधिकत्वे तस्य स्वानुभववेद्यत्वायोगात्। जीवात्मा तु स्वस्वरूप इति उपाध्यन्तर्भूत एव स्वप्रकाशतया भासते। यथा मणिर्वस्त्रावृतो बहिर्दृष्ट्याऽप्रकाशमानोऽप्यन्तः प्रकाशत एव। अत एव प्रतीचोऽपरोक्षत्वमाचार्याः प्रोचुः। तस्यैवोपाधित्यागाद् ब्रह्मरूपत्वं भवति। उपाधिविशिष्टत्वेन जीवत्वमुपाधिरहितत्वेन च साक्षित्वम्।

ननु प्रत्यगात्मन उपाध्युपहितत्वे सर्वबुद्धिसंज्ञान्तःकरणप्रकाशक-सर्वसाक्षित्वं कथमुपपद्यते? तत्तदुपहितसाक्षिणस्तत्तत्प्रकाशकत्वात्। न च "नः" इति बहुवचनात् सर्वे साक्षिण उपतिष्ठन्त इति सर्वसाक्षित्व-मुपपद्यते इति वाच्यम्। य इत्येकवचनेन प्रचोदकस्यैकत्वावगतेरिति चेत्। सत्यम्। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः साक्षी चेता" इति श्रुतेः साक्षिण एकत्वमुपपद्यते। विशेषणत्वे हि विशिष्टद्वयस्य परस्परं भेदो भवति। उपाधित्वे तु नात्यन्तभेदः। क्रियानन्वयित्वादुपाधेः। प्रकाशनक्रियानन्वयी चान्तःकरणोपाधिरिति प्रकाशनांशे साक्षिण एकत्वमेव। अन्तःकरण-साक्षिणि घटकतयाऽन्तःकरणप्रवेशाऽसंभवात्। तथाप्युपाधेर्विद्यमानत्वेन तत्परित्यागाय महावाक्यार्थज्ञानमावश्यकमेव। येषामाचार्याणां मते

साक्षिभेदोऽस्ति तन्मतेन य इत्यादिष्वेकत्वमविवक्षितम्। त्वंपदार्थशोधने-तूपाधित्यागात् शुद्धं चैतन्यं लभ्यत इति।

अथ तत्पदार्थमाह-तस्येत्यादि। प्रचोदयाच्छब्धनिर्दिष्टस्य=धियो यो नः प्रचोदयादितिशब्दनिर्दिष्टस्य। स्वरूपभूतमिति। इदं च सामाधिकरण्येन निर्देशादभेदान्वयितया निर्देशाद्वा लभ्यस्य अभेदस्य निरूपणम्। यद्यपि न त्वंपदवाच्यार्थाऽभेदो वा त्वंपदलक्ष्यर्थाभेदो वा तत्पदवाच्यार्थे वर्तते। न हीश्वरजीवयोरैक्यं मन्यामहे। उपाधिभेदेनोभयोर्भेदात्। किन्तूपाधित्यागे सति शिष्यमाणं चैतन्यमेकमेव। न ह्यविद्याविशिष्टचैतन्याभेदो वा शुद्धचैतन्याभेदो वा मायाविशिष्टश्चैतन्ये। न च तत्पदार्थभागत्यागेन लभ्यो योऽर्थस्तेनैक्यमिति वाच्यम्। एतावत्पर्यन्तं तदनिर्देशात्। तथापि अनुपदं लक्ष्यार्थ एव निर्देक्ष्यत इति लाघवादत्रैक्यमभिहितम्। अन्यथा तत्पदलक्ष्यार्थमुक्त्वा पुनः पूर्वोक्तत्वंपदलक्ष्यार्थानुसंधाने गौरवं स्यादिति तत्त्वम्। तत्सवितुरित्यादिपदैर्निर्दिश्यते=तत्सवितुरित्यादिपदैर्लक्षणया निबोध्यते। वाच्यार्थस्तु प्रागेवोक्त इति तद्वर्णनं नावश्यकमिति भावः।

तत्सवितुरित्यादिपदवाच्यार्थेन तादृशपदसमुदायीयवाच्यार्थनिरूपित-वाक्यार्थेन वा स्वरूपभूतब्रह्मनिर्देशनविरहाल्लक्ष्यार्थं तत्प्रयुक्तवाक्यार्थ-बोधनाय निरूपयितुमारभते तत्रेति। तत्सवितुरित्यादिपदसमुदायघटकी-भूतेनेत्यर्थः। ॐ तत्सदितीत्यादि। "ओमिति ब्रह्म"। "तदिति वा एतस्य महतो भूतस्य नाम भवति"। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि श्रुतेः "ॐ तत् सद् इति पदत्रयं ब्रह्मनिर्देशकमित्यर्थः" नन्वनुपदमेव यत्पदार्थ-परामर्शितया प्रसिद्धार्थतया च तत्पदं व्याख्यातम्। कथमधुना ॐ तत्सदिति प्रमाणमादाय ब्रह्मार्थकत्वं प्रदर्श्यत इति चेत्। सत्यम्। अयमप्यर्थो भवितुमर्हतीत्याशयेनार्थान्तरप्रदर्शने दोषाभावात्। तत्र तनोतीति तदिति व्युत्पत्तौ तनोतेः क्विपि "अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति" इति नलोपे "ह्रस्वस्य पिति कृति तुग्" इति तुगागमे तदिति भवति। अस्य षष्ठ्यां तत इति रूपं न तु तस्येति। जगद् विस्तारयतीति। न च सवितुरित्यनेन पौनरुक्त्यम्। प्रक्रियाभेदेन पौनरुक्त्यविरहात्। बीजस्यान्तः सूक्ष्मरूपेण स्थितमङ्कुरं विस्तारयति तदेव बीजं जलादिसहकारेण। एवं जगदिदं परमात्मा। तदुक्तं—

"बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ्निर्विकल्पं पुन-

र्मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम् ।

मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया ।" इति ।

नन्वेतावतापि किमायातं? सवितृशब्दस्य स्रष्टृत्वाद्यर्थकत्वात्तस्यापि फलतो विस्तारणात्मकत्वादित्यत आह-प्रत्यग्भूतमिति। घटस्य प्रत्यगर्थो मृत्, तस्याः प्रत्यक् परमाणवः, तेषां प्रत्यक् पृथिवीतन्मात्रा, तस्याः प्रत्यक् जलतन्मात्रेति क्रमेण सर्वस्य प्रत्यगर्थो ब्रह्म। "य आत्मा सर्वान्तर" इति श्रुतेः। स एव जगदिदं विस्तारयति। तथा च प्रत्यगर्थलाभः, सवितृशब्दलभ्यार्थस्तु वक्ष्यते। तदिति सर्वनामापि। तत्र प्रसिद्धार्थे तत्पदं प्राग् दर्शितम्। तेनापि ब्रह्मैव लभ्यते। कथम्? तस्यैव प्रसिद्धत्वात्। प्रकर्षेण सिद्धत्वात्। तदपि कथम्? तत्राह-स्वतः सिद्धमिति। जगदिदं परतः सिद्धं, ब्रह्म तु स्वतः सिद्धमिति सोऽयमेव सिद्धौ प्रकर्षः। अत एव तदिति ब्रह्म नाम। अस्य रूपं सर्वनामत्वात् षष्ठ्यां तस्येत्येव। शबल-ब्रह्मशब्दब्रह्मादिव्यावर्तनायोक्तं-परं ब्रह्मेति। "बृंहणत्वाद्ब्रह्म" इति व्युत्पत्या प्रत्यग्भूतत्वलाभः। बृहत्त्वात् स्वतः सिद्धत्वम्। न हि निरङ्कुशबृहत्त्व-वन्तमपरः शक्नोति परिच्छेत्तुम्। न ज्ञानेन परिच्छिद्यते। न वा देशकालवस्तुभिरपि।

एवं तत्पदेन "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इति श्रुतिनिर्दिष्टं ब्रह्मैव गृह्यते स्वतःसिद्धत्वाद् जगद्धितानयोग्यत्वाच्च। ततश्च "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजत" इत्यादिश्रुतिसिद्धं "जन्माद्यस्य यत" इति सूत्रितं जगत्कारणं तदेव ब्रह्म सवितुरित्यनेनोच्यत इत्याह सवितुरितीति। अस्य केवलसृष्टिकर्त्रर्थकत्वेऽपि "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इति श्रुत्यन्तरार्थोपसंहारादुपलक्षणत्वाद्वा सृष्ट्यादीनां त्रयाणां ग्रहणमित्याश-येनाह—सृष्टिस्थितीत्यादि। सामान्यतः सवितृत्वोक्तेर्जन्यसकलप्रपञ्च-स्रष्टृत्वादिसिद्धिरित्याशयेनाह-सर्वेति। "तदैक्षत बहु स्याम्" इति श्रुतेरीक्षणजन्यप्रपञ्चस्य दृष्टिसृष्टित्वावगमाद् वास्तविकसृष्टेरभावात् कल्पितं प्रपञ्चं प्रति सतोऽधिष्ठानमात्रत्वात् फलितार्थमाह समस्तद्वैत-विभ्रमस्येति। भ्रमतद्विषययोरैक्याभिप्रायेणेदम्। भेदाभ्युपगमे वा सर्वप्रपञ्चस्य सर्वद्वैतविभ्रमस्य चाधिष्ठानमिति योजनीयम्। शुक्तौ रजततज्ज्ञानयोरुभयोरप्यध्यासस्वीकारात्तथैव ब्रह्मण्यपि द्वैततद्भ्रम-

योरुभयोरप्यध्यासोपगमात्। तदधिष्ठानं सवितुरिति पदेन लक्ष्यते। तदधिष्ठानत्वमवगम्य तत्पुरःसरं तत्रापि घटकीभूतमधिष्ठानत्वं परित्यज्य शाब्दबोधे शुद्धं बुध्यत इति द्रष्टव्यम्। एतेन निरधिष्ठानभ्रमा-योगात्सद्रूपत्वं ब्रह्मणो लभ्यत इत्यभिप्रायः।

वरेण्यमित्यनेनानन्दरूपत्वकथनमित्याह-वरेण्यमितीति। देवदत्तवरेण्यं यज्ञदत्तवरेण्यमिति विशेषनिर्देशविरहाद् वरेण्यमिति सामान्यनिर्देशात् सर्ववरेण्यत्वं लभ्यते। तथा च यस्य कस्यचिन्मृत्योरपि वरेण्यप्रतीतावपि सर्ववरेण्यमानन्दरूपमेव भवतीत्यभिप्रायेणाह-सर्ववरणीयमिति। ननु मृत्युं विवरीषोरपि सर्वान्तर्गतत्वात्तद्वरणीयत्वं नानन्दस्य। न च जीवने सुखमनुपलभमानः कष्टबहुलाकुलो मृत्युं वृणोतीति मृत्युनाप्यानन्दा-भिलाष एवेति वाच्यम्। शून्यवादिनां शून्यस्यैव मोक्षरूपत्वेनानन्दरूपत्वा-भावादिति चेन्न। नानाविधसुखमुपलभमानो न मृत्युं वृणोति मृत्योर्बिभेति चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां मृत्युं वृणानस्य सूक्ष्मरूपेण विद्यमानानन्दाभिलाष एव प्रेरयति। शून्यवादिनां दुःखस्यापि शून्यत्वात्किमिति तदपनुनुत्सा। तथा च तेषां दुःखस्य सुखापोह—रूपत्वात्सुखलिप्सायामेव पर्यवसानम्। न च दुःखापोह एव सुखमिति वाच्यम्। अन्योन्याश्रयतापत्तेः शून्यवाद्यपि दुःखमपनुनुत्सति सुखं च प्रेप्सतीति प्रत्यक्षसिद्धम्। तत्र सुखस्य क्षणिकत्वं विचार्य बलात्ततो मनोऽपसारयति तत्राप्यन्तरङ्गतः शाश्वतसुखाभीप्सैव मूलम्। तदलाभं मन्वानो बहिष्टः शून्यं वृणुत इति हि तत्त्वम्। तस्मात्सर्वमुख्यवरणीयत्वं सुखस्यैव। महद्दुःखमालोचयन्तः क्षणिकं सुखं न वृण्वन्तीत्यतो विशेषणमानन्दस्य निरतिशयेति।

भर्ग इत्यनेन निर्दुखज्ञानरूपत्वं निःसंसारज्ञानरूपत्वं वा विवक्षित-मित्याशयेनाह-भर्ग इतीति। अत्र पूर्वोत्तरानुसारेण भर्जनात्मकज्ञानैक-रूपमिति पाठेन भवितव्यम्। न च विद्यमानमपि ब्रह्म न भर्जयत्यविद्या-दिकमिति ज्ञानविषयत्वेनैव भर्जकत्वमुपपद्यत इति वाच्यम्। निदिध्या-सनजन्यज्ञानविषयत्वेनैव वरेण्यत्वस्यापि वक्तव्यत्वापत्तेः। वृत्त्यात्मकज्ञान-विषयतायाः स्वरूपानात्मकत्वेन तत्पदस्थानीयपदलक्ष्यत्वानुपपत्तेश्च। सदैव निवृत्तसमस्तानर्थरूपं हि ब्रह्म। वृत्तिस्तु कादाचित्की। अग्रे वाक्यार्थप्रदर्शनसमये च निरस्तसमस्तानर्थरूपमिति हि वक्ष्यते च।

तथापि यथाश्रुतपाठे एवं व्याख्या कार्या घटादिज्ञानेनाऽविद्यादिभर्जना-संभवादखण्डाकारवृत्तिविषयत्वेनैव तत्संभवात्तदेकविषयत्वं ब्रह्मणः। सैव संपादनीया। यया वृत्त्या नाविद्यादिर्भृज्ज्यते न तद्विषयत्वं ब्रह्मणः। तथा च अविद्यादिभर्जनमखण्डाकारवृत्तिविषयतोपलक्षितं तेजः भर्गःशब्देन लक्ष्यत इति। अविद्यादीत्यादिपदेन कामकर्मणोर्ग्रहणम्। "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इति श्रुतेः। अपि चात्र "तरति शोकमात्मविद्" इति श्रुतेः शोकपदार्थसर्वसंसारभर्जकत्वमपि बोध्यम्। निःसंसारमित्यर्थः।

नन्वेवं देवस्येति व्यर्थम्। तस्यापि द्योतनरूपज्ञानस्वरूपतार्थकत्वात् इत्यादिशङ्कायां वृत्तीनामनेकत्वेन तदवच्छिन्नानां ज्ञानानामनेकत्व-संभावनासत्त्वात् प्रज्ञानैकाकारतालक्षणचिदेकरसत्वलाभार्थत्वान्मैवमिति परिहरति-देवस्येतीति। देवयति दीव्यतीति च व्युत्पत्तिद्वयेऽपि देव इति रूपम्। सर्वप्रकाशनात् स्वयंप्रकाशरूपत्वच्च। तथा सर्वद्योतनात्मिका या अखण्डचित् तदेकरसमित्यर्थः। क्वचित् सदेकरसमिति पाठो दृश्यते। सदेकरसमित्यस्य लक्ष्यत इति पूर्वेण सम्बन्धः। तस्य पूर्वयोः निरतिशयानन्दरूपमिति ज्ञानैकविषयत्वमित्यनयोरपि सम्बन्धो द्रष्टव्यः।

ननु भर्गः इत्यनेन निर्दुखचिद्रूपत्वं, देवस्येत्यनेन ज्ञानैकरसत्वं चोच्यते तदा षष्ठ्यर्थः कः स्यात्। न हि तयोर्भेदलक्षणसम्बन्धोऽस्ती-त्याशङ्कायाम् औपचारिकाभेदार्थत्वान्मैवमिति परिहरति-सवितुर्देव-स्येति। सवितुर्देवस्य भर्ग इत्यत्रेत्यर्थः। राहोः शिर इति प्रथमान्तशिरः-पदघटितदृष्टान्तानुरोधात्। औपचारिक इति। अभेद इति शेषः। उपचारलभ्योऽर्थः औपचारिकः। उपचारो लक्षणा।

एवं पदार्थं व्याख्याय कृत्स्नवाक्यार्थमाह-बुद्ध्यादीत्यादि। बुद्ध्यादि-सर्वदृश्यसाक्षिलक्षणमिति तृतीयपादार्थसंग्रहः। धिय इत्युपलक्षणतया सर्वदृश्यपरत्वमिति भावः। ननु सर्वदृश्यप्रचोदनं नोपपद्यते अप्रचोद्यत्वाद् घटपटादीनामित्याशङ्कायां साक्षिप्रकाशेनैव धियां प्रवृत्तेस्ता आदाय प्रचोदयितृत्वोक्तेस्तासामुपलक्षणत्वे प्रचोदयितृत्वमपि प्रकाशयितृत्वोप-लक्षणं भविष्यतीत्याशयेन साक्षीत्युक्तम्। सर्वाधिष्ठानभूतमिति सवितृ-पदार्थः, परमानन्दमिति वरेण्यपदार्थः, निरस्तेत्यादिः भर्गःपदार्थः। स्वप्रकाशेत्यादिर्देवस्येत्यर्थः। ब्रह्मेति तत्पदार्थः यन्मे स्वरूपमिति

सामानाधिकरण्यलभ्यार्थः। इति विवेकः। धीमहि ध्यायेमेति। निदिध्यासनात्मकध्यानं बोध्यम्। तत्फलं निध्यानं दर्शनम्। "निर्वर्णयति निध्यायत्यालोकयति पश्यति" इति कोशात्। ध्यैधातुनिष्पन्नधीशब्दस्य बुद्ध्यर्थकत्वाच्च ज्ञानफलकध्यानार्थविवक्षणोपपत्तेः।

नन्वत्र धीप्रयोजकसाक्षी सविता देवो भर्गात्मकस्तं ध्यायेमेति व्याख्यायां विधेयभेदेन वाक्यभेद इति चेन्न। उत्तमपुरुषप्रयोगेण विधिशक्तिक्षयाल्लिङ्गेनैव ध्यानकर्तव्यता ज्ञेया स्यात्। तथा च प्रथमं जीवपरैक्यबोध एव भवति। पश्चादेव ध्यानविधिबोध इति लिङ्गगम्यवाक्यस्य भिन्नत्वेऽपि नास्ति क्षतिः। एकवाक्यत्वेन प्रतीयमानस्थले एव वाक्यभेदस्य दोषत्वात्। अन्यथा "सोमेन यजेते" इत्यत्र सोमविशिष्टयागविधानेऽपि वाक्यभेदः स्यात्। तत्र अर्थादेव सोमसम्बन्धविधानलाभस्वीकारात्।

फलितार्थमाह-एवं सतीति। सहब्रह्मणः=मायासहितब्रह्मणः=मायाविशिष्टब्रह्मणः। स्वविवर्तजडप्रपञ्चेनेति। स्वपदार्थोऽग्रे वक्ष्यमाणं ब्रह्म तस्य विवर्तरूपेण जडप्रपञ्चेन सह अपवादे सतीत्यन्वयः। केन न्यायेन? रज्जुसर्पन्यायेन। अधिष्ठानज्ञाने सति यथा रज्जौ सर्पापवादो भवति तेन न्यायेन सप्रपञ्चशबलब्रह्मणोऽपवादे सतीति तात्पर्यार्थः। किं च सामानाधिकरण्यनिरूप्यैकत्वन्यायेन-सोऽयं देवदत्त इत्यादौ पदयोः पदार्थयोश्च सामानाधिकरण्येनैकत्वं यत्सिध्यति तेन न्यायेन। सर्वसाक्षिप्रत्यगात्मनः=सर्वदृश्यसाक्षिभूतस्य प्रत्यगात्मनः। तादात्म्यरूपं= तदात्मतारूपम् न तु संख्याविशेषात्मकमिति भावः। एकत्वं भवति= एकत्वं जायते, प्रकटीभवतीति यावत्। इति, सर्वात्मकब्रह्मबोधकः= सर्वाभिन्नब्रह्मबोधकः बाधसामानाधिकरण्येन सर्वं प्रतिषिध्य शुद्धं ब्रह्माखण्डं बोधयन्नयं गायत्रीमन्त्रः सम्पद्यते अद्वैतब्रह्मबोधको भवति। अयं भावः-सोऽयं देवदत्त इत्यादौ सामानाधिकरण्येनैकत्वमवगम्यते। किन्तु तत्कालतद्देशयोरेतत्कालैतद्देशयोश्च विरुद्धत्वेन तयोरैक्यमविवक्षित्वा तद्भागपरित्यागेन तादात्म्यरूपमेकत्वं भवति। प्रकृते तु धीप्रयोजकप्रत्यगात्मा सर्वकारणब्रह्म इति सामानाधिकरण्यावगमे एकत्वं तयोर्विज्ञायते। किन्तु सर्वस्रष्टृत्वं धीमात्रप्रयोक्तृत्वमिति धर्मौ विरुद्धौ इति भागत्याग आवश्यकः। इहान्वयाविवक्षामात्रप्रयुक्तो न भागत्यागः। किन्तु

सर्पोऽयं रज्जुरेवेतिवद् बाधसामानाधिकरणत्वात् सर्पबाधवदुपाधिबाधेन त्यागो भवति। एवं च सर्पमालादयो रज्जुरेवेत्यत्र सर्पमालादीनामात्मैव रज्जुरितिवत्सर्वजगत आत्मा ब्रह्मेति बोधोत्पत्तिर्भवतीति। अत्र सर्वमेवात्मा स्वरूपं यस्येति बहुव्रीहौ 'उरः प्रभृतिभ्यः कप्' इति कपि ब्रह्मण आत्मरूपः प्रपञ्च इति स्यात्। तत्तु नोपपद्यते। प्रपञ्चस्य ह्यात्मा ब्रह्म। तस्मादत्रात्मशब्दस्य शरीरार्थकत्वं रूपार्थकत्वं तादात्म्यार्थकत्वं वा बोध्यम्। सर्वरूपेण भासमानत्वं सर्वात्मकत्वमिति यावत्।

ननु व्याहृतित्रयस्य व्याहृतिसप्तकस्य वा गायत्रीमन्त्रे योजने गायत्रीमन्त्रार्थशुद्धब्रह्मणा तदर्थान्वयः कथं स्यादित्याशङ्कायां तासामत्र योग्यमर्थमाह–सप्तेत्यादि। सन्मात्रमिति भू सत्तायामिति स्मरणात्। उच्यत इति। तस्य चाभेदान्वयो ब्रह्मणा। एवमुत्तरत्रापि। सर्वं भावयति प्रकाशयतीति। भावना हृदयगता ध्यानाद्यात्मिका प्रसिद्धा। तदेवेक्षणम्। तेन प्रथमं सूक्ष्मं जगत् प्रकाशयति। पुनः स्थूलं भावयतीति चिद्रूपमुच्यते। सुव्रियत इति। सुवर्नज्योती इत्यादिप्रयोगदर्शनादुकारसहितः सकारः। क्वचिदुकारलोप इति भावः। सुखरूपत्वमिति। इत्थं च व्याहृतित्रयेण सच्चिदानन्दरूपत्वमुच्यत इति भावः। सर्वातिशायित्वमिति। विशेषण-विरहेण सर्वमहीयस्त्वलाभादिति भावः। सर्वकारणत्वमिति। सर्व-जगत्कारणत्वमित्यर्थः। सर्वतेजोरूपत्वमिति। "यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।" इति स्मृतेरिति भावः। सर्वबाधारहितमिति। बाधात्यन्ताभाववद् बाधावधिभूतमित्यर्थः।

अधुना वाक्यतात्पर्यार्थमाह-एतदुक्तं भवतीति। लोकस्वरूपं भूरादिलोकानां स्वरूपं यथोक्तसद्रूपत्वादिकं तदोंकारपदवाच्यम्-ओंकार-पदार्थरूपं ब्रह्मैवात्मनोऽस्य स्वरूपम्। कथम्? अस्यात्मनोऽपि सच्चिदा-नन्दस्वभावात्। लोके स्वरूपमिति पाठे भूरादिलोके। सामान्ये एकवचनम्। आत्मनश्च सच्चिदानन्दस्वभावः सिद्धः। न हि स्वजन्म स्वमरणं च कस्यचित्प्रत्यक्षम्। न वा परः प्रत्यक्षयितुमीष्टे। परेषां कृतेऽतीन्द्रियत्वात्। तथा च सद्रूपत्वमात्मनः। सुषुप्तिकालेऽपि स्वप्रकाशदर्शनाच्चिद्रूपत्वम्। सुखमहमस्वाप्समिति परामर्शदर्शनात्। प्रेयोरूपत्वाच्चानन्दस्वरूपत्वमपि। महीयस्त्वादिकं श्रुतिगम्यमेव। तथा च लक्षणैक्यादैक्यमिति।

एवं यौगिकार्थमादाय व्याहृतयो व्याख्याताः। अधुना रुढार्थमादाया- प्याह-अथेति। भूरादयः-भूर्भुवःस्वरादयः। सर्वे-त्रयो वा सप्त वा लोकाः ॐकारवाच्याः ॐ भूः ॐ भुवः इत्येवं प्रत्येकस्योंकारसामानाधिकरण्यात्। ॐकारान्तर्गतमात्रात्रयवाच्या भूर्भुवःस्वर्लोका भवन्ति। नादबिन्द्वादेः पृथक्त्वेऽन्येऽपि लोकास्तद्वाच्याः। किं चोंकारपदवाच्यब्रह्मात्मका इत्यतोऽ- प्योंकारपदवाच्याः इत्याह-ब्रह्मात्मका इति। तथा सति फलितार्थमाह-न तद्व्यतिरिक्तं किंचिदस्तीति। तथा च सर्वात्मकत्वं ब्रह्मण इति बोधयितुं व्याहृतय इत्याह-सर्वात्मकब्रह्मबोधिका इति।

नन्वेवमपि गायत्रीशिरसः पृथगर्थत्वादनन्वयित्वं स्यादित्याशङ्का- परिहारार्थं तदपि व्याचष्टे-गायत्रीशिरसोऽपीति। आप्नोतीति। आप इत्यकारान्तः सकारान्तश्च शब्दोऽस्तीति एकवचनेन व्युत्पत्तिप्रदर्शन- मुपपद्यते। ज्योतिरिति प्रकाशरूपत्वमिति। न चैवं सप्तव्याहृत्यन्तर्गत भुव इत्यनेन पौनरुक्त्यं शङ्क्यम्। वाच्यार्थस्य भिन्नोपाधिकत्वाददोषात्। एवमन्येषामपि पदानां बोध्यम्। रस इति। "रसो वै सः रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति" इति श्रुतेः किंचिदुपाधिभेदेनानन्दरूपत्वमानन्द- जनकत्वमानन्दोपजीव्यत्वं वा। ब्रह्मपदं व्याख्यातम्। भूर्भुवः स्वरोमित्यपि व्याख्यातमेव। पौनरुक्त्यस्य पूर्ववत्परिहारात्। अतः अमृतपदमात्रं व्याचष्टे-अमृतमितीति। शिरोऽर्थान्वितवाक्यार्थमाह-सर्वेत्यादि। आप इत्यस्य सर्वव्यापीति। ज्योतिरित्यस्य सर्वप्रकाशकमिति। रस इत्यस्य सर्वोत्कृष्टमिति, अमृतमित्यस्य नित्यमुक्तमिति ब्रह्मेत्यस्यात्मरूपमिति भूर्भुवः स्वरित्यस्य सच्चिदानन्दात्मकमिति ओमित्यस्य स्वयमाह- ॐकारपदवाच्यं ब्रह्मेति तदहमस्मीति वाक्यार्थयोजना। इति गायत्री- मन्त्रस्यार्थ इति कृत्स्नोपसंहारः।

गायत्रीज्ञानयज्ञं गायत्र्या होमे भावनीयां भावनां चाह-गुहाशयेति। गुहायां बुद्धिगुहायां शेत इति तथाभूतं ब्रह्मैव हुताशनोऽग्निस्तत्र अहं कर्तेत्यत्र य इदमंशोऽनात्मपदार्थस्तन्नामकं हविर्हुतं सत्। अहंकर्तेति भावनानुकरणमिति सविभक्तिकः प्रयोगः। तच्च हविर्हुतं सद् विलीयते इत्येवं भाव्यम्। ततश्च नेदमहं भवामीत्येवं भावना कार्या। सोऽयं ज्ञानयज्ञप्रकारोऽभिधीयतेऽत्र गायत्र्याम्। पुरतः स्थितेऽग्नौ च गुहाशय- ब्रह्मभावना हविषि च अहंकर्तेत्यत्रत्येदमंशभावना। होमे च तद्विलय-

भावना। होमसमाप्तौ च नेदमहं भवामीति भावना। एतत् प्रत्यक्षहोमे भावनीया भावना।

प्रागुदीरितकर्मोपासनाहोमोपासनाज्ञानयज्ञादिसकलतात्पर्यार्थं संगृह्णाति-यदस्तीति। तदात्मरूपमिति। नामरूपयोर्बाधादस्तिभात्योः-शुद्धात्मरूपतेतिभावः। ननु घटादिरेव भाति न तु भानमेव भातीत्यत आह-नान्यदिति। अन्यबाधात् तद्भानतत्सत्त्वयोरसिद्धेः इति भावः। कथं तर्हि घटो भातीत्यादि, तत्राह—स्वभावेति। स्वप्रकाशसंविदेव केवला सततं प्रतिभाति। तस्यां भासमानायां नाटकदीपतुल्यायां चित्रवद् ग्राह्यग्रहीत्रादयो मृषारूपा आयान्ति यान्ति चेति ते प्रतिभासन्त इत्युच्यन्त इति।

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्कृतस्य गायत्रीभाष्यस्य
श्रीकाशिकानन्दीयं विवरणम् ।

* * * * * * * * * * * *

सानुवादं गायत्रीमन्त्रभाष्यवार्तिकम्

अथ सम्बन्धभाष्यवार्तिकम्

अथ प्रथमः परिच्छेदः

ॐ

सच्चिदानन्दसदन-मनर्थपरिभर्जनम् ।
धियां प्रचोदनं ध्यायाम्यात्मानं ब्रह्म पावनम् ॥१॥

अनर्थहारी सच्चिदानन्दघन बुद्धिप्रेरणादायी आत्माका परमपवित्र ब्रह्मरूपसे हम ध्यान करते हैं। [सवितुः से सर्वाधिष्ठान सत्का, देवस्यसे चित्का, वरेण्यंसे आनन्दका, भर्गः से अनर्थ भर्जनका, धियो यो नः इत्यादि से बुद्धिप्रेरणाका नः से आत्माका और तत् से ब्रह्मका प्रतिपादन गायत्री मन्त्रमें द्रष्टव्य है।] ॥१॥

गायत्र्यै जगतां मात्रे वेदमात्रे नमो नमः ।
यस्यास्तत्त्वानुसन्धानात् कैवल्यं लभते नरः ॥२॥

वेदमाता अतएव जगन्माता गायत्री माताको मेरा बार-बार प्रणाम हो, जिसके अर्थतत्त्वके अनुसन्धानसे मनुष्यको कैवल्यकी प्राप्ति होती है ॥२॥

नमामि भगवत्पादं भाष्यकारं जगद्गुरुम् ।
तद्दर्शितदिशा वृत्तिं गायत्र्या विदधे शुभाम् ॥३॥

भाष्यकार जगद्गुरु भगवत्पाद शंकराचार्यको हम प्रणाम करते हैं। उनकी ही दिखाई दिशासे हम गायत्रीकी मङ्गलमयी वृत्तिका निर्माण करते हैं ॥३॥

सर्वार्थवेदजननी सर्वार्थप्रतिपादिका ।
गायत्री तत्र मुख्यार्थं संग्रहीष्याम्यपेक्षितम् ॥४॥

सर्वार्थबोधक वेदोंकी जननी होनेसे गायत्री सर्वार्थप्रतिपादिका है। यहां हम मुख्य अर्थका ही संग्रह करेंगे जो विशेषरूपसे मुमुक्षुओं के लिये अपेक्षित है ॥४॥

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥५॥

मनु महाराजका कहना है [२-३६] कि गर्भसे आठवें सालमें ब्राह्मण बालकका उपनयन संस्कार करना चाहिये, ग्यारहवें सालमें क्षत्रिय बालक का और बारहवें सालमें वैश्य बालकका ॥५॥

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥६॥

[२-३८] उत्तम वेदाध्ययनादिसे होनेवाला ब्रह्मवर्चस नामक तेजको चाहनेवाले विप्रबालकका पांचवें सालमें, बलार्थी क्षत्रियबालकका छठे सालमें और व्यापारादिकार्यार्थी वैश्यबालकका आठवें सालमें उपनयन करायें ॥६॥

सावित्रीं लभते सोऽयं कृतोपनयनो द्विजः ।
शिशुरेव गुरोस्तस्मादाबालसुलभा हि सा ॥७॥

उपनयनोत्तर द्विजबालक सावित्री अर्थात गायत्री मन्त्रको गुरुसे प्राप्त करता है। अतः यह मन्त्र आबालसुलभ है ॥७॥

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः ।
इत्याह मनुरेतस्या महीयस्त्वमशेषवित् ॥८॥

संयमी विप्रके लिये साररूपसे सावित्रीमात्र रह जाये तो भी वह श्रेष्ठ माना जायेगा इस प्रकार सर्वज्ञ मनुने इस गायत्रीका महत्व बताया है ॥८॥

ओंकारपूर्विकास्तिस्त्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव गायत्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥९॥

[२-८१] ॐकारपूर्वक, भूर्भुवः स्वः इन तीन अविनाशी महाव्याहृतियोंको तथा त्रिपदा गायत्री ब्रह्मका मुख समझो (मनु) ॥९॥

एतत्पूर्वकमध्येयं ब्रह्म वेदस्ततो मुखम् ।
द्वारत्वाच्च मुखं प्राप्तौ ब्रह्मणः परमात्मनः ॥१०॥

उक्त मानवश्लोकमें ब्रह्मपदका वेद तथा परमात्मा दोनों अर्थ है। वेदाध्ययन ॐकारादिपूर्वक होना चाहिये अतः वह ब्रह्ममुख है। परमात्माकी प्राप्तिका द्वार ॐकारादि है अतः वह ब्रह्ममुख है ॥१०॥

योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥११॥

जो तीन वर्षतक प्रतिदिन आलस्य छोड़कर ॐकार तथा व्याहृतिसहित गायत्रीका अर्थानुसन्धानपूर्वक जप करता है वह प्रथम वायुशरीर होकर यथाकामचारी (यथेच्छ सर्वलोकमें विचरणकरनेवाला) होता है, फिर आकाशशरीर (ब्रह्मस्वरूप) होकर ब्रह्मको पाता है ॥११॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः।
गायत्र्यास्तु परं नास्तीत्येवमप्यब्रवीन्मनुः ॥१२॥

ॐकार परब्रह्मस्वरूप है (क्योंकि वह ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन है) प्रणव तथा व्याहृतिसहित सशिरस्क गायत्रीजपपूर्वक प्राणायाम सबसे भारी तप है। गायत्रीसे बढकर कोई मन्त्र नहीं ऐसा भी मनुने [२-८३] कहा है ॥१२॥

जप्येनैव हि संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥१३॥

मनु महाराज कहते है [२-८७] जपादिसे ही ब्राह्मण मोक्षसिध्दियोग्य बन जाता है। अन्य यागादि करें या न करें। यहां ब्राह्मणका अर्थ मैत्र समझना। [जपे साधु जाप्यं अर्थात् जपमें जो उपयुक्त वह जप्य है। मैत्रका अर्थ है सर्वप्राणियोंमें मैत्रीसे युक्त] ॥१३॥

तज्जपश्च तदर्थस्य भावनं च फलप्रदम्।
तज्जप्यं तेन विज्ञेयः सम्यगर्थश्च साधुभिः ॥१४॥

मन्त्रजप तथा मन्त्रार्थभावन ये दोनों साथमें हों तब वह फलप्रद है (तज्जपस्तदर्थभावनम् ऐसा सूत्र है) इसीको जप्य करते हैं। अतः साधकोंको गायत्रीका अर्थ भी समझना चाहिये ॥१४॥

आबालसुलभामेतां तपोरूपां प्रबोधदाम्।
भाष्यकृज्जगदुद्धर्तुं व्याचचक्षे जगद्गुरुः ॥१५॥

इसीप्रकार सर्वसुलभ, तपोरूप, बोधदायी इस गायत्रीको जगतके उद्धारका सरल साधन होनेसे भाष्यकार जगद्गुरु भगवान शंकराचार्यने व्याख्यात्मक भाष्य लिखा ॥१५॥

आद्याभ्यामत्र पादाभ्यां तत्पदार्थः सशोधनम् ।
सहध्यानसहायं च गायत्र्यां विनिरूपितः ॥१६॥

इस गायत्रीमें प्रथम दो पादोंमें तत्पदार्थका पदार्थशोधनके साथ तथा सहायक ध्यानवर्णनादिके साथ निरूपण किया गया है ॥१६॥

तृतीयेन च पादेन त्वंपदार्थः सशोधनम् ।
सकर्मोपास्तिसाहाय्यं सरहस्यं निरूपितः ॥१७॥

तृतीय पादमें त्वंपदार्थका पदार्थशोधनपूर्वक, सहायक कर्म एवं उपासनाके साथ रहस्यपूर्ण तरीकेसे वर्णन किया गया है ॥१७॥

सामानाधिकरण्येन यत्तदर्थैक्यतस्तथा ।
निरूप्यते तयोरैक्यं महावाक्यार्थलक्षणम् ॥१८॥

प्रथम पादद्वयार्थ तथा तृतीयपादार्थका सामानाधिकरण्य होनेसे दोनोंकी एकता का निरूपण हो जाता है, तथा तत् यह इस प्रकार समानार्थक सर्वनामसे भी एकता प्रदिपादित है। यही असिपदार्थ या महावाक्यार्थ है ॥१८॥

किं चात्र निर्विशेषस्य सविशेषस्य चात्मनः ।
उपास्तिर्वर्णिता ब्रह्मसाक्षात्कारोपकारिणी ॥१९॥

और इस गायत्री मन्त्रमें निर्विशेष तथा सविशेष आत्माकी उपासनाका भी वर्णन है। जो ब्रह्मसाक्षात्कारकी उपकारी है ॥१९॥

किं चात्र सगुणोपास्तिः सकामानां कृते कृता ।
उभयार्थेऽपि सवितृशब्दस्य प्रदिपादनात् ॥२०॥

इसके अलावा सकाम पुरुषोंके लिये सगुणोपासनाका भी वर्णन है। क्योंकि सवितृ पद सगुणनिर्गुण दोनों अर्थोमें बताया है ॥२०॥

कर्माप्युक्तं धीपदस्य कर्मार्थेऽपि प्रयोगतः ।
सर्वोपकारिणी तस्माद् गायत्री भुक्तिमुक्तिदा ॥२१॥

गायत्रीमें कर्मका भी निरूपण है क्योंकि धी पदका कर्म अर्थमें भी प्रयोग होता है। इसप्रकार भोग-मोक्ष-उभयदायिनी गायत्री सर्वोपकारिणी है ॥२१॥

सर्वैः संभजनीयत्वमत एवाह भाष्यकृत् ।
गायत्र्या भजनीयत्वं तल्लिङ्गाद् भर्गसो यतः ॥२२॥

सर्वोपकारिणी होनेसे ही भाष्यमें वरेण्यं सर्वैः संभजनीयं ऐसी व्याख्या है। लिङ्गप्रमाणसे गायत्रीके द्वारा ही सर्वसंभजनीय है ॥२२॥

बर्हिर्देवसदो दामि मन्त्रोऽङ्गं लवने यथा ।
सर्वसंभजनीयत्वे गायत्र्यङ्गं हि लिङ्गतः ॥२३॥

बर्हिर्देवसदनं दामि (देवोंके बैठनेके लिये कुश काटता हूं) यहां किसमन्त्रसे काटना चाहिये यह बताया नहीं। तथापि लिङ्गप्रमाणसे यही मन्त्र कुशच्छेदनका मन्त्र हो जायेगा। वैसे वरेण्यं संभजनीयं कहनेपर किस मन्त्रसे वरण करना चाहिये यह बताया नहीं। तथापि लिङ्गप्रमाणसे गायत्री मन्त्रसे ही वरण (संभजन) किया जायेगा। गायत्री भजनाङ्ग होगा ॥२३॥

ननु स्त्रीणां च शूद्राणां नैवास्त्यत्राधिकारिता ।
सर्वैः संभजनीयाऽतो नैषा भवितुमर्हति ॥२४॥
उपनीतिस्त्रयाणां हि विप्रादीनां व्यधाच्छ्रुतिः ।
तेषामेवाधिकारश्च वेदाध्ययनकर्मणि ॥२५॥

पूर्वपक्षः-गायत्रीको सर्वोपकारिणी मानना ठीक नहीं है। क्योंकि स्त्री और शूद्रको इसमें अधिकार नहीं है। श्रुतियोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको ही उपनयनसंस्कार बताया है। उन्हींको वेदाध्ययनाधिकार भी है। "उपनयीत तमध्यापयीत" यहां उपनीतका ही अध्यय न बताया है ॥२४-२५॥

न च हानुपनीयैव तानुवाचेति दर्शनात् ।
विद्योत्कर्षकरत्वं वा विकल्पो वेति सांप्रतम् ॥२६॥
अप्रत्यक्षान्निषेधस्य विकल्पाद्यप्रसक्तितः ।
तदेतत्स्यात्समर्थेषु दोषाभावप्रदर्शनम् ॥२७॥

यदि यह कहा जाये कि छान्दोग्यमें "तान् हानुपनीयैव एतदुवाच" इस श्रुतिकथनसे उपनयन विद्याध्ययनाङ्ग नहीं हो सकता, उपनयन विद्योत्कर्षार्थ हो सकता है। या उपनयनका विकल्प माना जा सकता है तो इसपर यही वक्तव्य है कि "तान् हानुपनीयैव" इत्यादि भूतार्थवाद है। वह "उपनयीत" इस विधिको अनित्य नहीं बना सकता। समर्थ होनेसे उपनयन

न करानेपर भी अश्वपतिको दोष नहीं लगा इतना ही वहां तात्वर्य हो सकता है ॥२६-२७॥

अत्राह बादरिर्नाम महर्षिर्बहुशास्त्रवित् ।
न विधेः किन्तु कामेन प्राप्तमध्ययनं श्रुतेः ॥२८॥

बादरि ऋषिका उत्तरः-अध्ययन ही विधिसे गम्य नहीं है। उसका फिर अङ्ग क्या होगा? अध्ययन कामतः प्राप्त है। अतः यहां अधिकार-विचार नहीं हो सकता ॥२८॥

भोगस्वर्गापवर्गादिः सिध्दा वाञ्छा शरीरिणाम् ।
इच्छा विषयसौन्दर्यान्न विधेरिति निश्चयः ॥२९॥

भोग, स्वर्ग, अपवर्ग एवं धनादिकी इच्छा शरीरधारियोंमें स्वतः सिध्द है। अर्थात् विषयसौन्दर्यके कारण इच्छा होती है। फलमें या इच्छामें विधि नहीं होती ॥२९॥

तद्धेतवश्च कर्माद्यास्तत्कामानां श्रुतौ श्रुताः ।
स्वर्गकामो यजेतेति श्रीकामश्च जपेदिति ॥३०॥

भोगस्वर्गादिके प्रति कारणरूप कर्मादिमें स्वर्गादिकी कामनावाला ही अधिकारी है यह "स्वर्गकामो यजेत" "श्रीकामः सततं जपेत्" इत्यादि श्रुतियोंमें ही स्पष्ट है ॥३०॥

कर्मादीनां भवेद्धेतुर्वेदाध्ययनमित्यतः ।
अर्थप्राप्तं तदप्येव न तत्रापि विधेः क्रमः ॥३१॥

कर्मादिके प्रति वेदाध्ययन हेतु है। अतः वेदाध्ययन भी अर्थतः प्राप्त है। वहां भी विधिका पादप्रसार नहीं है ॥३१॥

स्वाध्यायोऽध्येय इत्यत्र नास्ति किंचिद्विशेषणम् ।
वाजपेये यथा विप्रो राजसूये नृपो यथा ॥३२॥

"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" यहां कोई विशेषण भी नहीं है। जैसे वाजपेय के लिये विप्र विशेषण है। राजसूयके लिये राजा विशेषण है ॥३२॥

विद्या पुस्तकपाठादेर्लभ्यतेऽध्ययनादपि ।
तस्मिन्नियमनार्थं तु स्वाध्यायाध्ययनश्रुतिः ॥३३॥

तो क्या "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" यह वचन व्यर्थ है? नहीं। कर्मोपयोगी विद्या पुस्तक-पाठादिसे तथा अध्ययनसे भी प्राप्य है। उनमें अध्ययनसे ही विद्या प्राप्त करना चाहिये ऐसे नियमार्थ वह नियमविधि है ॥३३॥

गुरोरध्ययनं तद्धि नैवोपनयनं विना ।
अर्थसिध्दमतः सिद्धं तस्योपनयनं तथा ॥३४॥

गुरुमुखसे अध्ययन जो पूर्वोक्त है वह उपनयनके बिना संभव नहीं। अतः उपनयन भी अर्थसिद्ध ही है ॥३४॥

उपाध्यायस्य सविधं विद्यार्थं प्रापणं बटोः ।
यत्तदेवोपनयनं शबरस्वाम्यभाषत ॥३५॥

विद्याके लिये उपाध्यायके पास पहुंचाना उपनयन है ऐसा शाबरभाष्यमें बताया है। चाहे वह आचार्यके द्वारा स्वयं बुलाकर हो या पिता आदि पहुंचाये ॥३५॥

ननूपनयनं नाम यज्ञसूत्रादिधारणम् ।
न चार्थसिध्दं तत् तेन विनाऽध्ययनसंभवात् ॥३६॥
तत्र चास्त्यधिकारित्वे ब्राह्मणादिविशेषणम् ।
उपनीतपरामर्शादधीतौ चेति चेन्न तत् ॥३७॥

पूर्वपक्षः-उपनयन तो यज्ञोपवितधारणादिको कहते हैं। वह अध्ययनके प्रति अर्थसिध्द नहीं है। जिसके विना जो संभव नहीं वही अर्थसिध्द है। उपनयनके विना भी पुस्तक पढ सकते हैं। अतः उपनयन विधिप्राप्त है। और विधिमें "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत" इत्यादि रीति ब्राह्मणादिका विशेषण है। "तमध्यापयीत" में तं से उपनीत ग्रहण होनेसे अध्ययनमें भी ब्राह्मणादि ही अधिकारी है ॥३६-३७॥

उपनीतिविधाने हि ग्रहैकत्ववदत्र च ।
विवक्षितुं न शक्यं स्यादुद्देश्यस्थं विशेषणम् ॥३८॥

यदि यहां उपनयनका विधान है तो "ग्रहं समार्ष्टि" में ग्रहकी एकताके समान उद्देश्यगत विशेषणकी विवक्षा नहीं होगी ॥३८॥

तस्मादत्रोपनयनमुपप्रापणमिष्यते ।
तच्च प्राप्तमनूद्यैव विप्रकालो विधीयते ॥३९॥

अतः यहां उपनयन उपप्रापण (पास बुलाना या ले जाना) ही है। वह प्राप्त है। उसका अनुवाद कर विप्रादिके लिये कालविधान मात्र यहां है ॥३९॥

न च वाच्यं ब्राह्मणत्वाद्यविवक्ष्यं तदा भवेत् ।
जातिशक्त्युररीकाराद् शक्यं तद्धि ग्रहत्ववत् ॥४०॥

उद्देशगत ब्राह्मणत्वकी भी फिर अविवक्षा होगी। नहीं। जातिशक्ति माननेसे वह उद्देश ही है ॥४०॥

यत्तु कालोऽविधेयत्वान्निमित्तमिति तन्न सत् ।
विना विधिप्रवेशं हि निमित्तं किं करिष्यति ॥४१॥

काल स्वतः आता है, विधेय नहीं हो सकता। अतः वह निमित्त मात्र है ऐसा कहना भी व्यर्थ है। विधिमें प्रवेश न हो तो निमित्त बनकर वह क्या करेगा? ॥४१॥

उपादेयं न तूद्देश्यं काम्यत्वाद् ब्राह्मणादिकम् ।
इति पक्षेऽपि वक्तव्यमग्रे व्यक्तीभविष्यति ॥४२॥

"ब्राह्मणमुपनयीत" आदिमें ब्राह्मणादि उपादेय है, उद्देश्य नहीं। क्योंकि यह काम्यविधि है। इस पक्षमें जो वक्तव्य है सो आगे स्पष्ट होगा ॥४२॥

शूद्रस्य कालो विहितो न श्रुत्येति यदा कदा ।
उपनेतुं शक्यते स शक्नोत्यध्येतुमेव च ॥४३॥

शूद्रके लिये श्रुतिने काल नहीं बताया, अतः कभी भी उपनयन करायें और पढायें ॥४३॥

अग्न्याधानेऽपि तुल्यं तत् येषां कालो न चोदितः ।
तत्राग्नीनादधीतेति सामान्यवचनं स्थितम् ॥४४॥

यही बात अग्न्याधानमें भी है ॥४४॥

अतश्च रथकारस्य वर्षास्वाधानमीरितम् ।
वेदाभावेऽग्निमाधत्तां शूद्रो ही रथकृत् कथम् ॥४५॥
वेदो निषादस्थपतिं याजयेदिति च व्यधात् ।
कथं च यजनं तेन क्रियेताध्ययनं विना ॥४६॥
तत्रावश्यकवेदांशमात्राध्ययनकल्पना ।
कुकल्पनैव भवति स्त्रीणामप्येवमेव च ॥४७॥

कुछ पण्डित कहते हैं कि "निषादस्थपतिं याजयेत्" यहां उसी यज्ञके उपयोगी कुछ ही मन्त्रोंको पढना अर्थापत्तिसे प्राप्त है। परंतु यह सब कुकल्पनामात्र है। यही बात स्त्रियोंके लिये भी है। यज्ञमें पतिके साथ पत्नी भी भाग लेती है। उनके लिये वक्तव्य कुछ मन्त्रोंको ही तत्काल उपदेशसे वे बोले इत्यादि कल्पना दुराग्रहमात्र है। और अर्थापत्तिप्रमाणकी दुर्दशा करना है ॥४५-४६-४७॥

पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा ॥४८॥

कुमारियोंका पुराकल्पमें उपनयन अभीष्ट है। वेदाध्यापन एवं गायत्रीवचन भी इष्ट है ऐसा यमस्मृतिवचन है ॥४८॥

प्रसाधिते पुरे गेहे नारीणामुपनायनम् ।
न तासामाश्रमे वास इत्येतदिह वर्णितम् ॥४९॥

"पुरं शरीरे नगरे गृहपाटलिपुत्रयोः" इस हेमकोशके अनुसार पुरका गृह अर्थ यहां लेना चाहिये। और "स्यादाकल्पः प्रसाधने" के अनुसार आकल्पका मण्डन या मण्डित अर्थ करना चाहिये। अर्थात सुन्दर घरमें नारियोंका उपनयन होता है। आश्रम जंगल आदिमें नहीं ॥५९॥

पूर्वकल्पार्थकत्वं तु न याम्येऽस्मिन् विवक्षितम् ।
अयं कल्पः पुरैव स्याद् भविष्यत्कल्पदृष्टितः ॥५०॥

उक्त यमस्मृतिमें पुराकल्पका पूर्वकल्प अर्थ नहीं है। क्योंकि वर्तमान कल्प भी भविष्यत्कल्पका पुराकल्प है ॥५०॥

अन्यथा त्विष्यत इति वर्तमानापदेशनम् ।
नावकल्पेत पठता न लभ्येत कदाचन ॥५१॥

यदि आजसे पूर्वकल्प ऐसा अर्थ मानेंगे तो इष्यते यह वर्तमान प्रयोग असंगत होगा। आज चाहनेसे पूर्वकल्पमें उपनयन कैसे होगा? इस वचनको पढकर उपनयनमें प्रवृत्त होना होगा। पूर्वकल्पमें जब इस वचनको पढेंगे तो उस पूर्वकल्पसे पूर्वतर कल्प उपस्थित होगा। फलतः उपनयनार्थ कोई कल्प ही नहीं मिलेगा। और वचन व्यर्थ होगा ॥५१॥

यज्ञोपवीतिनीं कन्यां प्रावृतामभ्युदानयत् ।
इत्याह गोभिलो गृह्ये तासां तत्त्वं ततः स्थितम् ॥५२॥

गोभिलने गृह्यसूत्रमें कन्याके आनयनमें विशेषण दिया है कि वह यज्ञोपवीतधारिणी हो, वस्त्रोंसे आवृत हो ॥५२॥

द्विविधा ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्व इति स्त्रियः ।
अग्नीन्धनादिकं सर्वं प्रथमानां निजे गृहे ॥५३॥
विवाहस्तु द्वितीयानां भवेदुपनयोत्तरम् ।
इत्येवमाह हारीतस्तच्चोक्तार्थसमर्थनम् ॥५४॥

हारितस्मृतिमें लिखा है- "द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे भिक्षाचर्या। सद्योवधूनां तूपनयनं कृत्वा विवाहः कार्यः।" अर्थात् दो प्रकारकी स्त्रियां है। एक ब्रह्मवादिनी वैराग्यवती और दूसरी सद्योवधू-ऋतुसे पूर्व विवाहित होनेवाली। इनमें ब्रह्मवादिनियोंको घरमें ही उपनयन, वेदाध्ययन अग्निहोत्र, भिक्षाग्रहण आदि होगा। सद्योवधुओंका उपनयनोत्तर विवाह होता है। इस स्मृतिसे पूर्वोक्त बात साबित होती है ॥५३-५४॥

पुरोऽनुवाक्यां यत्पत्नीमनुब्रूयादिति श्रुतिः ।
पत्नीं वाचयतीत्यन्या नाविद्वान् विहितोऽस्ति हि ॥५५॥

तैत्तिरीय ब्राह्मणमें (१-६-५-३) पुरोनुवाक्या मन्त्रोंको यजमानपत्नीके साथ बोलनेको कहा है। आश्वलायनोद्धृत (श्रौ. १-११) श्रुतिमें कहा है- पत्नीसे मन्त्र बुलवायें। अनपढ पत्नीसे नहीं। जैमिनि कहते हैं (३-८-१८) वाचन आदिके लिये अनपढ व्यक्ति विहित नहीं है ॥५५॥

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा ।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला ॥५६॥
प्रविश्य तु तदा रामो मातुरन्तःपुरं शुभम् ।
ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम् ॥५७॥

(वा. अयो. २०-१५-१६)

इति वाल्मीकिरब्रूत कोसल्याहवने मुनिः ।
कश्यपस्य वचश्चैवमदितिं प्रति दृश्यते ॥५८॥
अप्यग्नयस्तु वेलायां न हुता हविषा सति ।
त्वयोद्विग्नधिया भद्रे प्रोषिते मयि कर्हिचित् ॥५९॥

(भा. ८-१६-८)

वाल्मीकि रामायणमें कौसल्याके अग्निहोत्र हवनका वर्णन आया है— कौसल्या रेशमी वस्त्र पहनकर व्रतपूर्वक मन्त्रयुक्त अग्निहोत्र करती है इत्यादि। भागवतमें कश्यपजी अदितिको कहते हैं क्या तुमने मेरे वियोगमें अग्निहोत्रादि छोड़ दिया—इत्यादि ॥५६-५९॥

जैमिनिर्नाधिकारं तु मेने शूद्रस्य तेन सः ।
अपशूद्राधिकरणे विस्तरेण प्रपञ्चितः ॥६०॥

महर्षि जैमिनिने अपशूद्राधिकरणमें शुद्रको अध्ययनादिमें अनधिकार बताया ॥६०॥

स्वतः प्रवर्तते कालो विधातुं नैव शक्यते ।
ततः कालविशिष्टस्य विधानं कर्मणो भवेत् ॥६१॥
ब्राह्मणं बालमुद्दिश्य ह्यष्टवर्षोपनायनम् ।
विधीयते तथा क्षत्रवैश्यौ शूद्रे तु नैव तत् ॥६२॥

कृतिसे असाध्य कालका विधान नहीं हो सकता। अतः कालविशिष्ट उपनयनादि का ही विधान है। ब्राह्मणादिको उद्देश्यकर अष्टवर्षादिकालीन उपनयनका विधान है। शूद्रके लिये ऐसा विधान नहीं है ॥६१-६२॥

ननूद्देश्यं परिच्छिन्दन् कालः कर्म विशेषयेत् ।
ग्रहैकत्वं च पर्याप्त्या मार्जनस्य विशेषणम् ॥६३॥

पू. उद्देश्य ब्राह्मणादिका परिच्छेद करते हुए अष्टवर्षादि काल कर्मविशेषण हो वैसे एकत्वसंख्या भी पर्याप्तिसे ग्रहपरिच्छेद कर मार्जनविशेषण हो सकता है ॥६३॥

विधेयः कालसम्बन्धोऽनूद्योपनयनं ततः ।
ब्राह्मे मुहूर्त उत्तिष्ठेदित्यादौ हि विधौ यथा ॥६४॥

अतः प्राप्त उपनयनका अनुवाद कर कालसम्बन्धका ही विधान मानना चाहिये। जैसे विप्रोपनयन अष्टवर्षमें हो इत्यादि। कालसम्बन्ध क्रियोत्पत्ति द्वारा उत्पाद्य है। अतः विधेय हो सकता है। जैसे "ब्राह्मे मुहूर्त उत्तिष्ठेत्" इस विधिमें। उठना तो सबको है। उसमें कालसम्बन्ध-ब्राह्ममुहूर्त सम्बन्ध विधेय है ॥६४॥

अत्राहुर्नोपनयनमर्थप्राप्तमधीतये ।
यत्तान् हानुपनीयैतदुवाचेतीक्षणाच्छ्रुतौ ॥६५॥

उत्तर इसका यह देते हैं कि उपनयन अर्थप्राप्त नहीं है। अत एव "तान् हानुपनीयैतदुवाच" इस प्रकार छान्दोग्यमें अश्वपतिके प्रकरणमें बताया ॥६५॥

यद्विना नोपपद्येत तदर्थप्राप्तमुच्यते ।
विनोपनयनं विद्यामुवाचाश्वपतिः किल ॥६६॥

जिसके विना कार्य संपन्न न होता हो वही अर्थप्राप्त कहलाता है। विना उपनयन ही अश्वपतिने उद्दालकादिको विद्या बतायी तब उपनयन अर्थप्राप्त किस प्रकार? ॥६६॥

ननूपनयनं चेत्स्यादुपवीतादिधारणम् ।
उद्दालकादयः प्राज्ञाः श्रोत्रिया अतथा कथम् ॥६७॥
समीपप्रापणं तच्चेदर्थप्राप्तं कथं न तत्
स्वतो गमनतश्चेन्न क्रीडासक्ता हि बालकाः ॥६८॥
अर्थप्राप्तमतो नूनं बालानामुपनायनम् ।
अनूद्यैवाष्टवर्षादि कालस्तत्र विधीयते ॥६९॥

पूर्वपक्षः—उपनयन क्या है? यदि यज्ञोपवीतधारण है तो उद्दालकादि ऋषियोंका यज्ञोपवीत नहीं हुआ था क्या? "महाशाला महाश्रोत्रियाः" इत्यादि उनके लिये विशेषण आया है। यदि समीप प्रापण अर्थ है तो वह अर्थप्राप्त क्यों नहीं? स्वयं पासमें जानेसे भी तो अध्ययन हो सकता है। ठीक है, किन्तु आठ दस वर्षके बच्चे क्रीडासक्त होते हैं। अतः उनको जबर्दस्ती पास बुलाना ही पड़ता है। पढ़ानेके लिये। अतः प्राप्त उपनयनका अनुवाद कर अष्टवर्षादि कालका विधान है । ॥६७-६८-६९॥

नोपनीतिमपेक्षन्ते वृद्धा उद्दालकादयः ।
अपि चाश्वपतावासीन्नैवाचार्यत्वकामना ॥७०॥
यो वाचार्यत्वकामः स्याच्छिष्यानुपनयेत सः ।
आचार्यत्वं हि लभते नैवोपनयनं विना ॥७१॥

उद्दालकादि तो वयस्क थे। उनको उपनयनकी क्या जरूरत थी? और अश्वपतिको आचार्यत्वकी कामना भी तो नहीं थी। उपनयन कराये विना आचार्य नहीं बनते ॥७०-७१॥

श्रृणूपनयनं नाम यज्ञसूत्रादिधारणम् ।
वेदसामीप्यनयनं स्याददृष्टमुखेन तत् ॥७२॥

अथवा उपनयन यज्ञोपवीतादि देनेको ही कहते हैं। अदृष्टके द्वारा यज्ञोपवीतादिग्रहण वेदके समीप पहुंचाता है। तभी वास्तविक वेदग्रहण होगा जो कर्मफलपर्यन्त पहुंचायेगा ॥७२॥

पादपातनमर्थस्तु छान्दोग्ये लक्षणावशात् ।
उद्दालकमुखेष्वेतन्मुख्यार्थो यन्न संभवेत् ॥७३॥

छान्दोग्यमें लक्षणासे उपनयनका अर्थ पादपातन करना चाहिये। क्योंकि उद्दालकादि महाश्रोत्रिय होनेसे यज्ञोपवीत धारण करवाना अर्थ वहां संभव नहीं है ॥७३॥

ननूपेयादधीयीतेत्यर्थस्तत्र न चाधिकः ।
अन्यथा गुरुकर्तव्यं कथं स्याच्छिष्यबन्धनम् ॥७४॥

पूर्वपक्षः—जैसे "निषादस्थपतिं याजयेत्" का निषादस्थपतिर्यजेत् अर्थ माना है वैसे यहां बालक गुरुके पास जाये और अध्ययन करे इतना ही अर्थ है। अन्यथा यह गुरुका कर्तव्य होगा, वह शिष्यके लिये बन्धनकारी कैसे होगा ॥७४॥

विधिवच्चोपगमनं नमस्कारादिपूर्वकम् ।
नमस्कारादिकं त्वङ्गं लभ्यं शास्त्रान्तरेण हि ॥७५॥

'विधिवदुपसन्नः' इत्यादि वचनसे जो विधि बतायी है वह नमस्कारादिपूर्वकत्व ही है। वह शास्त्रान्तरसे प्राप्त होता है ॥७५॥

मैवं पूर्वोदितार्थस्तु स्मृतिप्रामाण्यतो भवेत् ।
उपनीतो भवेद्वेदानधीयीतेति गम्यते ॥७६॥

उत्तरः— स्मृतिप्रामाण्यसे यज्ञोपवीतादि धारण उपनयनका अर्थ है। अतः शिष्यकर्तव्यरूपमें यही व्याख्या करनी पड़ेगी कि वह प्रथम उपनीत हो फिर वेदाध्ययन करे ॥७६॥

अत्राहुरुक्तवाक्येन नैवोपनयनोर्ध्वता ।
सिध्येदध्यापनस्यायमाचार्यार्थोविधिर्यतः ॥७७॥

इस विषयमें अन्य विद्वानोंका कहना है कि "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत "इत्यादि वाक्यसे उपनयनोत्तर वेदाध्ययनका नियम सिद्ध नहीं होता। क्योंकि यह विधि आचार्यके लिये है, विद्यार्थीकि लिये नहीं ॥७७॥

संमाननोत्सञ्जनयोराचार्यकरणे तथा ।
ज्ञानादौ चात्मनेभाषा नयतेरुदिता स्मृतौ ॥७८॥

व्याकरणस्मृतिमें बताया है–"संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृति-विगणनव्ययेषु नियः" अर्थात् संमानन, उत्संजन, आचार्यकरण ज्ञान आदि अर्थमें नी धातुसे आत्मनेपद होता है। उपनयीत यह आत्मनेपद आचार्यत्वसंपादनार्थबोधक है ॥७८॥

तत्राचार्यत्वकामो यः स बालस्योपनायनम् ।
अध्यापनं च कुर्वीतेत्येष वाक्यार्थ इष्यते ॥७९॥

उक्त वाक्यमें वाक्यार्थ यही स्पष्ट है कि जो आचार्य बननेकी इच्छा रखता है वह ब्राह्मणादि बालकोंका उपनयन तथा अध्यापन कराये ॥७९॥

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् गुरुः ।
साङ्गं च सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥८०॥

"उपनीय तु यः शिष्यं" इत्यादि स्मृतिमें उक्त अर्थ बिलकुल स्पष्ट है॥८०॥

तत्स्वाध्यायमधीयीतेत्येषाऽधीतिविधायिका ।
तस्यां श्रुतौ नास्ति किंचिदधिकारिविशेषणम् ॥८१॥

बालकोंके लिये अध्ययनविधायक श्रुति तो "तस्मात् स्वाध्यायमधीयीत" स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यादि ही है। वहां अधिकारीके लिये कोई विशेषण नहीं है ॥८१॥

न च वाच्यं द्विजस्यैव वदत्यध्ययनं स्मृतिः ।
श्रुत्या प्रागेव सर्वेषां वेदाध्ययनबोधनात् ॥८२॥

यह कहें कि स्मृतियोंमें त्रैवर्णिकोंके लिये ही अध्ययनका वर्णन है, तो उसका उत्तर है कि स्मृतिसे पहले ही श्रुति सबके लिये वेदाध्ययन बता चुकती है। बादमें आनेवाली स्मृति इसमें संकोच नहीं कर सकती ॥८२॥

ननु यज्ञोपवीत्येवाधीयीतेति श्रुतौ श्रुतम् ।
सामान्यस्य विशेषे स्यादुपसंहार एव च ॥८३॥

पूर्वपक्षः– यज्ञोपवीतधारी अध्ययन करे ऐसा श्रुतिमें बताया है। तब "स्वाध्यायमधीयीत" इस सामान्यविधिका विशेषमें उपसंहार होनेसे यज्ञोपवीतरहित शूद्र कैसे अध्ययन करेगा? ॥८३॥

तन्नैवकारोऽत्राधीतेरनुवादं निबोधयेत् ।
यज्ञोपवीतं तस्याश्च भवेदङ्गं श्रुतेर्वशात् ॥८४॥

उत्तरपक्षः– एवकारसे अध्ययनका यहां अनुवादमात्र सिद्ध होता है। विधि नहीं। तब यह यज्ञोपवीतको अंगमात्र बतायेगा ॥८४॥

अङ्गाङ्गिनोरन्यतरलोपे प्राप्ते सतां वरैः ।
अङ्गलोपो विषह्येत नाङ्गिलोपः कदाचन ॥८५॥

अङ्ग और अङ्गीके लोपकी प्रसक्ति होनेपर मीमांसक लोग अङ्गलोप स्वीकार करते हैं, अङ्गिलोप नहीं ॥८५॥

बादरिस्तूपनयनं शूद्रस्यापि जगौ मुनिः ।
यदुपव्ययते देवलक्ष्ममेवेत्यतः श्रुतेः ॥८६॥

बादरिमुनि शूद्रका भी उपनयन कहते हैं। "उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते" ऐसी श्रुति है ॥८६॥

सा दर्शपूर्णमासस्था नैवान्यार्थेति चेन्न तत् ।
व्यर्थत्वान्नित्ययज्ञोपवीतेनैवार्थसंगतेः ॥८७॥

"उपव्ययते" यह श्रुति दर्शपूर्णमासप्रकरणमें स्थित होनेसे उसीमें उपयोगी है ऐसी शंका निराधार है। क्योंकि नित्ययज्ञोपवीत स्मृति आदिसे प्राप्त है। उसीसे यह गतार्थ है ॥८७॥

यस्त्वत्र विधिसामर्थ्याद् द्व्युपवीतत्वकल्पना ।
देवसामान्यलक्ष्यार्थवादेनैषा तिरस्कृता ॥८८॥

नित्योपवितित्व प्राप्त होनेपर भी विधिसामर्थ्यसे दो जनेउ पहननेकी जो कल्पना है वह देवसामान्यके लक्षणके रूपमें वर्णन करनेसे निरस्त हो जाती है। देवकार्यमात्रके लिये उपयोगित्व उससे सिद्ध है। प्रकरणसे वाक्य बलवान है ॥८८॥

यद्वा स्मृतेर्मूलवेदः कल्प्यते तमनूद्य च ।
शक्यते कालसम्बन्धो विधातुमुपनायने ॥८९॥

यदि "उपव्ययते" को नित्ययज्ञोपवीतविधि माननेमें अनुपपत्ति दीखती हो तो यज्ञोपवीतस्मृतिसे श्रुतिकी कल्पना करो। उसका अनुवाद कर अष्टवर्षादि कालद्विधान करो ॥८९॥

न च स्मृत्युदयात्पूर्वं द्विजादौ वर्त्स्यति श्रुतिः ।
वाक्यभेदान्नित्ययज्ञसूत्राऽप्राप्तेश्च तावता ॥९०॥

यह कहें कि "नित्ययज्ञोपवीती स्यात्" इस स्मृतिसे श्रुतिकल्पना द्वारा यज्ञोपवीतविधानसे पहले ही अष्टवर्षादि श्रुति द्विजातिका विधान करेगी तो वाक्यभेद होगा ॥९०॥

न हि काम्यविधिप्राप्तं नित्यं भवितुमर्हति ।
अत उक्तश्रुतेर्लभ्यमुपवीतं स्मृतेरुत ॥९१॥

काम्यविधिसे नित्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः उक्त श्रुति या स्मृतिसे ही वह प्राप्य है ॥९१॥

यज्ञोपवीती देवेभ्यः संदोहयति हीति गीः ।
समानार्थत्वतो लिङ्गाभासो न स्मृतिमूलवाक् ॥९२॥

"यज्ञोपवीती ह देवेभ्यो दोहयति" इस लिङ्गसे भी नित्योपवीत प्राप्त है। "उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते" के समानार्थ होनेसे इसे लिङ्गाभास मानना भी उचित नहीं। अन्य श्रुति उपलब्ध न होनेसे "नित्ययज्ञोपवीती" इस स्मृतिका इसे ही मूल मानना उचित भी है ॥९२॥

कथं हविष्कृदाधावेत्येतच्छातपथं वचः ।
उपपद्येत शूद्राणामयष्टृत्वेऽनधीतिनाम् ॥९३॥

"एहीति ब्राह्मणस्य, आगह्याद्रवेति वैश्यस्य राजन्यबन्धोश्च, आधावेति शूद्रस्य" (श. १-१-४-१२) ऐसी शतपथब्राह्मण श्रुति है। हविष बनानेके लिये यजमान को 'हविष्कृदेहि', 'हविष्कृदागहि', 'हविष्कृदाद्रव', 'हविष्कृदाधाव' ऐसा कहकर पुकारते हैं। क्रमशः ब्राह्मणादिके लिये ये चार वाक्य हैं। शूद्र यदि पढ़ नहीं सकता, यज्ञ नहीं कर सकता तो 'हविष्कृदाधाव' इस वचनका कोई मतलब ही नहीं होगा ॥९३॥

व्रतेऽपि मस्तु शूद्रस्येत्याधानीये जगौ श्रुतिः ।
यस्य नास्ति किलाधानं व्रतं तस्य तु कीदृशम् ॥९४॥

अग्न्याधानमें "पयो (दूध) व्रतं ब्राह्मणस्य, यवागू (लप्सी) राजन्यस्य, आमिक्षा (पनीर) वैश्यस्य, मस्तु (दहीकी छाली, मलाई) शूद्रस्य" इस प्रकार सबके लिये व्रत बताया है। शूद्रका अग्न्याधान ही नहीं तो व्रत क्या होगा? ॥९४॥

श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ।
इति स्मृतिमुदाजह्रुर्ब्रह्मानन्दयतीश्वराः ॥९५॥

श्री ब्रह्मानन्दसरस्वती वेदोंकी सर्वोद्धारकताको सिद्ध करनेके लिये इस स्मृतिका सहारा लेते हैं जहां बताया है कि ब्राह्मणको आगे रखकर चारों वर्णोंको श्रवण करायें ॥९५॥

ननु चात्र पुराणादेः श्रावणं स्याद्विवक्षितम् ।
मैवं श्रुत्या बोधनं हि श्रावणं परिकीर्तितम् ॥९६॥

यदि कहें कि पुराणोंका श्रवण करानेके लिये उक्त स्मृतिमें बताया है तो उसपर यही वक्तव्य है कि श्रुतिसे बोधन ही वस्तुतः श्रावण है ॥९६॥

पुराणाध्ययनं तावत्सूतादेरपि दृश्यते ।
तत्रापि नैव संकोचः शक्यः कर्तुं कथंचन ॥९७॥

सूतादिने पुराणोंका अध्ययन किया यह शास्त्रसिद्ध है। उसमें भी संकोच करना किसी भी प्रकार अभीष्ट नहीं है ॥९७॥

निषेधः पूर्वतापन्यां सावित्र्यादेर्य ईक्ष्यते ।
आचार्यपदसांनिध्यात् सविधिग्रहणे स च ॥९८॥

नृसिंहपूर्वतापिनीमें जो सावित्री आदिका स्त्री, शुद्रके लिये निषेध आता है वह भी विधिपूर्वक ग्रहणका ही निषध है। क्योंकि वहां आचार्यपद आया है ॥९८॥

अन्ये तु तत्र नेच्छन्ति स्वीशूद्रायेति हीरितम् ।
निषेधस्तत्र न स्पष्टो न विधिं रोद्धुमस्त्यलम् ॥९९॥

दूसरे लोग नृसिंहतापनीके बारेमें यही कहते हैं कि वहां "स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति" यह परानुवादमात्र है। स्पष्ट निषेध नहीं है। वह सामान्यविधिका

निरोध नहीं कर सकता। सामान्यविधि है– "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यादि ॥९९॥

ननु कर्तुरनिर्देशादाक्षेपात्तदुपस्थितिः ।
यावत्तावन्निषेधस्याप्याक्षेपो भवतीति चेत् ॥१००॥
मैवं कृतिर्न कर्तारं विनेत्याकाङ्क्षितत्त्वतः ।
शाब्दबोधात् पुरा कर्तृसामान्यमुपतिष्ठते ॥१०१॥

पूर्वपक्षः– "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" "स्वाध्यायमधीयीत" इन दोनों वाक्योंमें कर्तृनिर्देश न होनेसे आक्षेपसे कर्ताकी उपस्थिति होगी। तब तक निषेधका भी अनुमान हो जायेगा। फलतः कर्तृसंक्षेप होगा। उत्तरः–ऐसा नहीं होता। कृति या भावना कर्ताके विना संभव न होनेसे शाब्दबोधसे पहले ही कर्तृसामान्यकी उपस्थिति होगी। अधीयीतसे अध्ययनानुकूलकृतिः इतना बोध नहीं होता। क्योंकि क्रिया कर्तृसाकाङ्क्ष है ॥१००-१०१॥

वस्तुतस्तत्र सामाङ्गसावित्र्यादिर्निषिध्यते ।
महामन्त्रेऽधिकारं तु भाष्यकारोऽप्यभाषत ॥१०२॥

वस्तुतः नृसिंहतापनीमें सामाङ्ग सावित्री आदिका स्त्रीशूद्रके लिये निषेध है। अर्थात् सावित्री आदि अङ्ग सहित नरसिंह मन्त्रका निषेध किया है। न कि अन्यविध मन्त्रोंका। इन अंगोंसे रहित नरसिंह मन्त्रका भी स्त्रीशूद्रोंको अधिकार भाष्यकारने स्वयं कहा है ॥१०२॥

या घृणिः सूर्य आदित्य इत्यष्टाक्षरमन्त्रवाक् ।
सावित्री साऽत्र न त्वेषा गायत्री विवुवूर्षिता ॥१०३॥

और नृसिंहतापनीमें जो सावित्री बताया है वह यह व्याचिख्यासित (प्रस्तुत) गायत्री नहीं है। किन्तु वहीं अष्टाक्षर सावित्रीका वर्णन किया है। 'घृणिः सूर्य आदित्यः' उसीका निषेध भी है ॥१०३॥

स्त्रीशूद्रानधिकारे च नारसिंहं कथं मनुम् ।
भाष्यकारोऽनुमन्येत वैदिकं वेदगोपितम् ॥१०४॥

वहांका शांकरभाष्य है–"सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशुद्राय नेच्छन्तीति निषेधं कुर्वन् प्रधानोपासनायां स्त्रीशूद्रस्याप्यधिकारं दर्शयति" अर्थात् अङ्गरूप सावित्री आदिका निषेध करने से अर्थ यह निकलता है कि अङ्गी उपासना नारसिंहमन्त्रोपासना स्त्री और शूद्र कर सकते हैं। उसमें उनको

अधिकार है। किन्तु विचारणीय बात है कि नरसिंहमन्त्र वैदिक होनेसे उसमें स्त्रीशूद्राधिकार भाष्यकारने कैसे कहा? वह वैदिक क्या, वेदमें भी गुप्तरूपसे वर्णित है। यहांका प्रकरण मन्त्रोपासनाका ही है। अतः वेदमें सर्वाधिकार भाष्यानुमत है ॥१०४॥

क्वचिद्भाष्ये निषेधोक्तिः पूर्वाचार्यानुरोधतः ।
स्वाभिप्रायस्त्विहैवोक्त इति युक्तं पुरेरितम् ॥१०५॥

अपशूद्राधिकरणमें भाष्यकारने जो स्त्रीशूद्राधिकार निषेध बताया वह पूर्वाचार्यानुरोधसे लिखा। यहां श्रुतिव्याख्यामें स्वाभिप्राय बताया। अतः भाष्यकारके मतसे गायत्री आदिमें सर्वाधिकार मानना ही उचित है ॥१०५॥

संकोचश्चेत्पुरोडाशे स्याच्चतुर्धाकृतेर्विधेः ।
वेदाधीतेर्निषेधस्य सावित्रादौ कथं न सः ॥१०६॥

और एक बात यह है कि "आग्नेयं चतुर्धा करोति" इस सामान्यविधिका यदि "पुरोडाशं चतुर्धा करोति" में संकोच होता है तो "स्त्रीशूद्रौ वेदान्नाधीयीयातां" इस निषेधका "सावित्रीं प्रणवं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति" में संकोच क्यों न किया जाये? ॥१०६॥

यत्तु शूद्रसमीपेऽपि नाध्येतव्यमिति स्मृतिः ।
बाधिता दर्शितस्मृत्या नीचार्थे पर्यवस्यति ॥१०७॥

"तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्" ऐसी एक स्मृति आती है। परन्तु उसमें "श्रावयेच्चतुरो वर्णान्" इस स्मृतिसे बाधित होनेके कारण शूद्रपद नीच शूद्रादि अर्थपरक ही होगा ॥१०७॥

तन्त्रजेनैव गायत्र्या शूद्रोऽपि प्रजपेन्मनुम् ।
इत्याह शम्भुर्गायत्री-तन्त्रे शूद्रस्य तज्जपम् ॥१०८॥

तन्त्रोक्त विधानसे गायत्री या गायत्रीपुटित स्वेष्टमन्त्रका जप शूद्र भी करे ऐसा शंकरजीने गायत्रीतन्त्रमें बताया है ॥१०८॥

प्राप्तान् द्विजत्वं क्रमशो गायतस्त्रायतेऽखिलान् ।
इत्यतः सर्वसुखभू-र्गायत्रीतीतरे जगुः ॥१०९॥

कीटपतङ्गादिपर्यन्त सर्वोद्धार लक्ष्य होनेसे क्रमशः इसी जन्ममें या जन्मान्तरमें द्विजत्वको पाकर गायत्रीका जप करनेवाले सबको सुख शान्ति पहुंचानेवाली गायत्री है ऐसी भी यहां व्याख्या करते हैं ॥१०९॥

सर्वसंभजनीयत्वं भाष्ये यत्प्राह भर्गसः ।
आद्ये यथाश्रुतं पक्षे द्विजसंकोच्यदोऽन्तिमे ॥११०॥

भाष्यकारने वरेण्यं सर्वैः संभजनीयं ऐसा जो अर्थ किया उसका बादरिमतानुसार यथाश्रुत अर्थ होगा। जैमिनिमतानुसार सर्वशब्दके अर्थमें संकोच कर सर्व द्विजका ग्रहण करना होगा ॥११०॥

सर्वथाप्येव बालानामप्येषा सुग्रहेति ताम् ।
जगद्धितार्थं भगवान् व्याचचक्षे जगद्गुरुः ॥१११॥

जैसा भी हो गायत्री मन्त्र बालकोंके लिये भी ग्रहण करना आसान है। अतः जगतके हितार्थ भाष्यकारने इस मन्त्रपर भाष्य लिखा ॥१११॥

इति सम्बन्धवार्तिकम्

* * * * * * * * * * *

* * *

ॐ तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्
भाष्यः-यः सविता देवो

गायत्री मन्त्रमेवादौ मङ्गलाचरणात्मना ।
प्रणवेन सहाधीते ॐ तदित्यादि भाष्यकृत् ॥११२॥

भाष्यकार मङ्गलाचरणके रूपमें ओंकारके साथ गायत्री मन्त्रको ही ग्रन्थके आदिमें पढ़ते हैं। [यदि सप्रणव गायत्रीको प्रथम न पढ़ते तो प्रतीकधारण आवश्यक था जो मन्त्रका प्रतिनिधित्व करता। किन्तु प्रतीक-धारण न होनेसे पूर्ण मन्त्रका ही प्रथम पाठ अवगत होता है] । ॥११२॥

तत्पदं यत्पदोक्तार्थपरामर्शकमित्यतः ।
यत्पदार्थं प्रथमतो ब्रूते यः सवितेत्यतः ॥११३॥

भाष्यमें "धियो यो नः प्रचोदयात्" इस तृतीय पादकी व्याख्या प्रथम की है। उसका कारण यह है कि "तत्सवितुः" यहां तत्पद यत्पदके अर्थका परामर्शक है। अतः प्रथम यत्पदका अर्थ समझना आवश्यक है ॥११३॥

बुद्धिस्थः पूर्वपदतः सविता यत्पदास्पदम् ।
प्रयोगस्तेन पुँल्लिङ्गे य इत्येष समञ्जसः ॥११४॥
न च क्लीबेऽपि सवितृ-शब्दोऽस्तीति तु सांप्रतम् ।
देवस्येति प्रयोगेण संशयस्याऽप्रसक्तितः ॥११५॥

बुद्धिस्थ सविता यत्पदार्थ होनेसे 'यः' ऐसा पुल्लिङ्ग प्रयोग है। यद्यपि अपौरुषेय वेदमें बुद्धिस्थ कहना कठिन है तथापि पूर्वपद "सवितुः" आया है। उसीसे संगति है। शंका होगी कि सविता पद नपुंसकमें भी होता है। प्रसविता उत्पादयिता इतना अर्थ जब है तब वह पुल्लिङ्ग नियत नहीं होता। उत्तर है "देवस्य" यह आगे आया हुआ है। देव पद पुल्लिङ्गमें ही है ॥११४-११५॥

ननु क्लीबं तदित्येतत्तत्परामर्शकं हि यत् ।
मैवं समस्तं तदिति स चासौ सविता च सः ॥११६॥
यद्वा सुपां सुलुगिति षष्ठीलोपो निबुध्यताम् ।
न सादेशो भवेत् षष्ठ्यां न समासेऽपि लुग्वशात् ॥११७॥

परंतु परामृश्य तत् पद नपुंसकमें है। तब 'यः' कैसा? उत्तर है—स चासौ सविता तत्सविता तस्य तत्सवितुः ऐसा समस्त पद मान लो। वस्तुतः वेदमें 'सुपां सुलुक्' इस सूत्रसे षष्ठीका लोप किया हुआ है। षष्ठीमें सादेश नहीं होता। "तदोः सः सावनन्त्ययोः" यह सु में ही लागू होता है। समासमें भी लुक् से लुप्त होनेसे सादेश नहीं होता ॥११६-११७॥

भाष्यः-नोऽस्माकं

अन प्राणन इत्यस्य रूपे मा स्म भवेद् भ्रमः ।
इत्यतो विवृणोत्येतन्नोऽस्माकमिति भाष्यकृत् ॥११८॥

अन प्राणने धातुका 'अनः' ऐसा रूप होता है। योऽनः यः प्राणः प्राणदेवता ऐसी व्याख्या भी हो सकती है। किन्तु प्रकृतमें यह अस्मत् शब्दका ही रूप है इस आशयसे नोऽस्माकं ऐसी व्याख्या भाष्यकारने की ॥११८॥

भाष्यः-धियः कर्माणि

कर्मनामसु धीशब्दं निघण्टौ कश्यपोऽपठत् ।
धियो यज्ञादिकर्माणि प्रेरयेद् देव एष नः ॥११९॥

भाष्यमें धियः कर्माणि बताया है। निघण्टुमें कश्यप ऋषिने धी शब्दको कर्मपर्यायमें पढ़ा है। यहां यज्ञादि कर्म धी शब्दका अर्थ समझना चाहिये ॥११९॥

अनिष्पन्ना न शक्यन्ते काश्चित् प्रेरयितुं क्रियाः ।
निष्पन्नाश्चेत् प्रेरणया कस्तत्रातिशयो भवेत् ॥१२०॥
न च नोऽस्मान् प्रेरयेद्य इति स्याच्छक्ययोजनम् ।
अनन्वयो भवेत्तर्हि धिय इत्युक्तकर्मणाम् ॥१२१॥

कर्माणि प्रेरयेत् का क्या अर्थ होगा? क्या अनुत्पन्न कर्मको देव प्रेरित करता है यह अर्थ? या निष्पन्न कर्मको? प्रथम पक्षमें जो उत्पन्न ही नहीं, अस्तित्वमें ही नहीं आया उसको क्या प्रेरित कर सकते हैं? द्वितीय पक्षमें उत्पन्न कर्ममें प्रेरणासे क्या अतिशय होगा? हिंसा हो गयी तो क्या वह देवप्रेरणासे अहिंसा हो जायेगी? यदि कहते हैं "नः प्रचोदयात्" हमें देव प्रेरित करें ऐसा अन्वय है तब धियः का कहां अन्वय होगा? ॥१२१॥

धीषु सत्कर्मसु स नः प्रेरयेदिति चेन्मतम् ।
सप्तम्यन्तेन भाव्यं स्याद्धीशब्देन तदा मनौ ॥१२२॥

धी अर्थात् सत्कर्ममें वह हमें प्रेरित करे ऐसा यदि अर्थ है तो 'धीषु' ऐसा सप्तमी विभक्तिका प्रयोग करना चाहिये था ॥१२२॥

प्रचोदयतिरेष स्यान्नयत्यर्थे द्विकर्मकः ।
सप्तम्यर्थे द्वितीया चेन्नार्थग्रहणमिष्यते ॥१२३॥
किं च नोऽस्माकमित्येव भाष्यकारा विवव्रिरे ।
तत्रार्थः कीदृगिति चेदत्रेदमभिधीयते ॥१२४॥

नयति अर्थमें प्रचोदयात् का प्रयोग माना जाये। नयति के पर्यायोंके प्रयोगमें सप्तम्यर्थमें द्वितीया होती है। जैसे ग्राममजां नयति। उत्तर है नयति का अर्थग्रहण नहीं है और भाष्यकारने 'नः अस्माकं' ऐसा कहकर षष्ठी मानी है और धियः कर्माणि कहकर सप्तमीकी विवक्षा नहीं दिखायी। तब अर्थ कैसे संभव है? इस प्रश्नपर हम यही कहेंगे कि—

सन्ति संस्काररूपाणि सूक्ष्मकर्माणि यानि नः ।
तानि प्रयोजयेद् येन सत्कर्माणि भवन्तु नः ॥१२५॥

संस्काररूपसे सूक्ष्म कर्म हमारे अन्दर जो हैं उन्हें सविता देव प्रेरित करता है तो उनसे सत्कर्म हमारे उत्पन्न होंगे ॥१२५॥

अथवा कर्मशक्तीर्नः सविता यः प्रचोदयेत् ।
प्रवर्तेमहि येनैव वयं यज्ञादिकर्मसु ॥१२६॥

अथवा कर्मका कर्मशक्ति अर्थ कर लेना चाहिये। जो कर्मशक्तिको प्रेरित करता है जिससे यज्ञादि कर्ममें हमारी प्रवृत्ति होती है (उस सविताका हम ध्यान करते हैं) ऐसा अन्वय संभव है ॥१२६॥

ननु साधु तथाऽसाधु प्रेरयेदुभयं प्रभुः ।
अधो निनीषुः सोऽसाधुन्युन्निनीषुश्च साधुनि ॥१२७॥

पूर्वपक्षः— परमात्मा साधु तथा असाधु दोनों प्रकारके कर्म करवाता है। उपर उठानेके लिये सत्कर्ममें प्रवृत्त कराता है, गिरानेके लिये असत्कर्ममें प्रवृत्त कराता है ॥१२७॥

सत्यं प्राप्ते प्रार्थनेयं विशेषे पर्यवस्यति ।
तथा चायमिहार्थः स्यात् सद्धियो नः प्रचोदयात् ॥१२८॥

बात सही है। किन्तु प्राप्तके लिये प्रार्थना करनेपर वह विशेष अर्थमें पर्यवसित होगा। सत्कर्ममें प्रेरित करें यही अर्थ होगा ॥१२८॥

यद्वाऽस्तु कर्मसामान्यप्रयोजकपरं वचः ।
तथापि प्रार्थनाहेतोः सत्कर्मैव प्रयोजयेत् ॥१२९॥

अथवा सर्वकर्मप्रेरक ही अर्थ मान लो तथापि प्रार्थनाके मध्यमें पठित होनेसे सत्कर्म प्रेरकमें पर्यवसान होगा ॥१२९॥

राजन् सर्वसमर्थोऽसि दीनस्त्वां समुपैम्यहम् ।
इत्युक्तो न निहन्त्येनं किन्तु रक्षति भूपतिः ॥१३०॥

हे राजन्, आप सर्वसमर्थ हैं, मैं दीन हूं, आपके पास आया हूं। ऐसा कहनेपर क्या राजा उसे मार डालता है? वह उसकी रक्षा ही करता है ॥१३०॥

ननु च प्रार्थनाशक्तिर्यच्छब्दनिहता लिङः ।
मैवं गम्या तथाप्येव प्रार्थना प्रोक्तवाक्यवत् ॥१३१॥

पूर्वपक्ष उठता है कि 'यः' इस यत् शब्दके जुड़नेसे लिङ् की प्रार्थनाशक्ति समाप्त हो जाती है। किन्तु राजन् सर्वसमर्थोऽसि इत्यादि पूर्ववाक्यमें लिङ् के न होनेपर भी जैसे रक्षण प्रार्थना गम्यमान है वैसे यहां पर भी प्रार्थना गम्यमान होनेसे कोई असमञ्जसता नहीं है ॥१३१॥

उपासनापि कर्मैव प्रोच्यते मानसात्मकम् ।
तत्रापि प्रेरणं भूयादित्येतच्च विवक्षितम् ॥१३२॥

उपासना भी मानसकर्म ही है। अतः उसमें भी प्रेरणा हो यह भी यहां अभिव्यक्त है ॥१३२॥

परे कर्मेन्द्रियपरं भाष्ये कर्मपदं विदुः ।
तानि प्रयोजयत्येष कर्म कुर्वन्त्यतो नराः ॥१३३॥

दूसरी व्याख्या इस प्रकार है कि भाष्यमें कर्मपद कर्मेन्द्रियपरक है। उनको प्रेरित करनेवाला परमात्मा है जिससे लोग कर्ममें प्रवृत्त होते हैं ॥१३३॥

योऽन्तः प्रविश्य वाचं मे संजीवयति पूरुषः ।
हस्तपादादिकान् प्राणानपीत्याह पुरा ध्रुवः ॥१३४॥

"योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां संजीवयति" इत्यादि ध्रुवस्तुतिमें उक्तार्थ स्पष्ट है ।

ननु ज्ञानेन्द्रियाणां च पुरुषः प्रेरकः स्मृतः ।
सत्संप्रचोदनार्थं च कुतो न प्रार्थना भवेत् ॥१३५॥
श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्येवं स्पष्टं तलवकारिभिः ।
श्रोत्रादिप्रेरकत्वेन परमात्मा निरूपितः ॥१३६॥

कर्मेन्द्रियोंका ही प्रेरक क्यों? परमात्मा ज्ञानेन्द्रियोंका भी तो प्रेरक है। "अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्" इस ध्रुवस्तुतिमें ज्ञानेन्द्रियां भी गृहीत हुई है। "श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः" इत्यादि श्रुतिमें भी वैसा निरूपण है ॥१३५-१३६॥

मैवमुन्मीलिते नेत्रे ज्ञानं स्याद् वस्तुतन्त्रतः ।
श्रौत्रस्य श्रोत्रमित्येतत् प्रकाशकतयोदितम् ॥१३७॥

उत्तर सुनो। नेत्र खोल दिया तो वस्तुके अधीन ज्ञान स्वतः होता है। उसमें परमात्मा प्रकाशक है इतना ही "श्रोत्रस्य श्रोत्रं" इत्यादि श्रुतिका अर्थ है ॥१३७॥

चक्षुरुन्मीलनाद्यं तु कर्म कर्मेन्द्रियोद्भवम् ।
यद्वा मानसकर्मोत्थमिति नात्र पृथक्कृतम् ॥१३८॥

आंख खोलना, जीभ चलाना आदि कर्म तो कर्मेन्द्रियजन्य है। यदि पलक आदिमें कर्मेन्द्रिय न भी मानें तो भी मानस कर्मसे आंख खोलना, कान देकर सुनना आदि संभव है। अतः पृथक् कहा नहीं ॥१३८॥

उभयात्मेन्द्रियं चेति सांख्या व्याचक्षते मनः ।
तस्मात्कर्मेन्द्रियत्वेन मनसोऽप्युपसंग्रहः ॥१३९॥

स सांख्यशास्त्रमें मनको ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय उभयात्मक बताया है। "उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्" अतः कर्मेन्द्रिय कहनेसे मनका भी ग्रहण हो जाता है ॥१३९॥

इत्थं चोपासनाप्येव कर्मेन्द्रियभवा भवेत् ।
संग्रहस्तेन तस्याश्च धीशब्देनोपपद्यते ॥१४०॥

मन कर्मेन्द्रियान्तर्गत होनेसे उपासना भी कर्मेन्द्रियजन्य होगी और धी पदसे उसका भी संग्रह हो जायेगा ॥१४०।

कर्मेन्द्रियप्रेरणाद्धि कर्मप्रेरणसंभवात् ।
निघण्टौ कर्मपर्यायपाठेऽप्यस्येह न क्षतिः ॥१४१॥

यद्यपि निघण्टुमें धी शब्द कर्मपर्यायमें पाठ है। तथापि कर्मप्रेरण कर्मेन्द्रियप्रेरणसे ही संभव है। अतः कर्मेन्द्रिय अर्थ करना असंगत नहीं है ॥ १४१॥

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रायश्चित्तं चतुर्विधम् ।
ग्राह्यं कर्म निषिद्धं तु वर्ज्यं पञ्चममुच्यते ॥१४२॥

नित्य, नैमित्तिक काम्य तथा प्रायश्चित्त ये चार प्रकारके कर्म ग्राह्य हैं। पांचवां निषिद्ध कर्म हैं। वह वर्ज्य कर्म है ॥१४२॥

संन्ध्यादि नित्यं ग्रहणश्राद्धादि तु निमित्तजम् ।
ज्योतिष्टोमादिकं काम्यमन्त्यं चान्द्रायणादिकम् ॥१४३॥

नित्यकर्म सन्ध्यावन्दनादि है। नैमित्तिक ग्रहणश्राद्धादि है। काम्य ज्योतिष्टोमादि है। चान्द्रायणादि प्रायश्चित्त है ॥१४३॥

एतानि ग्रहणीयानि काम्यं तु फलकामिनाम् ।
स्वर्गाद्यर्थं, मनःशुद्ध्या जिज्ञासार्थमकामिनाम् ॥१४४॥

उक्त चारों कर्म ग्राह्य हैं काम्य कर्म फलकामना हो तो स्वर्गाद्यर्थ होगा। और कामनारहित हो तो मनकी शुद्धिके द्वारा जिज्ञासोत्पदानार्थ होगा ॥१४४॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥१४५॥
ते च यज्ञेन दानेन वेदानुवचनेन च ।
विप्रा विविदिषन्त्येतं तपसानाशकेन च ॥१४६॥

"यज्ञदानतपः कर्म" इत्यादि गीता वचनमें कर्मको मनकी शुद्धिके लिये कर्तव्य बताया। और "तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि श्रुतिमें विविदिषार्थ बताया। दोनोंको मिलानेपर मनःशुद्धिपूर्वक विविदिषार्थ कर्म है यह अर्थ सिद्ध होता है ॥१४५-१४६॥

यज्ञादिभिर्मनःशुद्ध्या विद्या विविदिषोत वा ।
श्रुतिस्मृतिभ्यामेताभ्यां संपाद्येति निगद्यते ॥१४७॥

उक्तार्थ ॥१४७॥

उपास्तिर्मानसं कर्म प्रत्ययावृत्तिलक्षणम् ।
शाण्डिल्यविद्याप्रभृतिर्वैदिकोपास्तिरुच्यते॥१४८॥

उपासना मानस कर्म है। प्रत्ययों (मानस वृत्तियों)की आवृत्तिरूप है। शाण्डिल्यविद्या आदि वैदिक उपासना है ॥१४८॥

शिवस्य विष्णोः सूर्यस्य गणेशाम्बिकयोरपि ।
पूजादिलक्षणोपास्तिः पुराणेषु विशेषतः ॥१४९॥

शिव, विष्णु, सूर्य, गणेश एवं अम्बिका इन पांच देवोंकी उपासनाका जो पूजा आदि स्वरूप है वर्णन पुराणोंमें विशेषरूपसे देखनेको मिलेगा ॥१४९॥

प्रेमलक्षणया भक्त्या पूजादिर्यद् विधीयते ।
शिवादीनां तदेतद्धि सर्वकामफलप्रदम् ॥१५०॥

प्रेमलक्षणा भक्तिसे शिव, विष्णु आदिका जो पूजन किया जाता है वह सर्वकामफलदायी है। अर्थात् "पूजादिष्वनुराग" इत्यादि सूत्रके अनुसार अनुरागयुक्त पूजादिरूप भक्ति भी कर्म होनेसे "धियः" से ग्राह्य है ॥१५०॥

वरेण्यपदसांनिध्याद् भक्तिसंयुतमेव च ।
लभ्यते कर्म तच्चाग्रे यथास्थानं प्रवक्ष्यते ॥१५१॥

'वरेण्यं' इस विशेषणके सांनिध्यसे भक्तियुक्त कर्म-उपासनाकाभी लाभ है। वरेण्यंसे भक्ति अर्थ की प्राप्ति उसी पदके व्याख्यानकालमें बतायेंगे ॥१५१॥

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषोत्तमम् ॥१५२॥

निष्कामभावसे हो या अनेकविध कामनाओंसे या मोक्षकामनासे हो, उदारमति होकर तीव्रभक्तियोगसे पुरुषोत्तमका पूजन करे ऐसा भागवतमें बताया है। भक्तियोगेन यजेत का अर्थ है प्रेमलक्षणा भक्तिसे पूजनादि करें ॥१५२॥

चित्तवृत्तिनिरोधस्य मुख्यत्वे योग उच्यते ।
सभक्तीष्टेश्वरध्यानमुख्या चोपास्तिरुच्यते ॥१५३॥

चित्तवृत्तिनिरोध मुख्य हो-चाहे वह वितर्कविचारादिपूर्वक हो या यथाभिमतध्यानपूर्वक हो योग कहलाता है। और सभक्ति ईश्वराकारक ध्यान मुख्य हो तो उसको उपासना भक्ति कहते हैं ॥१५३॥

श्रवणं किर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥१५४॥
एतस्या नवधा भक्तेरुत्तमाधीतिरूपताम् ।
प्रह्लाद उक्त्वा स्वाध्यायक्रियात्मत्वमसूसुचत् ॥१५५॥

श्रवण, किर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन ऐसी नवधा भक्तिको प्रह्लादजीने उत्तम अध्ययन बताया है।- "तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्।" इसका मतलब हुआ कि यह स्वाध्यायरूपी

क्रियायोग है। "तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।" अतः यह मानसकर्मरूपी उपासना है ॥१५४-१५५॥

एषु सत्कर्मसु सदा सविता प्रेरयेदिति ।
निःश्रेयसादिलाभाय प्रार्थ्यते परमेश्वरः ॥१५६॥

पूर्वोक्त सभी प्रकारके कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मोंमें सविता हमें प्रेरित करे जिससे अभ्युदय निःश्रेयसकी प्राप्ति हो यही प्रार्थना "धियो यो नः प्रचोदयात्" में की जा रही है ॥१५६॥

दोषाणां विनिहन्त्रीषु धीषु कर्मस्वपीश्वरः ।
यथास्वं प्रेरयतु नः सवितेत्यप्युदीर्यते ॥१५७॥

अध्यात्मपथके प्रतिबन्धक दोषों को सर्वथा नष्ट करनेवाली कर्मरूप धीमें परमेश्वर सविता यथायोग्य प्रेरित करे यह बात भी यहां बतायी जा रही है ॥१५७॥

दोषाश्च मलविक्षेपावरणाख्यास्त्रयो मताः ।
मलस्य कर्मणोपास्त्या विक्षेपस्य निबर्हणम् ॥१५८॥

अध्यात्मपथके दोष मल विक्षेप एवं आवरण है। इनमें मलका यज्ञादि कर्मसे नाश होता है। विक्षेपका उपासनासे नाश होता है ॥१५८॥

तथैवावरणापायो भवति श्रवणादिभिः ।
यतःप्रकाशते ब्रह्म यस्माद् भूयो न जायते ॥१५९॥

आवरणकी निवृत्ति श्रवणादिसे होती है। उसीसे ब्रह्मका प्रकाश होता है और मोक्ष होता है॥१५९॥

ज्ञानोत्पत्तिं प्रति भवेद् यत्पापं प्रतिबन्धकम् ।
तदेतन्मलमित्याहुस्तन्नाशोऽकामकर्मतः ॥१६०॥

यद्यपि मलविक्षेपादि दुरितरूप है तथापि फरक अलग-अलग प्रकारके पाप होनेसे है। ज्ञानकी उत्पत्तिके प्रति जो प्रतिबन्धक है वह मल कहलाता है। उसका नाश निष्काम कर्मसे होगा ॥१६०॥

श्रुत्वाप्येनं परात्मानं वेद नैव च कश्चन ।
इत्याह बोधानुत्पत्तिं हरिः समलचेतसाम् ॥१६१॥

गीतामें- श्रवण करनेपर भी कईयोंकों ज्ञान नहीं होता ऐसा बताया है। अर्थात् मलदोषयुक्त होनेपर ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती ॥१६१॥

ज्ञानस्थितौ यद् दुरितं भवति प्रतिबन्धकम् ।
स विक्षेप इति ख्यातः स्थैर्यं न लभते यतः ॥१६२॥

ज्ञानकी स्थितिमें जो प्रतिबन्धक है उसे विक्षेप कहते हैं। विक्षेप हो तो ज्ञान उत्पन्न होने पर भी वह नहीं टिकता, स्थिर नहीं होता ॥१६२॥

यथा वदति कल्याणीं वाचं दानपते भवान् ।
तथा तया न तृप्यामि मर्त्यः प्राप्य यथाऽमृतम् ॥१६३॥
तथापि सूनृता सौम्य हृदि न स्थीयते मम।
पुत्रानुरागविषमे विद्युत्सौदामिनी यथा ॥१६४॥
इति प्रावोचदक्रूरं विक्षेपचलिताशयः ।
परमार्थोपदेष्टारं धृतराष्ट्रो विदन्नपि ॥१६५॥

विक्षेपसे चञ्चलचित धृतराष्ट्र परमार्थ-उपदेश करते हुये अक्रुरके प्रति कहते हैं कि हे अक्रुर ! तुम अति सुन्दर बात बोल रहे हो, समझमें आ रहा है और इसीलिये तृप्ति नहीं हो रही है। किन्तु हृदयमें बिजलीके समान चमककर चली जाती है, स्थिर नहीं होती। क्योंकि पुत्रानुरागसे मेरा चित्त विषम हो रहा है-विक्षिप्त हो रहा है ॥१६३-१६४-१६५॥

प्रतिबन्धकमंहो यद् भवेज्ज्ञानफलोद्भवे ।
तदावरणमित्याहुः केचिदत्र मनीषिणः ॥१६६॥

ज्ञानका फल उत्पन्न होनेमें जो प्रतिबन्धक पाप है उसे संत आवरण मानते हैं ॥१६६॥

वदन्ति तच्च पुरुषापराधं गुरवो हि ते ।
अधिकारिकृताऽऽवृत्तश्रवणादिभिदेलिमम् ॥१६७॥

संक्षेपशारीरककार आदि गुरुजन इसे पुरुषापराध शब्दसे कहते हैं। विवेकवैराग्यादियुक्त अधिकारी जब आवृत्तिसे (बारबार) श्रवणादि करते हैं तभी इस पापपुञ्जका भेदन होता है ॥१६७॥

दिने दिने तु वेदान्तश्रवणाद् भक्तिसंयुताद्।
गुरुशुश्रुवणाच्चैव कृच्छ्राशीतिफलं लभेत् ॥१६८॥

प्रतिदिन भक्तिपूर्वक वेदान्त श्रवण करनेसे और गुरुसेवा करनेसे अस्सी कृच्छ्रचान्द्रायण करनेका फल मिलता है ॥१६८॥

पापात्मके चावरणे निवृत्ते श्रवणादितः ।
महावाक्योद्भवं ज्ञानं मायातत्कार्यभञ्जनम् ॥१६९॥

श्रवणादिकी आवृत्तिसे पापात्मक आवरण निवृत्त हो जाता है तो महावाक्यसे उत्पन्न ज्ञान माया और उसके कार्य प्रपञ्चको निवृत्त करेगा ॥१६९॥

अन्येऽसंभावनामत्र विपरीतां च भावनाम् ।
ब्रह्मस्वरूपानुभवे वदन्ति प्रतिबन्धिकाम् ॥१७०॥

अन्य आचार्य इस विषयमें यह कहते हैं कि ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारके असंभावना और विपरीत भावना ये दो प्रतिबन्धक हैं ॥१७०॥

प्रमाणसंशयध्वंसि श्रवणं सविधि श्रुतेः ।
प्रमेयसंशयोच्छेदि मननं श्रुतवस्तुनः ॥१७१॥

श्रवणसे प्रमाणसंशय (प्रमाणासंभावना) की निवृत्ति होती है। श्रुतार्थके मननसे प्रमेयसंशय की निवृत्ति होती है ॥१७१॥

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे प्रत्ययावृत्तिलक्षणम् ।
ध्यानं साक्षात्कृतेर्बीजं निदिध्यानसनमुच्यते ॥१७२॥

श्रवण और मननसे संशयरहित तत्त्वमें प्रत्ययावृत्तिरूपी ध्यान निदिध्यासन कहलाता है जो साक्षात्कारमें बीज है ॥१७२॥

षड्लिङ्गैः श्रुतितात्पर्यविचारः श्रवणं मतम् ।
परमार्थं सदद्वैतं परं यदवधारयेत् ॥१७३॥

उपक्रम उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद एवं उपपत्तिरूप छः लिंगोंसे श्रुतितात्पर्यविचार करना-जो अद्वैतनिश्चयमें हेतु है, श्रवण है ॥१७३॥

तर्कैश्च युक्तिभिश्चैव दृष्टान्तैः श्रुतिसंमतैः ।
अनुमानोद्भवकरो विचारो मननं भवेत् ॥१७४॥

तर्कोंसे, युक्तियोंसे (हेतुसे) तथा दृष्टान्तोंसे जो श्रुतियोंके अनुकूल हैं, यथार्थानुमानकारी विचार मनन कहलाता है ॥१७४॥

तिरस्कृत्य विजातीयान् प्रत्ययान् ब्रह्मगोचरम् ।
वृत्तिप्रवाहणं ध्यानं निदिध्यासनमुच्यते ॥१७५॥

ब्रह्मेतरविषयक वृत्तियोंको हटाकर ब्रह्माकार वृत्तियोंको प्रवाहित करना जो ध्यानात्मक है, निदिध्यासन है ॥१७५॥

श्रवणाद्यास्त्रयोऽप्येवं मानस्यः कथिताः क्रियाः ।
ताश्च स्युर्धीपदग्राह्याः सविता प्रेरयेत्सदा ॥१७६॥

इसप्रकार श्रवण मनन और निदिध्यासन तीनों ही मानसक्रियारूप सिद्ध होते हैं। अतएव वे भी "धियः" इस पदसे ग्राह्य है। उनको भी सविता प्रेरित करें ॥१७६॥

कर्मोपास्तियुतो मर्त्यः सकामः स्वर्गमाप्नुयात् ।
इहापि लभते सौख्यं पश्चादुत्तमजन्म च ॥१७७॥

पुरुष सकाम हो तो कर्म एवं उपासना से स्वर्गादि प्राप्त करेगा, इहलोकमें भी सुख पायेगा। पश्चात् उत्तम जन्मको भी प्राप्त कर सकेगा ॥१७७॥

निष्कामस्तु हरिं ताभ्यां प्रतोष्य हतकिल्विषः ।
प्रबोधहेतुमभ्येति विवेकादिचतुष्टयम् ॥१७८॥

निष्काम पुरष कर्म एवं उपासनासे हरिको प्रसन्न कर निष्पाप हो विवेकादि चार साधनोंको प्राप्त करता है जो ज्ञानके हेतु हैं ॥१७८॥

सविवेका सवैराग्या सशमादिर्मुमुक्षता ।
श्रवणादिफले ज्ञाने ह्यधिकारिविशेषणम् ॥१७९॥

विवेक, वैराग्य एवं शमादिसे उत्पन्न तीव्र मुमुक्षता श्रवणादिजन्य ज्ञानफलके अधिकारीका विशेषण है ॥१७९॥

स्वर्गकामो यजेतेति ह्यधिकारविधिर्यथा ।
श्रुणुयान्मोक्षकामो हीत्यधिकारविधिस्तथा ॥१८०॥

"स्वर्गकामो यजेत" यह जैसे अधिकारविधि है वैसे मोक्षकामः श्रुणुयात् यह भी अधिकारविधि है ॥१८०॥

विप्रक्षत्रादिवत्तत्र विवेक्यादिर्विशेषणम् ।
अन्येऽवच्छेदिकामाहुर्मोक्षेच्छायां तु तज्जताम् ॥१८१॥

ब्राह्मणो यजेत, राजा यजेत इत्यादि स्वर्गकाम अधिकारीका विशेषण है वैसे विवेकी श्रुणुयात् इत्यादि भी मोक्षकाम अधिकारीका विशेषण है। कुछ लोग मानते हैं कि मोक्षेच्छारूपी अधिकारितामें अवच्छेदक है विवेकादिजन्यत्व। विवेकादिजन्य विलक्षण मुमुक्षुतावाला अधिकारी है यह पक्षान्तर दृष्टव्य है ॥१८१॥

सामान्याध्ययनाद् वृद्धवाक्यात् सत्सङ्गतस्तथा ।
नित्यानित्यविवेकःस्यादुपासावीध्रचेतसाम् १८२॥

सामान्य वेदाध्ययनसे, वृद्धजनवाक्यसे एवं सत्संग से नित्यानित्यविवेक होता है जिनका हृदय उपासनासे पवित्र हुआ है उनको ॥१८२॥

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।
इति ब्रुवन् नित्यसुखरूपत्वं स्वमसूसुचत् ॥१८३॥

गीतामें भगवान् कहते हैं- अनित्य और असुख इस लोकको प्राप्त होकर मेरा भजन करो। अर्थात् मेरा स्वरूप नित्य एवं सुखरूप है उसीका भजन करना उचित है ॥१८३॥

ततश्चासुखरूपत्वाद् वैराग्यं लोकतः सताम् ।
शमो दमश्चोपरतिस्तितिक्षा च प्रजायते ॥१८४॥

अनित्यता और असुखरूपताका अनुभव करनेवाले सत्पुरुषोंको संसार से वैराग्य हो ही जाता है तो संसारमें मन नहीं लगता। उसके दर्शन स्पर्शनादिसे वे अलग रहने लगते हैं। उसकी प्राप्तिके निमित्त कर्मोंको छोड़ देते हैं और उससे होनेवाली तकलीफकी परवाह नहीं करते यही शम, दम, उपरम और तितिक्षा है ॥१८४॥

श्रद्दधात्येष सद्धर्मं समाधत्ते मनः सति ।
तदा मुमुक्षा तीव्रा स्यादधिकारित्वकारणम् ॥१८५॥

संसारसे उपरत होते ही भगवत् धर्ममें श्रद्धा होने लगती है और सत्पक्ष में मन समाहित होने लगता है। यही तो "भजस्व मां" का रहस्य है। तब तीव्र मुमुक्षा होती है जो अधिकारी का विशेषण है ॥१८५॥

भाष्य-धर्मादिविषया वा बुध्दीः

लोके सर्वत्र धीशब्दो बुद्धावेव प्रयुज्यते ।
क्वचित् कर्मार्थता वेदे युक्ता लाक्षणिकी ततः ॥१८६॥

परंतु लोकमें धी' शब्द का प्रयोग बुद्धि अर्थमें ही आया है। क्वचित् वेदमें कर्म अर्थमें प्रयोग आया है। वह तो लक्षणासे भी संभव है ॥१८६॥

क्रिया नाम परिस्पन्दपरिणामात्मिका मता ।
स्पन्दमाने बहिर्ज्ञाने तदङ्कुरवदुद्भवेत् ॥१८७॥

क्रिया परिस्पन्दका परिणाम है। बाहरकी ओर ज्ञान स्पन्दित होता है तो अङ्कुरके समान क्रिया उद्भूत होती है। ऐसा आचार्योने बताया है ॥१८७॥

तज्जन्यत्वेन ताच्धब्द्यं लोकेऽपि बहुधेक्ष्यते ।
लाङ्गलं जीवनमिति भुज्यन्ते तण्डुला इति ॥१८८॥

कारणबोधक शब्दका कार्यमें प्रयोग लोकमें देखा जाता है। जैसे किसान कहता है-मेरा जीवन हल है। लोग कहते हैं -हम चावल खाते हैं। चावलका अर्थ है चावलसे उत्पन्न भात। वैसे यहांपर भी धी शब्दका लक्षणासे धी से उत्पन्न कर्म अर्थ किया जा सकता हैं ॥१८८॥

किं चोपास्तिर्भवेल्लभ्या कर्मार्थत्वे कथंचन ।
ज्ञानलाभस्तु न भवेद् न्यूनत्वं तत आपतेत् ॥१८९॥

दूसरी बात यह है कि कर्म अर्थ करनेपर कर्म तथा उपासना दोनोंका जैसा-तैसा ग्रहण तो हो जायेगा पर ज्ञानका लाभ नहीं होगा और उसी कारण न्यूनताकी प्रसक्ति है ॥१८९॥

सर्वोपग्राहकतया धीपदं धिषणार्थकम् ।
व्याचख्यौ भाष्यकृत्तस्माद् धर्मादिविषयत्वतः ॥१९०॥

अतः कर्म, उपासना एवं ज्ञान इन तीनोंका संग्रह करने लिये भाष्यकार धर्मादिविषयक बुद्धि ऐसा दूसरा अर्थ करतें हैं ॥१९०॥

धर्मादिविषयाः सत्यो यथा स्युर्बुद्धयस्तथा ।
प्रेरयेत्ताः प्रार्थितः सन् यो देवः सवितेति सः ॥१९१॥

बुद्धि धर्मादिविषयिणी एवं सद्बुद्धिरूपिणी बने वैसे सविता देव हमारी प्रार्थनासे प्रेरित करें (पूर्व बतायी हुई रीतिसे प्रार्थनाके बलसे तात्पर्यतः उक्तार्थलाभ है) ॥१९१॥

दृष्टानुमोपमाशाब्दीकल्पनानुपलब्धयः।
षडित्यतो धिय इति बहुत्वं सूपपद्यते ॥१९२॥

दृष्ट(प्रत्यक्ष), अनुमिति, उपमिति, शाब्दी (शाब्दबुद्धि) कल्पना (अर्थापत्ति) एवं अनुपलब्धि इस प्रकार सद्बुद्धि छः होनेसे "धियः" ऐसा बहुवचन सूपपन्न है ॥१९२॥

दृष्टधीरिन्द्रियोत्था स्यात् क्वचिच्छब्दोद्‌भवा तथा ।
दशमस्त्वं तत्त्वमसीत्यादौ प्रत्यक्षदर्शनात् ॥१९३॥

चक्षुरादि इन्द्रियोंसे उत्पन्न धी (ज्ञान) प्रत्यक्ष कहलाती है। कहीं शब्दसे भी प्रत्यक्ष होता है। जैसे दशमस्त्वम्, तत्त्वमसि आदिमें ॥१९३॥

दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु त्वत्तनूनां महात्मनाम् ।
प्रार्थ्यते प्रेरणैवात्र यमलार्जुनयोः स्फुटा ॥१९४॥

"दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनां" इस स्तुतिवाक्यमें यमलार्जुन अपनी दृष्टिकी प्रेरणाके लिये प्रार्थना करते हुए लक्षित होते हैं ॥१९४॥

अनुमा लिङ्गधीजन्या मतिः सादृश्यजोपमा ।
शाब्दी शब्दोद्‌भवा चार्थिक्यर्थापत्तिसमुद्‌भवा ॥१९५॥

व्याप्तिज्ञानसे उत्पन्न बुद्धि अनुमिति है। सादृश्यज्ञानसे उत्पन्न बुद्धि उपमिति है। शब्दसे उत्पन्न बुद्धि शाब्दबोध है। अर्थापत्तिसे उत्पन्न बुद्धि आर्थिक या अर्थापत्ति बुद्धि है ॥१९५॥

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
लिङ्गदर्शनतो गोप्यो राधामनुममुस्तथा ॥१९६॥

पादचिह्नों से गोपियां अनुमान करती है कि अवश्य ही इसने पूर्वमें भगवान्‌की आराधना की है अतएव यह राधा ही है॥

शिवविष्ण्वादिलिङ्गेन तत्तज्ज्ञानं च जायते ।
तत्र च प्रेरयत्वीशो यतो भक्तिसमुद्‌भवः ॥१९७॥

शिवलिङ्ग नर्मदेश्वरादि, विष्णुलिङ्ग शालग्रामादिसे शिव विष्णु आदिका ज्ञान होता है उसमें भी परमात्मा की प्रेरणा हो जिससे भक्ति-उत्पन्न होती है ॥१९७॥

आकाशवत् सर्वगतं सुसूक्ष्ममिति वाक्यतः ।
ज्ञायतेऽभौतिकं किंचिद् व्यापकत्वं विलक्षणम् ॥१९८॥
दृष्टान्तविरहस्यापि दृष्टान्तैस्तत्त्वमीक्ष्यते ।
तत्रापि प्रेरकः सोऽयं सविता प्रेरयत्वसौ ॥१९९॥

परमात्मा आकाशके समान सर्वगत और परम सूक्ष्म है इस श्रुतिसे प्रथम आकाशके सदृश सर्वगतत्वादिजानकर जो विलक्षण स्वरूप ज्ञात होता है वह उपमा है। दृष्टान्तके अविषय भी ब्रह्म दृष्टान्तोंसे समझा जाता है। उसमें प्रेरक परमात्मा सविता है। वह हमें प्रेरित करे ॥१९९॥

सत्यज्ञानादिशब्दार्थशुद्धब्रह्मधियं पराम् ।
जगद्भ्रमार्थसिद्धात्मधियं च प्रेरयत्यसौ ॥२००॥

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि तत्पदार्थादि शोधक वाक्यसे शुद्धब्रह्मबुद्धि एवं जगत् भ्रमसे अर्थापत्ति सिद्ध अधिष्ठान आत्मबुद्धिको भी वही परमात्मा प्रेरित करता है ॥२००॥

ऋतम्भरायां निर्बीजयोगे चावीक्षितुर्जगत् ।
अद्वैतब्रह्मविषयां धियमुद्भावयेत् परः ॥२०१॥

ऋतम्भरा प्रज्ञामें तथा निर्बीज समाधिमें जगत्के न दीखनेसे अनुपलब्धि प्रमाणसे जगत्सत्यत्वाभाव एवं अद्वैतत्वकी धी (ज्ञान) होती है। उसके लिये परमात्मा प्रेरणा करे ऐसी यहां प्रार्थना है ॥२०१॥

इमाः षडनुसन्धानसप्तमा विविदुः प्रमाः ।
स्मृत्या सह धियस्त्वष्टौ पण्डिता व्याचचक्षिरे ॥२०२॥
मत्तः स्मृतिश्चज्ञानं चेत्युक्तं भगवता स्वयम् ।
प्रेरकोऽतश्च बुद्धीनां परमात्मा प्रसिध्यति ॥२०३॥

ये पूर्वोक्त छः (प्रत्यक्षादि) प्रमा है। अनुसन्धानको (मानस प्रत्यक्षको) सप्तम प्रमा मानते हैं। स्मृति अष्टम है। "मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च" इस गीता वचनके अनुसार स्मृतिका भी परमात्मा ही प्रेरक सिद्ध होता है ॥२०२-२०३॥

धर्मादिविषयेत्यत्र धर्मो यागादिरुच्यते ।
आदिनोपास्तिविषया सद्ब्रह्मविषयापि वा ॥२०४॥

भाष्यमें "धर्मादिविषया" इस शब्दमें धर्मपदसे यज्ञ, दानादि ग्राह्य है। आदि पदसे उपासनाविषयक बुद्धि या ब्रह्मविषयक बुद्धि ग्राह्य है ॥२०४॥

ततश्च मलपिक्षेपावरणानां परिक्षयः ।
प्रागुक्तः स्पष्टतो लभ्य इति भाष्यकृदाशयः ॥२०५॥

उसमें मल-विक्षेप एवं आवरण की निवृत्ति (जो पूर्वमें बतायी) स्पष्टतः संपन्न होती यह भाष्यकारका आशय है ॥२०५॥

यद्वा भाष्येऽत्र वाकारः समुच्चयपरो मतः ।
कर्माणि प्रेरयेद् देवो ज्ञानान्यप्यखिलेश्वरः ॥२०६॥

अथवा यहां भाष्यमें वाकार समुच्चयार्थक माना जायेगा। कर्म तथा ज्ञान दोनोंको वह ईश्वर प्रेरणा करता है ॥२०६॥

तथा चात्र प्रविश्यान्तःसाक्षी सन् प्रेरयेत् परः ।
तस्मादत्रान्तरात्मत्वं निर्दिशत्यात्मनः श्रुतिः ॥२०७॥

वह पर आत्मा साक्षीरूपमें अंदर प्रवेशकर प्रेरणा करता है। अतः श्रुतिः यहां आत्माकी अन्तरात्मताका निर्देश करती है ॥२०७॥

योऽन्तरात्मा भवन् ज्ञानकर्मेन्द्रियधियां प्रभुः ।
प्रेरयत्येष स इति त्वंपदार्थविशोधनम् ॥२०८॥

जो अन्तरात्मा होकर ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय एवं अन्तःकरणको प्रेरित कर सत्कर्म सदीक्षण एवं धर्मादिविषयक बुद्धि उत्पादनार्थ प्रेरणा करता है ऐसा वह सविता देव इस प्रकार यहां तृतीय-पादमें त्वंपदार्थका निरूपण है, शोधन है ॥२०८॥

भाष्य-प्रचोदयात् प्रेरयेत्

चुद प्रेरण इत्यस्य रूपमेतत् प्रचोदयात् ।
प्रकर्षस्तु स्वतन्त्रत्वादुत्कर्षार्थत्वतोऽपि च ॥२०९॥

चुद प्रेरणे इस धातु का प्रचोदयात् रूप है। प्र उपसर्गसे प्रकर्ष द्योतित होता है। प्रवर्तनमें परमात्मा स्वतन्त्र है। वही प्रकर्ष है। तथा उत्तम प्रेरणा अभीष्ट होनेसे भी प्र उपसर्गका प्रयोग है ॥२०९॥

लेडन्तस्य प्रयोगोऽयं लेटोऽडाटौ किलागमौ ।
लिङ्र्थे लेडयं तेन प्रेरयेदित्यभाषत ॥२१०॥

प्रचोदयात् यह लेट् का प्रयोग है। "लेटोऽडाटौ" इस सूत्रसे आट्का आगम है। "लिङ्र्थे लेट्" इस सूत्रके अनुसार लिङ् के अर्थमें लेट् का प्रयोग होनेसे 'प्रेरयेत्' इस प्रकार भाष्यमें लिङन्तसे व्याख्या की ॥२१०॥

प्रवर्तयेदसौ किन्तु यत्नाभावान्न तज्जगौ ।
केनेषितं प्रेरितं सत् पततीत्याह च श्रुतिः ॥२११॥

यद्यपि 'प्रवर्तयेत्' ऐसा भी कह सकते थे। किन्तु प्रवर्तनार्थ यत्नकी आवश्यकता न होनेसे वैसा नहीं कहा। "केनेषितं पतति प्रेषितं मनः" इस श्रुतिमें उक्त बात स्पष्ट है ॥२११॥

स्वच्छास्वच्छौ मतौ भागौ द्वावन्तःकरणस्य यौ
तत्र ज्ञानक्रियाशक्ती चेतनप्रतिबिम्बतः ॥२१२॥

अन्तःकरणके दो भाग हैं। एक स्वच्छ भाग हैं, दूसरा अस्वच्छ भाग है। स्वच्छ भागमें चेतनका प्रतिबिम्ब होनेपर ज्ञानशक्ति और अस्वच्छ भागमें चेतनका प्रतिबिम्ब पड़नेपर क्रियाशक्ति होती है ॥२१२॥

ज्ञानशक्ति मनः प्राणः क्रियाशक्तिरुदीरितः ।
आद्येन मानसं ज्ञानमन्तःस्पन्दोऽपरेण च ॥२१३॥

ज्ञानशक्तिवाला भाग मन कहलाता है और क्रियाशक्तिवाला भाग प्राण कहलाता है। ज्ञानशक्तिसे मानसज्ञान और क्रियाशक्तिसे अन्तःस्पन्द होता है ॥२१३॥

मनो ज्ञानेन्द्रियैर्युक्त्वा बहिर्ज्ञानाय कल्पते ।
प्राणः कर्मेन्द्रियैर्युक्त्वा कल्पते बाह्यकर्मणे ॥२१४॥

मन ज्ञानेन्द्रियों से युक्त होता है तो बाह्य ज्ञान होता है। प्राण कर्मेन्द्रियोंसे युक्त होता है तो बाह्य क्रिया होती है ॥२१४॥

पृथगेवोपतिष्ठेते सार्धं रूपरसौ यथा ।
ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती तथान्तःकरणे सह ॥२१५॥

जैसे रूप और रस एक ही जगह पृथक् पृथक् रहते हैं वैसे ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति अन्तःकरणमें साथ ही रहती हैं। स्वच्छ अस्वच्छ यह समझाने की प्रक्रियामात्र है ॥२१५॥

मुख्यं प्राणं स्पन्दकृतमाह सर्वप्रवर्तकम् ।
अन्तःकरणयुक्तं तु बिम्बं तमपरे विदुः ॥२१६॥

यदि कर्मेन्द्रिय वागादिका प्रवर्तक प्राण एवं ज्ञानेन्द्रिय चक्षुरादिका प्रर्वतक मन है तो मुख्य प्राणको सर्वप्रवर्तक श्रुतियोंमें कैसे कहा? इस शंका का उत्तर यही है कि मुख्य प्राण ही स्पन्दनकारी है। अन्य आचार्य यह कहते हैं कि अन्तःकरणविशिष्ट बिम्बचैतन्य ही मुख्यप्राण है। विशिष्ट होने ही से प्राणोत्क्रमणादि उपपन्न है ॥२१६॥

आत्मा सांनिध्यमात्रेण सर्वमेव प्रवर्तयेत् ।
अतश्च प्रेरयेद् देव इत्युक्तं कृत्यभावतः ॥२१७॥

आत्मा (शुद्ध चैतन्य) सान्निध्यमात्रसे सबको प्रवर्तित करता है। अत एव कृति (प्रयत्न) न होनेसे "प्रेरयेत्" इतना ही कहा ॥२१७॥

इन्द्रियैर्विषयच्छायां प्राप्य चित्तं तदाकृति ।
यदात्मच्छायया दीप्येत् प्रत्यक्षं तन्निगद्यते ॥२१८॥

आत्मा के सांनिध्यसे चुंबकसनिहित लोहेके समान कर्मेन्द्रियप्रवृत्ति भले हो, पर ज्ञानेन्द्रिय प्रवृत्ति कैसे होगी? सुनो। इन्द्रियोंसे चित्त विषयकी छाया ग्रहण करता है तो विषयाकार होता है। वह आत्मछाया से दीप्त होता है यही प्रत्यक्ष है। इसमें आत्मा ही मूल हुआ ॥२१८॥

लिङ्गाद्यैर्विषयाकारमच्छायं भासते मनः ।
तच्चात्मच्छायया तद्धि परोक्षमिति कीर्त्यते ॥२१९॥

व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञानादिसे विषयछायाके विना ही मन विषयाकार होकर आत्मछायासे भासित होता है वह परोक्षज्ञान है। वहां भी आत्मा ही अपनी छायासे भासित प्रवर्तित करता है ॥२१९॥

स चाकारः सूक्ष्मभूतः संस्कार इति कथ्यते ।
उद्बोधात् स्थूलभावाप्त आत्मदीप्तः स तु स्मृतिः ॥२२०॥

वही विषयाकार चित्तवृत्ति सूक्ष्म होनेपर संस्कार कहलाती है। उद्बोधकसे कालान्तरमें वह स्थूलभावको प्राप्त होता है तो आत्मछायासे दीप्त होता है। यही स्मृति है। यहां भी आत्मा ही प्रेरक है ॥२२०॥

पूर्वकर्माशयोद्बोधादीश्वरेच्छावशादपि ।
इष्टसाधनताबुद्ध्या तत्रेच्छा ज्ञातवस्तुनि ॥२२१॥

वस्तु का अपरोक्ष या परोक्ष ज्ञान होनेपर पूर्वकर्म या वासना के उद्बोधसे और ईश्वरेच्छासे उस विषयमें इष्टसाधनता बुद्धि उत्पन्न होती है और उस विषयमें इच्छा होती है ॥२२१॥

द्विष्टसाधनताबुद्धौ द्वेषोऽपि बहुधा भवेत् ।
प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा तत एवोपजायते ॥२२२॥

हां, उसी प्रकार पूर्वकर्माशयसे द्विष्टसाधनता बुद्धि हुई तो द्वेष भी उत्पन्न होता है। तब यथायोग्य प्रवृत्ति या निवृत्ति होगी। कहीं उपेक्षा भी होगी ॥२२२॥

ईश्वरेच्छादिसहितां बुध्दिं सान्निध्यमात्रतः ।
प्रवर्तयति यः सोऽयं त्वंपदार्थो विविच्यते ॥२२३॥

ईश्वरेच्छा, कर्म एवं वासनासहित बुद्धिको जो सांनिध्यमात्रसे प्रवर्तित करता है वही शुद्ध त्वंपदार्थ है ॥२२३॥

नन्वीश्वरः स सविता प्रेरको यत्पदास्पदः ।
त्वंपदार्थस्तु न इति प्रोक्तो भवितुमर्हति ॥२२४॥

पूर्वपक्षः- सविता ईश्वर प्रेरक है, वही यत्पदका अर्थ है। वह त्वंपदार्थ नहीं है। त्वंपदार्थ तो "नः" इससे उक्त जीवात्मा है ॥२२४॥

अत्रोच्यते न इत्येष बुद्धियुक्तो निगद्यते ।
ततो बुद्धेः पृथक्कारे साक्षी गृह्येत यत्पदात् ॥२२५॥

उत्तरपक्षः- इसका समाधान यह है कि "नः" से बुद्धिविशिष्ट आत्माका बोध होता है और "यः" इस पदसे बुद्धिसे पृथक्कृत साक्षीका ग्रहण होता है। साक्षी ब्रह्म होनेसे प्रेरक सुतरां सिद्ध है ॥२२५॥

इति त्वंपदार्थविचारः प्रथमः परिच्छेदः

अथ द्वितीयः परिच्छेदः

भाष्य- तत् तस्य सर्वासु श्रुतिषु प्रसिध्दस्य

तत्पदेन परामृश्य यत्पदार्थविविक्तये ।
तृतीयापादं व्याख्याय शेषं व्याख्यायतेऽधुना ॥१-२२६॥

"तत्सवितुर्वरेण्यं" में तत्पद यत्पदसापेक्ष होनेसे प्रथम यत्पदार्थ विवेचक तृतीयापदकी व्याख्या कर अब प्रथम दो पादोंकी व्याख्या करते हैं ॥१-२२६॥

षष्ठ्याः सुपां सुलुगिति लोपाद्रूपं तदित्यदः ।
स्वादेशस्तु न युक्तोऽस्याः सादेशादिप्रसङ्गतः ॥२-२२७॥

"तत्" यह रूप षष्ठीके लोपसे हुआ। तस्य इस षष्ठीका "सुपां सुलुक्" इस सूत्रसे लुक् हुआ। कुछ लोग सु आदेश मानते हैं। किन्तु उस पक्षमें "त्यदादीनामः", "तदोः सोः सावनन्त्ययोः" ये दोनों सूत्र लग सकते हैं ॥२-२२७॥

प्रसिध्दार्थकमेतच्च सर्वनामापि तत्पदम् ।
सर्वास्वेष श्रुतिष्वात्मा प्रसिद्धः सविता परः ॥३-२२८॥

यह तत्पद सर्वनाम होनेपर भी प्रसिद्धार्थक भी है। समस्त श्रुतियोंमें यह सविता (ब्रह्म) प्रतिपाद्यतया प्रसिद्ध है ॥३-२२८॥

समामनन्ति सर्वेऽपि वेदास्तत्त्वेन यत्पदम् ।
वेदैश्च सर्वैर्वेद्योऽहमित्यूचाते श्रुतिस्मृती ॥४-२२९॥

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इस प्रकार श्रुति और स्मृति दोनों उक्त बातका समर्थन करती हैं ॥४-२२९॥

साक्षादाचक्षते वेदा आत्मानं परमं क्वचित् ।
क्वचिच्च पारम्पर्येण तात्पर्येण विवृण्वते ॥५-२३०॥

वेदोमें कहीं परमात्माका साक्षात् वर्णन है और कहीं परम्परया तात्पर्यतः विवरण किया है ॥५-२३०॥

त्वंपदार्थविशुद्ध्यर्थं कर्मकाण्डं प्रवर्तते ।
न शरीरादिरेवात्मा जन्मान्तरफलानुभूः ॥६-२३१॥

त्वंपदार्थ शोधनके लिये कर्मकाण्ड है। मरणोत्तर जन्मान्तरादिमें फलानुभव इस शरीरसे नहीं हो सकता। अतः शरीरादिसे भिन्न आत्मा है यह कर्मकाण्डसे सिद्ध होता है ॥६-२३१॥

तत्पदार्थविशुद्ध्यर्थं ध्यानकाण्डं प्रवर्तते ।
ईश्वरो व्यापको ध्येयो ध्यानात्सर्वत्र दर्शनात् ॥७-२३२॥

तत्पदार्थकी शुद्धिके लिये उपासना काण्ड है। ईश्वर व्यापक है। जहां भी ध्यान करें जब भी करें जितने भी करें वहीं भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंको एक साथ दर्शन होता है। अतः ईश्वर व्यापक सिद्ध होता है ॥७-२३२॥

किं च ध्वंसात्मिका शुद्धिर्देहिनः कर्मणैनसाम् ।
हन्तव्यतामतित्यागादुपास्त्या परमात्मनः ॥८-२३३॥

और जीवात्मामें ध्वंसात्मक शुध्दि भी होती है। कर्म करनेसे पापध्वंस होता है। यह भी त्वंपदार्थ शुद्धि ही है। तथा उपासना करनेसे परमात्मा "यह व्यक्ति हन्तव्य है" इस बुद्धिको छोड़ता है। अतः तत्पदार्थशुद्धि है ॥८-२३३॥

विद्यते चेतनः कोऽपि फलदाता च कर्मणाम् ।
न ध्वस्तं जनयेत् किंचित् कर्म ध्वस्तं कथं फलम् ॥९-२३४॥

और भी बात यह है कि कर्मादिका फलदाता कोई चेतन अवश्य होना चाहिये। ध्वस्त वस्तु क्या फल उत्पन्न करेगी? ध्वस्त कर्म कैसे फल देगा? अतः स्वर्गादि फलोपदेशक वेद फलदाता ईश्वरको बताता है ॥९-२३४॥

किं च पापन्निवृत्त्यर्थं सकामं कर्म बोध्यते।
तत्र वेदजपुण्येन निष्कामत्वं क्रमाद् भवेत् ॥१०-२३५॥
निष्कामकर्मोपास्तिभ्यां मलविक्षेपनाशतः ।
भवेज्ज्ञानं ततो द्वे च काण्डे स्तां ब्रह्मतत्परे ॥११-२३६॥

और भी बात यह है कि सकाम कर्म-उपासनासे इष्टफल प्राप्त होनेसे इष्टफलार्थ पापसे बचेगा ही। फिर अच्छे कर्ममें लग जानेसे वेदपुण्यके कारण धीरे-धीरे निष्कामता भी आ जायेगी। निष्काम कर्म-उपासनासे मलविक्षेपनिवृत्ति होगी और ज्ञान भी होगा। इस परम्परासे भी दोनों काण्ड ब्रह्मपरक ही हैं ॥१०-११॥२३५-२३६॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं च ब्रह्म, तत्त्वमसीति च ।
साक्षादेव परं ब्रह्म श्रुतयो दर्शयन्त्यमूः ॥१२॥२३७॥

ज्ञानकाण्डमें तो "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "तत्त्वमसि" आदि वाक्यसे श्रुति साक्षात् ही ब्रह्मका वर्णन करती है ॥१२-२३७॥

ननु प्रसिद्धार्थकता तत्पदस्यात्र चेन्मता ।
तदा यत्पदसापेक्षं नास्ति तस्मै नमो यथा ॥१३॥२३८॥

पूर्वपक्षः- यदि, "तत्" पद प्रसिद्धार्थक है तो यत् पदकी अपेक्षा नहीं होती। जैसे दात्ता ते मेऽपि शर्म सः तस्मै ते नमः इत्यादि में॥१२ ३॥२३८॥

मैवं यत्पदसत्त्वेन यत्तदोर्नित्ययोगतः ।
यत्सापेक्षप्रसिध्दार्थ-भावौ द्वावपि संमतौ ॥१४॥२३९॥

उत्तरपक्षः- जहां यत्पद है वहां यत् और तत् का नित्यसम्बध होनेसे यत्पदसापेक्षता तथा प्रसिद्धार्थता दोनों ही मान्य हैं ॥१४॥२३९॥

यत्र वा यत्पदं नास्ति प्रसिद्धार्थपरं च तत् ।
तत्र पूर्वोत्तरोक्तेदृगर्थतो हि तथार्थता ॥१५॥२४०॥

जहां यत्पद नही है, और प्रसिद्धार्थपरक तत्पद है वहां पूर्वमें या उत्तरमें उक्त प्रसिद्ध जो अर्थ है उसको लेकर तत्पदकी प्रसिद्धार्थता है ॥१५॥२४०॥

नूतनाम्भोदरुचये गोपीवासोऽपहारिणे ।
तस्मै नमोऽस्तु कृष्णायेत्यादावेव तथेक्षणात् ॥१६॥२४१॥
लोके प्रसिद्धिविरहाद् वागादिनां निवर्तनात् ।
प्रसिद्धंक्वेति तत्राह सकलासु श्रुतिष्विति ॥१७॥२४२॥

लोकमें निर्विशेष परमात्माकी प्रसिध्दि नहीं है। वाणी आदि वहाँ निवृत्त होते हैं। तब प्रसिद्ध कहां? उत्तर है—सभी श्रुतियोंमें ॥१७॥२४२॥

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु तच्छोधकवचःस्वपि ।
अन्तर्यामिश्रुतौ चायमन्तरात्माऽतिविश्रुतः ॥१८॥२४३॥

तत्त्वमसि आदि महावाक्यमें पदार्थशोधक "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिमें एवं "एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" इत्यादिमें अन्तरात्माके रूपमें परमात्मा प्रसिध्द है ॥१८॥२४३॥

भाष्य-देवस्य द्योतमानस्य

मम देवो महादेव इतिवत् सवितुर्गुरुः ।
नात्रेति देवं नयति प्रथमं भेदकात्मना ॥१९॥२४४॥

मम देवो महादेवः यहां देवपद गुरु (पूज्य या ईश्वर) अर्थमें है। वैसे सविताका देव ऐसी व्यधिकरण षष्ठीके वारणार्थ विशेषणता द्योतित करते हुए प्रथम देव पद की व्याख्या की ॥१९॥२४४॥

नेन्द्रादिदेवतुल्यार्थमत्र देवपदं मतम् ।
देवस्य द्योतमानस्येत्युक्त्वा तद्धि स्फुटीकृतम् ॥२०॥२४५॥

इन्द्रादिदेवके समान कोई देवविशेष यहां विवक्षित नहीं है इस बातको देव पदका द्योतमान अर्थकर भाष्यकारने स्पष्ट किया ॥२०॥२४५॥

द्योतमानः स्वयं यस्तु द्योतयत्यखिलं जगत् ।
स एव वस्तुतो देवो देवाभासास्त्वितोऽपरे ॥२१॥२४६॥

जो स्वयं प्रकाशमान होकर समस्त जगत्को प्रकाशित करता है वही वास्तविक देव है। अन्य सब तो देवाभासमात्र हैं (नाममात्रके देव हैं) ॥२१॥२४६॥

भाष्य-सवितुः सर्वान्तर्यामितया प्रेरकस्य

प्रेरणे सुवतिः षू स्यात् स्यात्प्राणिप्रसवे तु षूङ् ।
तन्त्रेणोभयमप्येव शब्दैक्याच्चात्र गृह्यते ॥२२॥२४७॥

षू प्रेरणे इत्यादि तुदादि धातु है। षूङ् प्राणिप्रसवे ऐसा दिवादि धातु है। तन्त्रतः दोनों अर्थ यहां ग्राह्य है और "सविता" शब्द दोनोंका एक ही है अतः मिलित अर्थ संभव भी है ॥२२।२४७॥

व्याचष्टे प्रेरकस्येति कथं प्रेरकतेति चेत् ।
सर्वान्तर्यामिताहेतोः सोऽन्तःस्थो यमयेज्जगत् ॥२३॥२४८॥

सविताकी व्याख्या है-प्रेरक। कैसे प्रेरक है? चूंकि वह अन्तर्यामी है। वह अन्तःस्थित होकर जगतका नियमन करता है ॥२३॥२४८॥

पृथिव्यामप्सु च प्राणे वाचि चक्षुषि चात्मनि ।
तिष्ठन् यमयतीत्यादि बृहदारण्यके श्रुतम् ॥२४॥२४९॥

पृथिवीमें जलमें, तेज आदिमें एवं प्राण, वाक् चक्षु आदिमें तथा आत्मा या विज्ञानमें अन्दर रहता हुआ वह नियमन करता है ऐसा विस्तारपूर्वक बृहदारण्यकमें बताया है ॥२४।२४९॥

को ह्येवान्यान्न चेदात्मा कः प्राण्याच्च यदेष न ।
आकाशरूप आनन्द इत्युक्तं तैत्तिरीयके ॥२५॥२५०॥

तैत्तिरीयमें बाताया है कि आकाशरूप अर्थात व्यापक आनन्दात्मक आत्मा न हो तो कौन हिलेगा-डुलेगा? कौन प्राणापानादि चलायेगा अर्थात इन सबका प्रवर्तक परम आत्मा है। ॥२५॥२५०॥

प्रेरितारं च मत्वेति साधु कारयतीति च ।
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधातीत्यादयोऽपि च ॥२६॥२५१॥

श्रुतियों में उस आत्माको कहीं प्रेरयिता बताया है साधु असाधु कर्म करानेवाला कहा है, हिरण्यगर्भका भी नियन्ता बताया है ॥२६॥२५१॥

भाष्य-जगत्स्रष्टुः
सुवतेः प्रेरणार्थत्वात्प्रेरकस्येत्युदीरितम् ।
सूयतेः प्रसवार्थत्वाज्जगत्स्रष्टुरितीर्यते ॥२७॥२५२॥

षू प्रेरणे धातुके अनुसार प्रथम "प्रेरकस्य" यह व्याख्या की। अब "षूङ् प्राणिप्रसवे" इस धातुके अनुसार जगत्स्रष्टा यह अर्थ कर रहे हैं ॥२७॥२५२॥

उपादानात्मकात् स्रष्टुर्जगदेतत्प्रजायते ।
यतो भूतानि जायन्ते यत्प्रयन्तीति च श्रुतेः ॥२८॥२५३॥

उपादानात्मकं स्रष्टासे अर्थात् अभिन्निमित्तोपादानरूपी ब्रह्मसे यह जगत उत्पन्न होता है। अत एव श्रुतिमें जिससे समस्त भूत उत्पन्न होते हैं कहकर जिसमें लीन होते हैं यह भी कहा ॥२८॥२५३॥

एकमेवाद्वितीयं सन्नेह नानास्ति किंचन ।
नासदासीन्नो सदासीत्तम आसीत्तदेति च ॥२९॥२५४॥

अन्य श्रुतियां भी अभिन्निमित्तोपादानात्मक स्रष्टृत्व बताती हैं। "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तत्तेजोऽसृजत । "नेह नानास्ति किंचन ।" "नासदासीन्नो सदासीत्। इत्यादि श्रुतियोंके अनुसन्धानसे यह अर्थ स्पष्ट होता है ॥२९॥२५४॥

ननु द्वितीया मायास्ति यां तमः श्रुतिरब्रवीत् ।
माया भवत्युपादानं निमित्तं केवलं परः ॥३०॥२५५॥

पूर्वपक्षः- माया ही द्वितीय है। जिसे श्रुतिमें तम बताया। माया उपादान कारण है। ब्रह्म निमित्तकारण केवल कर्ता है ॥३०॥२५५॥

मैवं सा बाधिता नातः सद्वितीयत्वमात्मनः ।
ततोऽभिन्ननिमित्तोपा-दानं ब्रह्मैव केवलम् ॥३१॥२५६॥

उत्तरपक्षः- माया बाधित है अतः ब्रह्ममें सद्वितीयता नहीं है इसलिये ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान है ॥३१॥२५६॥

बाधितत्वेन रूपेणानादिरेषा प्रवर्तते ।
तदवच्छेदकं तत्राविद्यात्वं कार्यवर्त्यपि ॥३२॥२५७॥

बाधितरूपसे अनादिकालसे माया चली आ रही है। बाध्यतावच्छेदक अविद्यात्व है। वह मायाअविद्यातत्कार्यसाधारण है ॥३२॥२५७॥

नन्वेवमधुनाप्येतदद्वितीयं सदित्यतः ।
अग्रकालाऽद्वितीयत्ववार्ताऽपार्थेति चेन्न तत् ॥३३॥२५८॥

पूर्वपक्षः- यदि माया बाधित होनेसे अद्वितीयतामें बाधा नहीं डालती है तो इस समय भी माया एवं तत्कार्य जगत बाधित होनेसे अग्रकाल

(प्रलयकाल) में अद्वितीय था कहना व्यर्थ है। अब भी तो अद्वितीय है ॥३३॥२५८॥

एवकारद्वयाधीतेर्वाक्यभेदोऽत्र निश्चितः ।
तत्र द्वितीये वाक्येऽग्रकालसत्त्वस्य नान्वयः ॥३४॥२५९॥

उत्तरपक्षः- "सदेवसोम्य" "एकमेव" इस प्रकार दो एवकार होनेसे वाक्यभेद तो निश्चित है। जैसे घटो नील एव, एक एव इत्यादिमें। प्रकृतमें द्वितीय वाक्यमें-"एकमेवाद्वितीयं" में अग्रेका अन्वय नहीं है। अतः कोई हानि नहीं है ॥३४॥२५९॥

तदैक्षत बहु स्यां स संकल्पः कर्मवासने ।
प्राबोधयत मायास्थे कालस्य सहकारतः ॥३५॥२६०॥

उस सत् परमात्माने यथाकाल में एकसे अनेक हो जाऊं ऐसा संकल्प किया। उस सकल्पने मायास्थित कर्म और वासना को जगाया ॥३५॥२६०॥

नभोऽनिलानलाऽब्भूमीरुत्तरोत्तरजन्मदाः ।
तन्मात्रास्तद् व्यधात् स्थूलान् भोगार्थ प्राणिनां ततः ॥३६॥२६१॥

फिर उस सद्रूप ब्रह्मने उत्तरोत्तरको जन्म देनेवाले आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी नामक तन्मात्राओंको जन्म दिया फिर स्थूल आकाशादिको बनाया ॥३६॥२६१॥

गगनादेः सात्त्विकांशात् सुषुवे धीन्द्रियाणि सः ।
श्रोत्रत्वङ्नेत्ररसनाघ्राणानि व्यष्टितः क्रमात् ॥३७॥२६२॥

गगनादिके व्यष्टि सात्त्विक अंशसे श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण ऐसे ज्ञानेन्द्रियोंको क्रमशः उस परमात्माने जन्म दिया ॥३७॥२६२॥

मनोबुद्धिमहंकारं चित्तं चेति चतुष्टयम् ।
समष्टेः सुषुवे तस्मादन्तःकरणसंज्ञकम् ॥३८॥२६३॥

सविता परमात्माने समष्टि सात्त्विकांशसे मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार ऐसे चारको जो अन्तःकरण कहलाते हैं- जन्म दिया ॥३८॥२६३॥

कर्मेन्द्रियाणि खादीनां सुषुवे राजसांशतः ।
वाचं पाणिं च पादं च पायुं चोपस्थमेव च ॥३९॥२६४॥

आकाशादिके व्यष्टि राजस अंशसे वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन पांच कर्मेन्द्रियोंको सविताने जन्म दिया ॥३९॥२६४॥

प्राणोऽपानः समानश्चोदानश्च व्यान एव च ।
प्राणभेदाः प्रसुषुवे तानसौ तत्समष्टितः ॥४०॥२६५॥

प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान ये पांच प्राणके ही भेद हैं। इनको सविताने आकाशादिराजसांशसमष्टिसे बनाया ॥४०॥२६५॥

खादिनां तामसांशेभ्यः पञ्चीकरणतः परः ।
सविता सुषुवे देवः सर्वं स्थूलमिदं जगत् ॥४१॥२६६॥

आकाशादिके तामस अंशों से पञ्चीकरण कर सविता देवने स्थूल जगत्को जन्म दिया ॥४१॥२६६॥

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशयोजनात् पञ्चतां गताः ॥४२॥२६७॥

आकाशादि प्रत्येक भूतके प्रथम दो दो भाग किये। फिर उनके प्रथम भागों को चार-चार टुकड़े कर स्वीय भागसे इतर भागोंमें जोडा। तब एक एक पञ्चात्मक पञ्चात्मक हुए ॥४२॥२६७॥

ब्रह्माण्डं स्थूलभूतैः स लोकांश्चात्र चतुर्दश ।
तत्र प्राणिनिकायांश्च नानारूपानसूयत ॥४३॥२६८॥

उन स्थूलभूतोंसे सविताने ब्रह्माण्डका, उसमें चौदह लोकों और वहां नानाविध प्राणिशरीरोंका भी निर्माण किया ॥४३।२६८॥

भाष्य-परमेश्वरस्य

एतस्य जगतः स्रष्टा सविता परमेश्वरः ।
नैवापरः स्रष्टुमीष्टे जगदेतदनन्तकम् ॥४४॥२६९॥

इस जगतका स्रष्टा परमेश्वर ही है। अन्य इस अनन्त जगतको नहीं बना सकता ॥४४॥२६९॥

यत्किंचित्स्रष्टृता तावदस्मदादिषु विद्यते ।
तद्वावरणार्थमत्रैव परमत्वं विशेषणम् ॥४५॥२७०॥

कुछ-कुछ वस्तुओंको उत्पन्न करने की सामर्थ्य मनुष्यादिमें भी है। ऐसे कान्यकुब्जेश्वर- दिल्लीश्वरादिके वारणार्थ परमेश्वरमें परमत्व विशेषण है ॥४५॥२७०॥

प्रसवित्री भवेन्माता न तु प्रसविता पिता ।
उभयत्वं द्योतयता तादात्म्यमिव दर्शितम् ॥४६॥२७१॥

माताका नाम प्रसवित्री, सवित्री आदि आता है। किन्तु पिताको प्रसविता, सविता आदि नहीं कहते। किन्तु यहां परमेश्वररूपी पिताको सविता, प्रसविता कहा। तात्पर्य उसका यही है कि पितामें ही मातृत्व सूचित किया। "त्वमेव माता च पिता त्वमेव" इत्यादि प्रसिद्ध है। इससे तादात्म्य दिखाया ॥४६॥२७१॥

भाष्य-आत्मभूतं

षष्ठी च नात्र भेदार्थे किन्त्वभेदौपचारिकी ।
तदेतदत्रभिप्रेत्य ह्यात्मभूतमितीरितम् ॥४७॥२७२॥

सवितुर्भर्गः यहां भेदार्थमें षष्ठी नहीं। अभेदार्थमें उपचारतः प्रयोग है। इस अभिप्रायसे "आत्मभूतं" बताया ॥४७॥२७२॥

सवित्रापि वरेण्यं तदिति कर्तरि षष्ठ्यपि ।
तस्यात्मभूतमित्युक्त्या भाष्यकारेण वारिता ॥४८॥२७३॥

सविताका आत्मभूत ऐसा कहकर कर्तामें षष्ठीका भी वारण किया। अन्यथा सविताके भी वरणीय उस तेजका ध्यान ऐसा अर्थ होता ॥४८॥२७३॥

भाष्य-वरेण्यं सर्वैरुपास्यतया ज्ञेयतया च संभजनीयं

वृङ् संभक्तौ वरेण्यं तदुपास्यत्वेन देहिनाम् ।
ज्ञेयत्वेनापि तच्चाग्रे विस्पष्टं दर्शयिष्यते ॥४९॥२७४॥

वरेण्यं यह वृङ् संभक्तौ धातुका रूप है। समस्त मानवके लिये परमात्मा उपास्य एवं ज्ञेय रूपमें वरणीय है। सेवनीय है। आगे स्पष्टीकरण होगा ॥४९॥२७४॥

ननूपास्यं भवेद् ब्रह्म सविशेषं यथाश्रुतम् ।
ज्ञेयं तु निर्विशेषं तत् तदैक्यं कथमुच्यते ॥५०॥२७५॥

पूर्वपक्षः-उपास्यतया ज्ञेयतया च संभजनीयं इस प्रकार एक ही को उपास्य और ज्ञेय कहना ठीक नहीं। उपास्य सविशेष ब्रह्म है। ज्ञेय निर्विशेष ब्रह्म है ॥५०॥२७५॥

तत्त्वमस्यादिविज्ञातसत्तत्त्वं चेदुपास्यते ।
विज्ञातोपासना व्यर्था विज्ञानार्था हि सा यतः ॥५१॥२७६॥

यदि कहें कि तत्त्वमसि आदिसे विज्ञात निर्विशेष ब्रह्मकी ही उपासना भी हो सकती है तो उचित नहीं। विज्ञातकी उपासना व्यर्थ है। क्योंकि विज्ञानार्थ उपासना की जाती है ॥५१॥२७६॥

किं चाऽऽवृतमुपास्यं स्यात् प्रथमं केवलश्रुतम् ।
ज्ञेयं तु शुद्धं ब्रह्मैव ज्ञायमानमनावृतम् ॥५२॥२७७॥

यदि असाक्षात्कृत की उपासना कहें जो साक्षात्कारोपयोगी है तो मतलब हुआ आवृत ब्रह्म उपास्य है। किन्तु ज्ञेय ब्रह्म आवृत नहीं। ज्ञान होते ही वह अनावृत हो जाता है ॥५२॥२७७॥

तन्नाऽऽवृतत्वरूपेण ब्रह्म नोपास्यते बुधैः ।
तत्त्वमस्यादितस्त्वादौ जायते तत्परोक्षधीः ॥५३॥२७८॥

उत्तरपक्षः-उक्त आक्षेप ठीक नहीं है। ब्रह्मकी आवृतत्वेन रूपेण उपासना नहीं की जाती। तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे प्रथम परोक्षज्ञान होता है ॥५३॥२७८॥

उपासनादिसहितैस्तैरेव परतः पुनः ।
अपरोक्षं भवेज्ज्ञानं विषयो नैव भिद्यते ॥५४॥२७९॥

उपासनादिसहित उन्हीं वाक्योंसे बादमें अपरोक्ष ज्ञान होता है। विषय बदलता नहीं ॥५४॥२७९॥

तुल्यौ चेद्वृत्तिविषयौ पारोक्षादिभिदा कथम् ।
तस्मादावरणं वाच्यं परोक्षे विषये ननु ॥५५॥२८०॥

पूर्वपक्षः- यदि प्रथमोत्पन्न तत्त्वमसि ज्ञान परोक्ष है तो उसमें हेतु क्या? बादमें ज्ञान अपरोक्ष क्यों? जब की वृत्ति और विषय बराबर है ॥५५॥२८०॥

मैवं ज्ञाने समुत्पन्ने नश्यत्यावरणं किल ।
सहकारिभिदाहेतोः स्तां परोक्षापरोक्षते ॥५६॥२८१॥

उत्तरपक्षः- उत्तर यह है कि अपरोक्ष ज्ञान हो तब आवरण निवृत्त होगा। आवरण न हो तब अपरोक्ष ज्ञान होगा ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रय होगा। अतः ध्यानादि सहकारीके होने न होनेसे परोक्ष-अपरोक्षभेद है। न कि आवरण के होने न होनेसे या उसके विषय बनने न बनने से ॥५६॥२८१॥

परे तु तत्त्वमस्याद्यैरपरोक्षं हि जायते ।
पुंसोऽपराधतस्तत्तु न फलाय प्रकल्पते ॥५७॥२८२॥

दूसरे आचार्य यह कहते हैं कि तत्त्वमसि आदि महावाक्यसे अपरोक्षज्ञान ही होता है। किन्तु प्रथमतः पुरुषपराधके रहनेके कारण वह अपना फल (अज्ञाननिवृत्ति) उत्पन्न करनेमें असमर्थ होता है ॥५७॥२८२॥

उपासनाद्यैः पुरुषाऽपराधविगमे सति ।
प्रतिबन्धकनाशेन ज्ञानं मोक्षफलं भवेत् ॥५८॥२८३॥

ध्यान उपासना आदिसे पुरुषपाराधके नष्ट होता है तो प्रतिबन्धक आवरण के हटनेसे वह अपरोक्ष ज्ञान होता है जो मोक्षफलदायी है ॥५८॥२८३॥

अन्ये तु सगुणोपास्तिरप्यग्रे वर्णयिष्यते ।
सा वरेण्यपदेनैव लभ्येत्युभयसंग्रहः ॥५९॥२८४॥

अन्य आचार्य यह मानते हैं कि आगे सगुणोपासनाका भी वर्णन करना है और वह वरेण्य पदसे ही प्राप्य है, अतः उभयसंग्रहार्थ यहीं व्याख्या की ॥५९।२८४॥

विशिष्टशुद्धयोर्नैव भेद आत्यन्तिको मतः ।
तस्माद्विवादावसरो नास्तीहेत्याचचक्षिरे ॥६०॥२८५॥

सगुण तथा निर्गुणमें अत्यन्त भेद नहीं है। अतः सामान्यरूपसे उपास्यत्व और ज्ञेयत्वका वर्णन अनुचित नहीं है ॥६०॥२८५॥

भाष्यः-भर्गः

भ्रस्ज पाके ततोऽसुंश्च कुत्वं चाञ्च्यञ्जिसूत्रतः
भृज्जते भर्जयति वा यत्तद् भर्ग इतीर्यते ॥६१॥२८६॥

'भ्रस्ज पाके' धातु है। उससे "अञ्च्यञ्जि युजि भृजिभ्यः कुश्च" इस उणादि सूत्रसे असुन् प्रत्यय और कुत्व करनेपर भर्गस् शब्द होता है। भृज्जति या भर्जयति इस अर्थ में भर्ग शब्द होता है ॥६१॥२८६॥

सवितृत्वं प्रसवनं सर्जनं चेद्विवक्षितम् ।
भर्जनं प्रतियोग्यस्य भवेत् संहणं तदा ॥६२॥२८७॥

सविताका जगत्सृष्टिकर्ता अर्थ जब करते हैं तब भर्गका संहारकर्त्ता अर्थ होगा। सर्जनका प्रतियोगी भर्जन संहार ही है ॥६२॥२८७॥

यत उत्पद्यते विश्वं यत्र चैव प्रलीयते ।
तदुपादानमेतच्च निमित्तं कर्तृतोक्तितः ॥६३॥२८८॥

जहांसे उत्पन्न हो वहीं विलीन भी होता है तो वह उपादान कारण माना जाता है। कर्तृत्वकथन से निमित्त भी वह है ॥६३॥२८८॥

पचन्ति काष्ठानीत्येवं कर्तृत्वविरहेऽपि हि ।
प्रयोगश्चेत् कर्तृहेत्वोः प्रयोगो नासमञ्जसः ॥६४॥२८९॥

सवितामें कर्तृप्रत्यय है उससे हेतु अर्थ कैसे निकलेगा? सुनो- 'पचन्ति काष्ठानि' यहां कतृप्रत्यय होनेपर केवल हेतु अर्थ निकलता है तो कर्तृत्वविशिष्ट हेतु अर्थ आसानीसे प्राप्ता हो सकता है ॥६४॥२८९॥

कार्यस्थितिरुपादाने तटस्थं लक्षणं ततः ।
यतो हीमानि भूतानि जायन्त इति च श्रुतेः ॥६५॥२९०॥

उपादान सिद्ध होनेपर उसमें कार्य की स्थिति भी स्वतः सिद्ध होती है। तब जगत्के जन्म, स्थिति एवं लयके हेतुत्वरूपी तटस्थ लक्षण भी सूचित हो जाता है "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इस श्रुतिके साथ संवाद या एकवाक्यता

होनेसे इतना अर्थ यहाँ माना जा सकता है। उपसंहार न्यायसे भी यह सिद्ध है ॥६५॥२९०॥

सृष्टिकालेऽपि भर्गात्मेत्येतच्चात्र प्रतीयते ।
न भर्गसा विना सूर्यः सविता खलु संभवेत् ॥६६॥२९१॥

सविता भर्गः कहनेपर उद्देशतावच्छेदककालावच्छेदेन विधेय बोध होनेपर :सवितृत्वकालिक ; भर्गस्त्व प्रतीत होगा। जैसे सूर्य जभी होगा प्रकाश साथ में होगा ॥६६॥२९१॥

सृष्टिकालेऽप्यभावोऽस्य प्राप्तोऽतोऽनेन हेतुना ।
मृषा स्वाश्रयगाभावप्रतियोगित्वतो जगत् ॥६७॥२९२॥

इसलिये सृष्टिकालमें भी अभाव प्राप्त होता है। फलतः जगत् स्वाश्रयवृत्त्यत्यन्ताभावका प्रतियोगी होने से मिथ्या सिद्ध होता है ॥६७॥२९२॥

बाधात्मकं भर्जनं चेद् भर्गःशब्दविवक्षितम् ।
स्पष्टमेवात्र मिथ्यात्वं जगतः प्रतिपाद्यते ॥६८॥२९३॥

यदि भर्गः शब्दसे बाधरूपी भर्जन विवक्षित है तो स्पष्ट ही जगत् का मिथ्यात्व यहाँ ज्ञात होता है ॥६८॥२९३॥

तदा सवितृशब्दोऽपि कल्पकत्वार्थको भवेत् ।
श्रुतिश्चैक्षत तद् धाता यथापूर्वमकल्पयत् ॥६९॥२९४॥

भर्गः शब्दका बाधक अर्थ होनेपर सवितृ शब्दका भी कल्पक अर्थ होगा। "तदैक्षत बहु स्यां" "धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्यादि श्रुतिमें कल्पकत्व बताया है ॥६९॥२९४॥

ईक्षणोत्थत्वतो विश्वं दृष्टिसृष्टिर्न संशयः ।
व्यावहारिकसत्यत्वं तत्र मन्यामहे वयम् ॥७०॥२९५॥

जगत् ईक्षणोत्पन्न होनेसे दृष्टिसृष्टि निश्चित है। उसमें व्यावहारिक सत्यत्व हम भी मानते हैं ॥७०॥२९५॥

भर्जितेषु सरूपेषु बीजशक्तिर्न तिष्ठति ।
ज्ञानभर्जीतसंसारे बीजशक्तिस्तथैव न ॥७१॥२९६॥

चना गेंहू आदि भूंजनेपर उनमें बीजशक्ति नहीं रहती, देखनेमें भले बीजशक्तिवालेके बराबर आकारादि हो, वैसे ही ज्ञानाग्निसे संसार भर्जन होनेपर उसमें बीजशक्ति नहीं रहती, देखनेमें संसार भले ही पूर्ववत् हो ॥७१॥२९६॥

बीजशक्तिस्तु वृक्षेऽपि बीजान्तरसमुद्भवात् ।
तथा चाज्ञानतत्कार्यभर्जनं युज्यतेतराम् ॥७२॥२९७॥

ज्ञानसे बीजशक्ति नष्ट हो किन्तु संसार तो बीज नहीं है, वृक्ष है। उसका भर्जन किस प्रकार? उत्तर है कि वृक्षमें बीजशक्ति रहती है तभी तो वृक्षसे फिर बीज उत्पन्न होता है तथा वृक्षान्तर होते हैं। इसी प्रकार माया एवं तत्कार्य जगत् दोनोंमें बीजशक्ति रहती है। सबका भर्जन ज्ञानसे होता है ॥७२॥२९७॥

खादयो ज्ञानतः पूर्वं यथासीत्तद्वदुत्तरम् ।
परं न कामलोभादिकार्यमादधते हि ते ॥७३॥२९८॥

आकाशादि तथा धनदारादि ज्ञान से पूर्व जैसे थे वैसे ही ज्ञानके बाद भी आकार से दीखेंगे। किन्तु वे कामलोभादि कार्य उत्पन्न नहीं करते। यही बीजशक्तिका भर्जन है ॥७३॥२९८॥

लेशाविद्यावशात्कामलोभादिर्योऽनुवर्तते ।
कामाद्याभासमात्रं तद् ज्ञानाद् बीजत्वभर्जनात् ॥७४॥२९९॥

लेशाविद्यासे ज्ञानीमें जो कामलोभदिका अनुवर्तन दीखता है वह तो कामादिका आभासमात्र है। क्योंकि ज्ञानसे बीजशक्ति नष्ट हो गयी है। अत एव जनकादि एवं दुर्वासा आदिमें कामक्रोधादि दीखते रहे ॥७४॥२९९॥

ब्रह्मचैतन्यमेवेहाखण्डवृत्त्युपलक्षितम् ।
भर्ग इत्युच्यते विश्वबाधकं ज्ञानशब्दितम् ॥७५॥३००॥

अखण्डकारवृत्युपलक्षित ब्रह्मचैतन्य ही वस्तुतः भर्ग है। वह द्वैतप्रपञ्चका बाधक है। इसीको तत्त्वज्ञान कहते हैं ॥७५॥३००॥

तत्त्वमस्यादिवाक्यैर्वा गायत्र्या वा समुद्गता ।
अखण्डाकारवृत्तिस्तद्-गोचरं ब्रह्म सन्महः ॥७६॥३०१॥

तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे या गायत्रीसे उत्पन्न होनेवाली वृत्ति अखण्डाकार वृत्ति है। उसका विषय परम तेज ही ब्रह्म है ॥७६॥३०१॥

भाष्य-स्वयं ज्योतिः परब्रह्मात्मकं तेजः
स्वयंज्योतिश्च तद्‌भर्गः परब्रह्मात्मकं मतम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं च तद् ब्रह्मेत्याह तित्तिरिः ॥७७॥३०२॥

वह भर्ग स्वयंज्योति है क्योंकि वह परब्रह्मस्वरूप है। उसीको तैत्तिरीयकमें "सत्यं ज्ञानमनन्तं" कहा और "ब्रह्म" भी बताया ॥७७॥३०२॥

स्वयंप्रकाशो ज्ञेयोऽयमात्मा नित्यं प्रकाशनात् ।
अस्य प्रकाशकोऽन्यश्चेत्तस्यान्यस्तस्य चापरः ॥७८॥३०३॥
इति स्यादनवस्थैव विरामे जगदन्धता ।
परप्रकाश्यः सकलः प्रपञ्चो हि यतो मतः ॥७९॥३०४॥

स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही आत्मा है क्योंकि यह आत्मा नित्यप्रकाशित रहता है। इस आत्माको यदि दूसरा प्रकाशित करता हो तो दुसरा आत्मा मानना पड़ेगा। उसका भी फिर प्रकाशक तीसरा आत्मा मानना होगा । इस प्रकार अनवस्था होगी। कहीं विश्राम मानेंगे तो वही अप्रकाशित होगा और पूर्वपूर्व भी अप्रकाशित रह जायेंगे। और संपूर्ण जगत् भी अन्धमय हो जायेगा। यदि सौ दो सौ सोपानके बाद स्वयंप्रकाश मानेंगे तो प्रथम आत्माको ही स्वयंप्रकाश क्यों नहीं मान लेते? जगत् तो परप्रकाश्य है यह प्रात्यक्षिक है। तब आत्मा भी होने से जगत् अन्ध होगा ॥७९॥३०४॥

सुषुप्तावपि नो भानमात्मनः प्रविलुप्यते ।
उत्थितस्य सुखादीनां परामर्शावलोकनात् ॥८०॥३०५॥

सुषुप्तिमें भी आत्माका भान लुप्त नहीं होता। अत एव उठने पर सुखपूर्वक सोया इत्यादि रीति सुखादिका परामर्श होता है ॥८०॥३०५॥

ननु चेत् स्वप्रभं ब्रह्म प्रकाशेत सदैव तत् ।
कुतो ज्ञानाय यत्नः स्यात् सर्वमुक्तिः कुतो न च ॥८१॥३०६॥

पूर्वपक्षः- यदि ब्रह्म स्वयंप्रकाश है तो हमेशा प्रकाशित होना चाहिये। तब ज्ञानार्थ प्रयत्न व्यर्थ होगा और सर्वमुक्ति भी होगी ॥८१॥३०६॥

उच्यतेऽविद्ययाऽनाद्या ब्रह्म स्वप्रभमावृतम् ।
तदज्ञानापनोदाय वृत्तिज्ञानमपेक्षते ॥८२॥३०७॥

उत्तरः-अनादि अविद्यासे स्वयंप्रकाश भी ब्रह्म आवृत हो गया है। उस अज्ञानको हटानेके लिये वृत्तिज्ञान अपेक्षित है ॥८२॥३०७॥

नन्वज्ञानं कथं ज्ञाने न सूर्ये संभवेत्तमः ।
मैवं घूकस्य सूर्येऽपि तिमिरं विद्यते महत् ॥८३॥३०८॥

पूर्वपक्षः- ज्ञानमें अज्ञान किस प्रकार क्या सूर्यमें भी अन्धकार होता है? उत्तर-हां उल्लूके लिये सूर्यमें भी अन्धकार होता है ॥८३॥३०८॥

अज्ञानेनावृतं ज्ञानमित्याह भगवान् स्वयम् ।
अज्ञानादावनादौ न चोद्यमुत्पद्यते खलु ॥८४॥३०९॥

गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं कि ज्ञान अज्ञानसे आवृत है। अनादि अज्ञानादिमें प्रश्न उठाना भी गलत है ॥८४॥३०९॥

तदाश्रयं तद्विषयमज्ञानं त्रिगुणात्मकम् ।
साऽविद्या सा च मायोक्ता सैव प्रकृतिरुच्यते ॥८५।३१०॥

उस ब्रह्ममें आश्रित, उसी ब्रह्मको विषय करनेवाला वह अज्ञान त्रिगुणात्मक है। वही अविद्या एवं माया है, वही प्रकृति है ॥८५॥३१०॥

प्रकृत्युपाधितो ब्रह्म सगुणं शबलं स्मृतम् ।
मायोपाधेर्भवेदीशोऽविद्यया जीव एव च ॥८६॥३११॥

प्रकृति उपाधि होनेपर ब्रह्म शबल तथा सगुण होता है। माया उपाधिसे ईश्वर और अविद्या उपाधिसे जीव होता है ॥८६॥३११॥

शुद्धसत्त्वप्रधानत्वान्मायोक्ता प्रकृतिर्हि सा ।
अशुद्धसत्त्वप्राधान्यादविद्या सैव कीर्तिता ॥८७॥३१२॥

यदि ये तीन एक ही के नाम है तो उपधेय भिन्न क्यों? सुनो, समष्टि प्रकृति है वही शुद्ध सत्त्वकी प्रधानता से माया होती है और अशुद्ध सत्त्वकी प्रधानतासे अविद्या होती है ॥८७॥३१२॥

जीव ईशस्तयोर्भेदोऽविद्या तद्योग एव च ।
अनादिकल्पिताः पञ्चानादिसिद्धा तु शुद्धचित् ॥८८॥३१३॥

जीव, ईश्वर इनका परस्पर भेद, अविद्या तथा अविद्याचित्सम्बन्ध ये पांच अनादिकल्पित हैं। और शुद्ध चैतन्य अनादिसिद्ध है ॥८८॥३१३॥

वृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यमविद्यादिनिवर्तकम् ।
अन्यथा साधकं तेषां तेन नो सर्वमुक्तता ॥८९॥३१४॥

वृत्यभिव्यक्त चैतन्य ही अविद्यादिनिवर्तक है। अन्यथा चैतन्य तो अविद्यादिका साधक ही रहता है अतः सर्वमुक्तता नहीं होती ॥८९॥३१४॥

भर्गो ज्ञानं न सा वृत्तिः स्वयंज्योतिःस्वरूपि यद् ॥
न चार्करश्मिवद्भिन्नं परब्रह्मात्मकं मतम् ॥९०॥३१५॥

भर्ग यद्यपि ज्ञान है तथापि वृत्तिज्ञान नहीं। क्योंकि स्वयंज्योति है और सूर्य और उसकी रश्मिके समान पृथक भी नहीं क्योंकि वह परब्रह्म ही है ॥९०॥३१५॥

भाष्यः-धीमहि

ध्यायतेरात्मने भाषा संप्रसारणमेव च ।
शब्लुक् च च्छान्दसा भर्गो ध्यायेमैतद्यथा श्रृणु ॥९१॥३१६॥

धीमहि यहां ध्यै धातुका आत्मनेपद प्रयोग, यकार को संप्रसारण, शप् का लुक् ये सभी छान्दस हैं। भर्गका ध्यान करनेकी बात चल रही है उसी की आगे चर्चा करते हैं ॥९१॥३१६॥

भाष्यः-तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहमिति वयं ध्यायेम

हंसो हंसोऽहमित्येवं ध्यायेमावृत्तितस्ततः ।
अहं स इति सोऽहं चेत्युभयं गम्यते स्फुटम् ॥९२॥३१७॥

हंसो हं सोहं इत्यादि आवृत्ति करते हैं तो अहं सः सोऽहं ये दोनों आ जाते हैं। हं सो हं में अकारका लोप या पूर्वरूप होनेसे रूप समान रहता है ॥९२॥३१७॥

परिच्छिन्नत्वहान्यै स्यादहं स इति चिन्तनम्।
परोक्षत्वनिरोधाय सोऽहमित्यपि चिन्तनम् ॥९३॥३१८॥

अहमर्थमें 'सः' के विधानसे परिच्छिन्नत्वकी निवृत्ति होती है। 'सः' में अहं के विधानसे परोक्षत्वकी निवृत्ति होती है। अतः अहं सः सोऽहं ये दोनों ही चिन्तन किये जाते हैं ॥९३॥३१८॥

त्वं वा अहमहं वा त्वं योऽहं सः सोऽहमित्यपि।
हंसः सोऽहमसौ सोऽहमित्याद्याः श्रुतयस्तथा ॥९४॥३१९॥

इस बातके प्रतिपादक अन्य मन्त्र भी हैं। "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वा त्वमसि" "योऽसावसौ सोऽहमस्मि" "तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहं" "हंसः सोऽहं" इत्यादि श्रुतियोंमें वही बात कही गयी है ॥९४॥३१९॥

अहंग्रहोपासनेति सेयं श्रुतिषु गीयते ।
निदिध्यासनमेवैतदित्यन्ये प्रतिपेदिरे ॥९५॥३२०॥

यह अहंग्रहोपासना है। श्रुतियोंमें वर्णित है। दूसरे विद्वान् इसे निदिध्यासन कहते हैं। ध्यान और समाधिको पञ्चदशीमें निदिध्यासन कहा है ॥९५॥३२०॥

भाष्य-यद्वा तदिति भर्गोविशेषणम्

समानाधिकरण्यं हि नासमानविभक्तिके ।
लुप्तषष्ठ्यनुसन्धानं क्लेशान्नो वाक्यविन्मतम् ॥९६॥३२१॥

पूर्वदर्शित व्याख्यानमें थोड़ा क्लेश है। असमान विभक्ति हो तो समानाधिकरण्य नहीं होता। तत्सवितुः यहां विशेषणविशेष्यभाव नहीं हो सकता। तत् का तस्य अर्थ है। विभक्तिका लोप हुआ। अतः तस्य सवितुः इस प्रकार समान विभक्ति मानें तो इसमें मीमांसक लोग लुप्तविभक्तिके अनुसंधानमें क्लेश मानते हैं ॥९६॥३२१॥

द्वितीयान्तं तदित्येतद् युक्तं भर्गोविशेषणम् ।
नात्र प्रसिद्धताहेतोर्लोपो दोषाय कल्पते ॥९७॥३२२॥

अतः तत्पद द्वितीयान्त भर्गका विशेषण उचित है । यहां भी यद्यपि द्वितीयाका लोप हुआ है तथापि अकारान्त प्रयोग न होनेसे नपुंसक प्रयोग निश्चित होता है। और नपुंसकमें द्वितीयाके एकवचनका लोप प्रसिद्ध है। अतः दोष नहीं है ॥९७॥३२२॥

सोढव्यश्छान्दसो लिङ्गव्यत्ययोऽत्रापि यत्पदे ।
असंजातविरोधित्वान्मा क्लेशः प्रथमं तु भूत् ॥९८॥३२३॥

परन्तु यहां पर भी यत्पदमें लिङ्गव्यत्यय छान्दस मानना पड़ेगा। असंजातविरोधिन्यायसे प्रथम यथाश्रुत अर्थ करना ठीक माना जाता है ॥९८॥३२३॥

अथवा शक्यमेवं च योजनान्तरमित्यतः ।
भर्गोविशेषणतया तदर्थं प्राह भाष्यकृत् ॥९९॥३२४॥

अथवा पूर्वत्र अरुचि देखनेकी आवश्यकता नहीं है। ऐसी भी योजना संभव है इस आशयसे तत्पदार्थको भर्ग विशेषणके रूपमें भाष्यकार जोड़ रहे हैं ॥९९॥३२४॥

भाष्य-सवितुर्देवस्य तादृशं भर्गो धीमहि
पूर्वत्र तस्य सवितुः कीदृशस्येति वीक्षणे ।
देवस्येति समाधानादाकाङ्क्षा खलु शाम्यति ॥१००॥३२५॥

पूर्व व्याख्यामें प्रथम 'तस्य सवितुः' की व्याक्या करते हैं तो तत्पदार्थ प्रसिद्धि किस प्रकार? इस अर्थमें 'कीदृशस्य तस्य' यह जिज्ञासा होगी। उसका समाधान 'देवस्य' इस विशेषणसे हो जाता है। देव दिव्य होनेसे ध्यान सफल है यह ध्वनि भी निकलती है और आकांक्षा भी शान्त हो जाती है ॥१००॥३२५॥

पुनश्च किदृशोऽसावित्युत्थाप्याकाङ्क्षयोत्तरम् ।
धियो यो न इदं योज्यं तत्र क्लेशः प्रसज्यते ॥१०१॥३२६॥

तब तृतीय पाद "धियो यो नः" को जोड़नेके लिये पुनः कीदृश : सः- फिर वह कैसा है ऐसी उत्थाप्याकाङ्क्षा लाकर लगाना पड़ेगा जो सुगम नहीं है ॥१०१॥३२६॥

तत्पदस्य प्रसिद्धार्थबोधकत्वाच्च दुर्घटा ।
आकाङ्क्षेति जहत् पाठक्रममर्थक्रमं दधौ ॥१०२॥३२७॥

दूसरी बात- तत्पदका प्रसिद्ध अर्थ होनेसे इशारे मात्रसे अर्थ समझमें आ गया तो आकाङ्क्षा ही नहीं उठेगी। अतः भाष्यकारने पाठक्रमको छोड़कर अर्थक्रमको लिया ॥१०२।३२७॥

धियः प्रचोदनं चैवं पुरस्कृत्य प्रयोजनम् ।
व्याख्याय पूरकतया पादद्वयमयूयुजत् ॥१०३॥३२८॥

इस व्याख्यामें बुद्धिप्रेरणाको प्रयोजनके रूपमें आगे रखकर उसके पूरकके रूपमें प्रथम पादद्वयको योजित किया ॥१०३॥३२८॥

न चोत्थितैव पूर्वेऽपि फलाकाङ्क्षेति सांप्रतम् ।
दिव्यत्वोक्त्या गतार्थत्वाद् देवाः सर्वफलप्रदाः ॥१०४॥३२९॥

यह कहें कि प्रथम व्याख्यामें भी किमर्थं ऐसी फलाकाङ्क्षा होती है तो उत्तर है देवपदसे वह गतार्थ है। प्रसिद्ध देव सर्वफलप्रद होते हैं ॥१०४॥३२९॥

अत्र द्वितीयव्याख्यायां भर्गः कीदृगितीक्षणे ।
विशेषणान्तरं नास्तीत्यन्त्यपादं तदुत्तरम् ॥१०५॥३३०॥

इस द्वितीय व्याख्यामें फरक यह है कि भर्ग कैसा?—इस जिज्ञासामें अन्यविशेषण न होनेसे तृतीयपादसे ही उत्तर होगा ॥१०५॥३३०॥

भाष्यः-किं तदित्यपेक्षायामाह—य इति। लिङ्गव्यत्ययः
ततो यथाक्रममिह पदानि समयूयुजत् ।
सवितुस्तत् किं तदिति यद्धियः प्रेरयेदिति ॥१०६॥३३१॥

पूर्वोक्त रीति से उत्थिताकाङ्क्षा होने से यथाक्रम भाष्यकारने पदयोजना की। जैसे सविताका वह भर्ग कैसा? जो बुद्धिका प्रेरक है ॥१०६॥३३१॥

यद्वा यथाश्रुते देवपदेनाकाङ्क्ष्यापूरणम् ।
नास्तीत्याशयवानाह किं तदित्यादि भाष्यकृत् ॥१०७॥३३२॥

सामान्यरूपसे इसप्रकार भी भाष्योत्थान है कि यथाश्रुत द्वितीयान्त तत्पदग्रहणपक्षमें 'देवस्य' से आकाङ्क्षापूरण नही होता इसे दिखानेके लिये भाष्यकार 'किं तत्' इसप्रकार आकाङ्क्षा दिखाते हैं। 'कस्य तत्' ऐसी आकाङ्क्षा नहीं होती। 'किं तत्' यही आकाङ्क्षा होती है ॥१०७॥३३२॥

धियो यन्न इति क्लीबे वाच्ये पुंसि य इत्ययम् ।
प्रयोगश्छान्दसाल्लिङ्गव्यत्ययादुपपद्यते॥१०८॥३३३॥

धियो यन्न प्रचोदयात् ऐसा नपुंसकलिङ्गमें प्रयोग करना चाहिये था क्योंकि परामर्शनीय भर्ग नपुंसकलिङ्ग है। तब 'यो' ऐसा पुंलिंग प्रयोग वैदिक लिङ्गव्यत्ययसे उपपादनीय है ॥१०८॥३३३॥

भाष्य-यद् भर्गो धियः प्रचोदयादिति तद् ध्यायेमेति समन्वयः।

दर्शयत्यभिनीयोक्तं लिङ्गव्यत्ययमन्वयम् ।

पूर्वेण तस्य सम्बन्धमपि भाष्ये यदित्यतः ॥१०९॥३३४॥

पूर्वोक्त लिङ्गव्यत्यय, अन्वय तथा पूर्वकि साथ सम्बन्धको भाष्यमें प्रकटरूपसे दिखाते हैं- यद्भर्गः इत्यादिसे ॥१०९॥३३४॥

भाष्य-यद्वा

लिङ्गस्य व्यत्ययेऽप्यस्ति क्लेशोऽर्थोपस्थितावतः ।

प्रकारान्तरसत्त्वाच्च कल्पान्तरमशिश्रियत् ॥११०॥३३५॥

द्वितीय व्याख्यामें भी लिङ्गव्यत्ययमें अर्थोपस्थिति विलम्बसे होगी। और दूसरा प्रकार विद्यमान भी है अतः तृतीय प्रकार की व्याख्या करते हैं ॥११०॥३३५॥

अस्त्युत्तरस्यां दिश्यद्रिर्हिमालयपदाभिधः ।

यं सर्वेऽकल्पयन् शैला वत्समित्यतदत्र यत् ॥१११॥३३६॥

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयः' ऐसा उपक्रम कर यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं इसप्रकार प्रयोग महाकविने किया है। यहां यत्पद तत्पदके विना है ॥१११॥३३६॥

ध्यायेम सवितुर्भर्गो धियो यो नः प्रचोदयात् ।

विनैव तत्पदेनैवं शक्यं व्याख्यातुमञ्जसा ॥११२॥३३७॥

सविताके तेजका हम ध्यान करें जो (सविता) हमारी बुद्धिको प्रेरणा देता है इस प्रकार यहां भी तत्पदसम्बन्धके विना व्याख्या संभव है ॥११२॥३३७॥

यच्चात्र तत्पदं तद्धि प्रसिद्ध्यर्थावबोधकम् ।

दृश्यत्वेन प्रसिद्धं तदित्यर्थो वर्णयिष्यते ॥११३॥३३८॥

जो यहाँ तत्पद है वह प्रसिद्ध अर्थ को बोधित करता है। सर्वदृश्यतया प्रसिद्ध ऐसा अर्थ उसका आगे बतायेंगे ॥११३॥३३८॥

भाष्य— यः सविता सूर्यो धियः कर्माणि

सुगमत्वाल्लाघवाच्च रूढ्यर्थेन सहोच्यते ।
सविता सूर्य इत्येवं शेषं प्रायस्तु पूर्ववत् ॥११४॥३३९॥

सुगम होने से और लाघव होनेसे सविता शब्दका रूढ अर्थ भी दिखाते हुए व्याख्या करते हैं-"सविता सूर्यः" इत्यादि । शेष पूर्ववत् है ॥११४॥३३९॥

सूर्यमन्त्रतयाप्येष वैदिकैरुपयुज्यते ।
सोऽर्थः पक्षान्तरतया भाष्यकारेण दर्शितः ॥११५॥३४०॥

सूर्यप्रकाशक मन्त्रके रूपमें भी गायत्री मन्त्रको वैदिक लोग उपयोग करते हैं। अतः पक्षान्तररूपमें उस अर्थको भाष्यकारने दिखाया ॥११५॥३४०॥

कर्मसाक्षी दिनमणिः कर्मप्रेरयितेत्यतः ।
पक्षद्वयोपयुक्तार्थः कर्माणीतीह भाषितः ॥११६॥३४१॥

सूर्यका नाम कर्मसाक्षी प्रसिद्ध है। साक्षी प्रेरक होता है अतः कर्मप्रेरक होनेसे "धियः कर्माणि" यही व्याख्या उभयपक्षोपयोगी होनेसे किया ॥११६॥३४१॥

यद्वोपलक्षणमिदं पूर्वोक्तस्मारणं हि वा ।
बुद्धिप्रेरकताप्येव प्रसिद्धा द्वादशात्मनः ॥११७॥३४२॥

अथवा "धियः कर्माणि" यह बुद्धिका भी उपलक्षक है। अथवा पूर्वोक्त अर्थका एकदेश कहकर स्मरण करानेके लिये है। क्योंकि सूर्य बुद्धिके भी प्रेरकरूपसे प्रसिद्ध है ॥११७॥३४२॥

भाष्य-प्रचदयात् प्रेरयति

लिङर्थः प्रार्थनादिर्हि नानुवादे विवक्षितः
अतः प्रेरयतीत्येवं व्यवृणोद् भाष्यकृल्लटा ॥११८॥३४३॥

लिङ् का अर्थ प्रार्थना, विधि आदि यहां विवंक्षित नहीं है। क्योंकि यत् पद होने से यह अनुवाद है। अतएव 'प्रेरयति' इस प्रकार लट् लकारसे भाष्यकारने विवरण किया॥११८॥३४३॥

भाष्य-स तस्य

यत्पदस्यात्र पूर्वोपस्थापितार्थावमर्शिताम् ।
द्योतयन् योजयामास स तस्येति पदद्वयम् ॥११९॥३४४॥

तत्पद जब प्रसिद्धार्थमात्र बोधक हो गया तब यत्पद पूर्वोपस्थापित अर्थ मात्र का परामर्शक हो जाता है। उसको द्योतित करनेके लिये 'स', 'तस्य' ये दो पद हैं। अर्थात् पूर्वोक्त पूरे अर्थ को सर्वनाम 'स' पदसे संगृहीत किया फिर 'तस्य' से उसको आगेके साथ जोड़ा ॥११९॥३४४॥

भाष्य-सवितुः सर्वस्य प्रसवितुः

योगरूढिः प्रसवितुरित्यनेन प्रदर्श्यते ।
पूज्यः प्रसविता सूर्यो ध्येयोऽयमिति सूच्यते ॥१२०॥३४५॥

योगरूढि दिखानेके लिये प्रसवितुः यह भाष्यमें कहा जो प्रसविता है, उत्पादक है, वह पूज्य होनेसे ध्यान योग्य है यह सूचित होता है ॥१२०॥ ३४५॥

आदित्याज्जायते वृष्टिस्ततो ह्यन्नं ततः प्रजाः ।
तस्मात्प्रसविता चात्मा जगतस्तस्थुषश्च सः ॥१२१॥३४६॥

स्मृतिमें आदित्यसे वृष्टि, उससे अन्न और उससे समस्त प्रजाकी उत्पत्ति बतायी है। अतः सूर्य प्रसविता है। "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इस श्रुतिमें चराचर जगत्की आत्माके रूपमें सूर्यका वर्णन है ॥१२१॥३४६॥

मण्डलस्थश्च पुरुषो वक्ष्यते सूर्यशब्दितः ।
हिरण्यगर्भसंज्ञोऽसौ सर्वप्रसविता मतः ॥१२२॥३४७॥

मण्डलस्थ पुरुष भी यहां सूर्य शब्दका अर्थ है ऐसा बतायेंगे। हिरण्यगर्भ नामक वह पुरुष सर्वप्रसविता है॥१२२॥३४७॥

भाष्य-देवस्य द्योतमानस्य सूर्यस्य

न च सोऽतीन्द्रियो देवो द्योतमानस्त्विहोच्यते ।
सूर्यो मण्डलदेहोऽसौ द्योतमानः परो भवेत् ॥१२३॥३४८॥

यहाँ अतीन्द्रिय देव विवक्षित नहीं है। अतः द्योतमानस्य ऐसी व्याख्या की। मण्डलस्थतया वह पुरुष सूर्य है। वह मण्डलमें द्योतमान परम आत्मा ही है॥१२३॥३४८॥

भाष्यः-तत् सर्वैर्दृश्यतया प्रसिद्धं वरेण्यं संभजनीयम्

प्रसिद्धस्तत्पदस्यार्थः शास्त्रेषु ब्रह्मभर्गसः ।

प्रत्यक्षेण च सर्वेषां प्रसिद्धिः सूर्यभर्गसः ॥१२४॥३४९॥

तत्पदका अर्थ प्रसिद्ध है। ब्रह्मभर्ग तो शास्त्रोमें प्रसिद्ध है। सूर्य भर्ग तो प्रत्यक्ष रूपसे सर्वलोकप्रसिद्ध है ॥१२४॥३५०॥

एनं गोपा उतादृश्रन्नुदहार्योऽप्यसूरयः ।

प्रत्यक्षदैवतं भानुः परोक्षं सर्वदेवताः ॥१२५॥३५०॥

"उतैनं गोपा अदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्यः" इस मन्त्रमें कहा है—सूर्य भगवान् को ग्वाले एवं पनिहारिन जैसे अज्ञानी भी देखते हैं। सूर्यतापिनी में बताया है—"प्रत्यक्षदैवतं भानुः परोक्षं सर्वदेवताः"। अर्थात् सूर्य प्रत्यक्ष देवता है अन्य सभी देव परोक्ष हैं। (अन्य देव ब्रह्मा विष्णु महेश्वर गणेशादि के उपाधि प्रत्यक्ष नहीं है) सूर्यतापिनी में "उतैनं गोपा" इत्यादि मन्त्र सूर्यार्थक ही पढे हैं ॥१२५॥३५०॥

भाष्य-भर्गः पापानां तापकं तेजोमण्डलं

पापानां भर्जनात्तेजो भर्गः प्रोक्तं विभावसोः ।

तत्तेजोदर्शनं सर्व-पापघ्नं पुण्यदं तथा ॥१२६॥३५१॥

पापोंका भर्जन करनेसे सूर्यका तेज भर्ग कहलाया। उस तेज का दर्शन पापहारी एवं पुण्यदायी बताया है ॥१२६॥३५१॥

कश्यपादुदिताः सूर्याः पापान्निघ्नन्ति सर्वदा ।

कश्यपः पश्यक इति भाषते सूर्यतापिनी ॥१२७॥३५२॥

कश्यपसे उत्पन्न सूर्य पापहारक है। कश्यपकी पत्नी अदितिसे आदित्य हुए ऐसी पौराणिक कथा है। सूर्यतापनीमें कश्यपका पश्यक अर्थ किया। "कश्यपः पश्यको भवति यत्सर्वं परिपश्यति सौक्ष्म्यात्" ऐसा वहां वचन है। सर्वसाक्षी परमात्मा अर्थ वहां सूचित होता है ॥१२७॥३५२॥

जुहोमि दुरितं सूर्ये ज्योतिषीत्यपि च श्रुतिः ।

ध्वान्तारिं सर्वपापघ्नमिति च प्रार्थनावचः ॥१२८॥३५३॥

"सूर्यश्च मा मन्युश्च" इत्यादि मन्त्रमें "यत्किंच दुरितं मयि सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि" आया है। अर्थात् सभी पापोंको मैं सूर्य ज्योतिमें होम

रहा हूं। 'जपाकुसुमसंकाशं काश्यपेयं महाद्युतिम्। ध्वान्तारिं सर्वपापघ्नं" इस प्रार्थनामन्त्रमें उक्त बात स्पष्ट है ॥१२८॥३५३॥

स दृष्टो मृडयात्वित्या-मनन् वाजसनेयिनः ।
तत्सुखं तापयति हि पापं दुःखं विलोपयत् ॥१२९॥३५४॥

वाजसनेयी संहितामें बताया है कि दृष्टिगोचर हुई सूर्यज्योति हमें मृडनात्मक परमसुख प्राप्त करायें। वह सुख पापका तापक है। क्योंकिउस दिव्य सुखमें दुःख विलुप्त हो जाता है ॥१२९॥३५४॥

भाष्य-धीमहि ध्यायेम मनसा धारयेम
ध्यानं चाप्यस्य फलदं शास्त्रेषु बहुधोदितम् ।
तद्ध्यानं पूजनं कार्यं श्रेयस्कामैरिति श्रुतेः ॥१३०॥३५५॥

सूर्यध्यानका भी महान् फल शास्त्रोंमें बताया है। सूर्यतापिनी श्रुतिमें कहा है, जो श्रेय चाहता है वह सूर्यका ध्यान या पूजन करें ॥१३०॥३५५॥

यदादित्यगतं तेजस्तत्तेजो विद्धि मामकम् ।
ध्यानपर्यवसानैषा गीतोक्तिः सप्रयोजना ॥१३१॥३५६॥

जो आदित्यमें तेज है वह मेरा (भगवानका) है यह गीतावचन ध्यानपर्यवसायी होनेसे ही सार्थक है ॥१३१॥३५६॥

हिरण्यगर्भरूपेण वर्णिता तदुपासना ।
धीमहीति पदेनात्र सैव ध्यानात्मिकोदिता ॥१३२॥३५७॥

सूयोपासना हिरण्यगर्भरूपमें शास्त्रोंमें वर्णित है। उसीको यहां धीमहिसे कहा ॥१३२॥३५७॥

यत्तत्सत्यं स आदित्य एतस्मिन्नेष मण्डले ।
पुरुषस्तमुपासीनः सत्यात्मानं प्रपद्यते ॥१३३॥३५८॥

जो यह सत्य है वही आदित्य है यह इस सौरमण्डलमें पुरुष है। उसकी उपासना करनेवाला सत्यात्माको प्राप्त होता है ऐसा श्रुतिका अभिप्राय है ॥१३३॥३५८॥

दक्षिणेऽक्षण्यसावेव सोऽहं भावोऽत्र चेष्यते ।
योऽसावसौ हि पुरुषः सोऽहमस्मीति च श्रुतेः ॥१३४॥३५९॥

"तद्यत् तत् सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः" इस श्रुतिमें दक्षिणाक्षिमें भी उसी पुरुषको ही बताया है। अत एव सोऽहं भावसे उपासना यहां भी अभीष्ट है। "योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" इस वचनसे भी यह बात सिद्ध है ॥१३४॥३५९॥

देवो भूत्वा यजेद् देवं नाविष्णुर्विष्णुमर्चयेत् ।
पशुरेव स देवानामित्यादिवचनैरपि ॥१३५॥३६०॥

स्वयं देव बनकर देवपूजन करो। अविष्णु विष्णुकी अर्चना न करें। जो देवको अन्य और अपनेको अन्य समझते हुए उपासना करता है वह पशु है इत्यादि वचनोंसे भी सोऽहं भावसे उपासना सिद्ध होती है ॥१३५॥३६०॥

दधाते रूपपक्षेऽपि ध्यानपर्यवसायिता ।
उच्यते मनसेत्येवं तच्चाग्रे दर्शयिष्यते ॥१३६॥३६१॥

"धीमहि" वह ध्यै धातुका रूप है। डुधाञ् धारणपोषणयोः इस धातुका रूप माने जानेपर अर्थ ध्यान ही होगा इस आशयसे मनसा धारयेम ऐसी व्याख्या है। रूपसिद्धि आगे बतायेंगे। ॥१३६॥३६१॥

इदं तु बोध्यमादित्यमण्डलस्थतया हरिः ।
ध्यायते तेन तस्यापि ध्यानमत्र विवक्षितम् ॥१३७॥३६२॥

यहां समझनेकी बात यह भी है कि-"ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः" इत्यादि वचनोंके अनुसार आदित्य-मण्डलस्थितरूपसे हरिका ध्यान होता है। अतः गायत्रीमें उक्त ध्यायेमसे नारायण ध्यान भी विवक्षित है। नारायण जिनका इष्ट है वे गायत्री मन्त्र बोलकर सूर्यमण्डलस्थरूपसे नारायणका ध्यान करें ॥१३७॥३६२॥

आदित्यानामहं विष्णुरित्यादित्यत्वसूचनात् ।
सिद्धं ध्यानं भगवतो विष्णोर्गायत्र्युपासने ॥१३८॥३६३॥

"आदित्यानामहं विष्णुः" इस वचनसे विष्णुमें आदित्यत्व सूचित होता है अतः विष्णुका ध्यान भी आदित्य ध्यान ही है ॥१३८॥३६३॥

भर्गशब्दः शिवे रुढो भर्गस्तन्मह एव तत् ।
शिवोपासनमप्येवं गायत्र्या सम्मतं सताम् ॥१३९॥३६४॥

भर्ग शब्द शिवमें रूढ है। अतः शिवकी ज्योति भर्गस् है। इसीलिये गायत्रीसे शिवोपासना भी विद्वत्सम्मत है ॥१३९॥३६४॥

नन्वकारान्तभर्गो हि कोशेषु शिववाचकः ।
सत्यं शिवमहो भर्गो रुद्रे तद्रूपवर्णनात् ॥१४०॥३६५॥

प्रश्न होगा कि अकारान्त भर्ग शब्द ही रुद्र अर्थमे कोशोंमें बताया है। भर्गस् शब्द नहीं। उत्तर है- समानधातूत्पन्न होनेसे शैव तेज ही भर्गस् शब्दका अर्थ है। अतएव सूर्यको रुद्ररूपमें रुद्राध्यायमें बताया है ॥१४०॥३६५॥

शिवेन वचसा प्राप्तुं गिरिश त्वा स्तुमो वयम् ।
इत्युपक्रम्य भगवान् रुद्रः सूर्यात्मना स्तुतः ॥१४१॥३६६॥

हे शंकर! आपको प्राप्त करनेके लिये हम मङ्गलमय वाणीसे आपका अभिवादन करते है ऐसा उपक्रम कर सूर्यरूपसे रुद्रस्तुति की- "शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छावदामसि" ॥१४१॥३६६॥

असौ ताम्रोऽरुणो बभ्रुर्य उतास्ति सुमङ्गलः ।
ये चैनमभितो रुद्रा हेडोऽपेयाम तद्गतम् ॥१४२॥३६७॥

जो उदय तथा अस्तमय कालमें ताम्र तथा अरुण है, कपिलवर्ण तथा सुमङ्गल है उस रुद्रके और उनके चारों ओर जो अनेक किरणरूपी रुद्र हैं उनके हेडका- क्रोधका हम अभिवादन करते हैं। नमस्ते रुद्र मन्यवे ॥१४२॥३६७॥

योऽवसर्पत्यसावुच्चैर्नीलग्रीवो विलोहितः ।
गोपास्तमुदहार्यश्च पश्यन्ति सुखदायिनम् ॥१४३॥३६८॥

जो सूर्यरूपसे नीलकण्ठ लोहितवर्ण (नीललोहित) शिव चल रहे हैं उन्हें गोप एवं पनिहारिन भी देखते हैं। वह हमें सुखदायी हो ॥१४३॥३६८॥

भर्गोऽग्निर्जातवेदाश्च नामत्रयमृचीरितम् ।
तदित्था रौद्रमित्येवं तत्सूक्तोपक्रमः स्थितः ॥१४४॥३६९॥

"भर्गो ह नामोत", "अग्निर्ह नामोत जातवेदा" (ऋ. १०-६१-१४) इस प्रकार ऋग्वेदमें तीन नाम समान अर्थमें बताये हैं। सूक्तके उपक्रममें "इदमित्था रौद्र गूर्त वाचा" इत्यादि बताया। अतः रुद्रसम्बन्धी भर्गस्का ज्ञान होता है। इसी सूक्तको लेकर ऐतरेयमें मनुपुत्रकी कथा तथा यज्ञशेषमें रुद्राधिकार बताया है (ऐ. ब्रा. ५-१४) ॥१४४॥३६९॥

रुद्रो वा एष यद्धयग्निरिति च ब्राह्मणेरितम् ।
रुद्रो वा रौद्रतेजो वा भर्गस्तेन च सिध्यति ॥१४५॥३७०॥

स्पष्ट ही अग्नि जातवेदाको रुद्र ब्राह्मणमें कहा है। अतः समानार्थक भर्ग रुद्र या रुद्रतेज ही है ॥१४५॥३७०॥

नान्यार्थो विश्रुतो लोके येनैतद्बाधसंभवः ।
तस्माद् भर्गःपदार्थोऽत्र शैवं तेजो हि युज्यते ॥१४६॥३७१॥

लोकमें अन्य अर्थमें भर्गस् शब्द प्रयुक्त नहीं है। भर्गस् शब्द का प्रयोग ही लोकमें नहीं है। अतः यहां बाधकी संभावना नहीं है। अतः लौकिक भर्ग शब्द ही वेदमें भर्गस् के रूपमें प्रयुक्त होनेसे शैव तेज ही भर्गस् शब्दका युक्तियुक्त अर्थ है ॥१४६॥३७१॥

जना जनास इतिवद् भेदः स्याल्लोकवेदयोः ।
लोके भर्गपदं भर्गस्पदं वेदेऽस्तु का क्षतिः ॥१४७॥३७२॥

लोकवेदाधिकरणमें पदोंमें अल्पभेद होनेपर भी प्रत्यभिज्ञासे समान-पदत्व स्वीकार किया है। जैसे जनाः, जनासः; आत्मना, त्मना इत्यादि। वैसे लोकमें जो भर्गपद है वही वेदमें भर्गस् पद है। क्योंकि अन्य भर्गस् पद लोकमें नही है। क्वचित् वर्णन वैदिक भर्गस् पदको लेकर ही है॥ १४७॥३७२॥

सूर्यां हिरण्मयीं लक्ष्मीमिति श्रीसूक्तदर्शनात् ।
शक्त्युपासनमप्यत्र गायत्र्या सुधियां मतम् ॥१४८॥३७३॥

श्रीसूक्तमें देवी को सूर्या बताया है। यद्यपि वहां स्त्रीलिङ्ग सूर्याशब्द हैं तथापि सूर्यवर्तिनी होनेसे वैसा प्रयोग है। अतः शक्त्युपासना भी गायत्री से अभीष्ट है ।१४८॥३७३॥

सा चैषा द्वादशादित्या आदित्यैश्च चराम्यहम् ।
इति चाथर्वशीर्षोक्तेर्देव्यामादित्यता स्थिता ॥१४९॥३७४॥

"अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैः" "सैषा द्वादशादित्या" इत्यादि अथर्वशीर्षसे भी देवीमें आदित्यत्व सिद्ध होता है ॥१४९॥३७४॥

तथा गणपतिं देवं प्रस्तुत्याथर्वणी श्रुतिः ।
त्वं सूर्य इति यत्प्राह तच्च स्यात्तदुपास्तये ॥१५०॥३७५॥

एवं गणपति देव प्रस्तुत कर तुम सूर्य हो ऐसा अथर्वश्रुतिमें जो बताया वह भी सूर्यस्थत्वेन-रूपेण गणपतिके उपासनार्थ है ॥१५०॥३७५॥

प्रत्यक्षकर्मकृद्ब्रह्मविष्णुरुद्रादिरूपतः
सूर्यस्याथर्वशिरसि गायत्र्या वर्णनादपि ॥१५१॥३७६॥

गायत्री मन्त्र बोलकर "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" ऐसे उपक्रमके साथ "त्वमेव प्रत्यक्षं कर्मकर्तासि त्वमेव प्रत्यक्षं विष्णुरसि त्वमेव प्रत्यक्षं रुद्रोऽसि" इत्यादि सूर्याथर्वाङ्गिरसमें बताया है। उससे भी उक्त बात सिद्ध होती है ॥१५१॥३७६॥

पञ्चानामपि देवानामुपास्तिरितरस्य च ।
विवक्षिताऽत्र तेन स्याद् धीमहीति च लिङ्गतः ॥१५२॥३७७॥

इसलिये पांचो देवोंकी बल्कि अन्य देवों- कार्तिकादिकी भी उपासना सूर्यरूपसे यहां विवक्षित है। धीमहि यह उपासनालिङ्ग है ॥१५२॥३७७॥

बर्हिर्देवसदो दामीत्युक्त्वा बर्हिर्दितिर्यथा ।
गायत्रीमभिधायैवं ध्यानं भवति भर्गसः ॥१५३॥३७८॥

जैसे "बर्हिर्देवसदनं दामि" यह मन्त्रं बोलकर बर्हि (कुश) का छेदन होता है उसमें लिङ्ग-प्रमाण है वैसे गायत्रीमन्त्र बोलकर पूर्वोक्त उपसनायें लिङ्गप्रमाणसे सिद्ध होती हैं ॥१५३॥३७८॥

ननु सूर्यस्थितो नात्रोपास्यः सूर्यस्तथोच्यते ।
देवः सोऽपि यमादित्यो न वेदेति श्रुतेर्वशात् ॥१५४॥३७९॥

पूर्वपक्षः- स्वयं सूर्य यहां उपास्यरूपमें प्रतीत हो रहा है। न कि सूर्यस्थित शिव विष्णु आदि। सूर्य भी तो देव है। "यमादित्यो न वेद" यह श्रुति जडमण्डलको लेकर नहीं है। वहां प्रतिषेध व्यर्थ है ॥१५४॥३७९॥

सत्यं भगवता तस्य फलमन्तवदीरितम् ।
तस्मात्तत्स्था उपास्याः स्युर्ब्रह्मरूपाः शिवादयः ॥१५५॥३८०॥

उत्तरः- "यमादित्यो न वेद" यह एक सामान्यदेवका वर्णन है। उसकी उपसनाका फल अन्तवान होता है। "अन्तवत्तु फलं तेषां" ऐसा भगवानने कहा है। गायत्रीकी उपसनाका फल महान होना चाहिये। अतः ब्रह्मरूप शिवादिकी उपसना विवक्षित है ॥१५५॥३८०॥

सर्वदेवात्मन इति वक्ष्यते भाष्यकृत् स्वयम् ।
सर्वदेवा अतो ध्येया गायत्र्या ब्रह्मरूपतः ॥१५६॥३७८१॥

भाष्यकार गायत्रीको सर्वदेवात्मक ब्रह्मकी प्रतिपादिका आगे बतायेंगे। सर्वदेवात्मक विशेषणसे गायत्रीसे सभी देव उपास्य हैं यह भाव सूचित होता है। अतः गायत्री मन्त्र बोलकर शिवादि समस्त देवोंकी उपासना भाष्‌कारको भी अभिमत सिद्ध होती है ॥१५६॥३८१॥

नन्वेषु ब्रह्मदृष्टिश्चेत् स्याद् ब्रह्मोपासनैव सा।
शिवादिदृष्टिर्नो ब्रह्मण्यपकर्षप्रसङ्गतः ॥१५७॥३८२॥

पूर्वपक्षः- यदि शिवादिमें ब्रह्मदृष्टि करते हैं तो वह ब्रह्मोपासना ही होगी। (जैसे मूर्तिमें विष्णुदृष्टि करते हैं तो वह विष्णूपासना ही है) यदि ब्रह्ममें शिवादिदृष्टि करते हैं तो "ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्" इस न्यायका विरोध होगा। उत्कृष्टमें अपकृष्ट दृष्टि नहीं की जाती ॥१५७॥३८२॥

मैवं शिवादेः श्रुतिषु ब्रह्मरूपेण वर्णनात् ।
ब्रह्मदृष्टावपि शिवाद्युपास्तिः संमता श्रुतेः ॥१५८॥३८३॥

उत्तरः- श्रुतियोंमें शिवादिका भी ब्रह्मके रूपमें वर्णन किया है। अतः ब्रह्मदृष्टि करनेपर भी वह उपासना शिवादि उपासना ही होगी। जैसे अथर्वशीर्षमें "ब्रह्म त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं" इत्यादि ॥१५८॥३८३॥

एतेन ब्रह्मदृष्टिश्चेत् सूर्य एव तथेष्यताम् ।
इत्यपास्तं यथाभक्ति सर्वेषामप्युपासनात् ॥१५९॥३८४॥

इससे यह पूर्वपक्ष भी निरस्त हो जाता है कि ब्रह्मदृष्टि ही करनी होतो सूर्यमें ही क्यों न कर लें। बात यह है कि अपनी अपनी भक्ति अनुसार उपासनायें होती हैं ॥१५९॥३८४॥

ब्रह्मदृष्टिमकुर्वाणा अपीशादिमुपासते ।
वैश्वानरावयववद् भक्ता गायत्र्युपास्तिषु ॥१६०॥३८५॥

भक्त लोग तो ब्रह्मदृष्टि न करते हुए भी गायत्रीकी उपासनामें शिव विष्णु आदिकी उपसना करते हैं। जैसे वैश्वानर अवयव की उपासना होती है ॥१६०॥३८५॥

एकदेशोपास्तिफलमत्स्यन्नमिति हि श्रुतम् ।
इहापि स्यात्फलं तद्वत् तथा वचनदर्शनात् ॥१६१॥३८६॥

वैश्वानरके एकदेशकी उपसनाका फल-"अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियं" बताया है। "औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्से" ऐसा प्रश्न उठाया। "दिवमेव राजन्" बता दिया। दिव को "मूर्धैव" ऐसा अंग बताकर उक्त फल कहा। शिवादिकी उपासनाका भी फल उसी प्रकार शास्त्रोंमें वर्णित है ॥१६१॥३८६॥

नन्वनिष्टं च मूर्धा ते व्यपतिष्यदिति श्रुतेः ।
मैवमत्र तथाऽनिष्टाश्रवणादप्रसक्तितः ॥१६२॥३८७॥

पूर्वपक्षः- एकदेशोपासनासे अनिष्ट फल "मूर्धा ते व्यपतिष्यत्" इस प्रकार वैश्वनरोपासना में कहा है। उत्तर-ठीक है, किन्तु शिवादिकी उपासनामें ऐसा बताया नहीं है। हमें तो वचन ही प्रमाण है ॥१६२॥३८७॥

ध्यानं द्युप्रभृतेरेकदेशत्वेन यथाकृतम् ।
तथा शिवादेर्ब्रह्मैकदेशत्वान्न्यायतोऽस्तु तत् ॥१६३॥३८८॥

पर, ब्रह्मैकदेश शिवादिकी उपासनामें क्या प्रमाण? उत्तर है-न्यायतः प्राप्त है। क्योंकि एकदेश है। जैसे वैश्वानरैकदेश दिवकी उपसना औपमन्यवादिने की ॥१६३॥३८८॥

अन्तवत्तु फलं तेषामित्येवं निन्दितत्वतः ।
निषिध्दमिति चेत्तन्न फलस्यापि प्रदर्शनात् ॥१६४॥३८९॥

"अन्तवत्तु फलं तेषा" इस प्रकार एकदेशोपासना निषिद्ध है। ऐसी शंका करनेकी जरूरत नहीं। क्योंकि फल भी बताया है ॥१६४॥३८९॥

लभते च ततः कामान् देवान् यान्ति हि तद्यजः ।
इति स्मृतेः फलं सर्वं जन्यमन्तवदेव हि ॥१६५॥३९०॥

"लभते च ततः कामान्" "देवान् देवयजो यान्ति" इत्यादि स्मृतिमें फल बताया है। "अन्तवत्तु" यह निंदा नहीं है। जो जन्य फल होता है वह अन्तवाला होता ही है। वह स्वभावकथनमात्र है। स्वर्गादि भी तो अन्तवाला है ॥१६५॥३९०॥

अपि चापशवो ह्यन्ये गवाश्वेभ्यो यथोदिताः ।
स्तुत्यर्थं ब्रह्मभजनफलं नित्यं तथा स्मृतम् ॥१६६॥३९१॥

जन्य होनेसे अन्तवान् सिद्ध है तो कहनेकी क्या आवश्यकता थी ? इसलिये कि ब्रह्मभजन फलको नित्य बताकर विधिस्तुति करनी थी। जैसे "अपशवो वा ह्यन्ये गवाश्वेभ्यः पशवो गो अश्वाः" इत्यादि निन्दा विधेयस्तुत्यर्थ है। न कि छागयागादिप्रतिषेधार्थ ॥१६६॥३९१॥

भाष्य-यद्वा भर्गःशब्देनान्नमभिधीयते
सविशेषमकामानां पारम्पर्येण मोक्षदम् ।
उक्त्वाधुना सकामानामैहिकं फलमुच्यते ॥१६७॥३९२॥

सविशेष सूर्य ध्यान निष्काम पुरुषोंके लिये परम्परया मोक्षदायी है। उसे कहकर सकामके लिये ऐहिक फलदायित्वेन अब वर्णन करते हैं ॥१६७॥३९२॥

भृज्ज्यते पच्यते यद्धि बाह्ये वा जाठरेऽनले ।
तदुच्यते भर्ग इति तदन्नमिति युज्यते ।।१६८॥३९३।।

भर्गस् शब्दका यहाँ अन्न अर्थ है। जो बाह्य अग्निमें या जठरानलमें पकाया या पचाया जायं वह भर्ग है। भ्रस्ज पाके ऐसा धातुपाठ है। वह भर्ग अन्न है ॥१६८॥३९३॥

सवितृत्वं हि सवितुर्भवत्यन्नेन भर्गसा ।
आदित्याज्जायते वृष्टिस्ततो ह्यन्नं ततः प्रजाः ॥१६९॥३९४॥

सविताका उत्पादनकर्ता अर्थ है। प्रजाका उत्पादन तो अन्नरूपी भर्गसे ही होता है। यह बात मनुस्मृतिमें भी बतायी है—आदित्यसे वृष्टि और उससे अन्न होता है। अन्नसे प्रजा होती है ॥१६९॥३९४॥

अन्नाद् भवन्ति भूतानीत्याह स्म भगवानपि ।
अशेषभूतसवितुरन्नं भर्गस्ततः स्थितम् ॥१७०॥३९५॥

प्रजासे केवल मनुष्यमात्रका ग्रहण (मनुस्मृतिमें) नहीं किन्तु प्राणिमात्र ग्राह्य है। अत एव भगवानने प्रजाकी जगह भूतानि कहा। समस्त प्राणियोंके सविताका अर्थात् उत्पादकका भर्ग तो अन्न ही हो सकता है ॥१७०॥३९५॥

भाष्य- यः सविता देवो धियः प्रचोदयति तस्य प्रसादाद्

भर्गोऽन्नमत्र सवितुः साहचर्येण लभ्यते ।
न तु व्यावर्तकमिदं वैयर्थ्यादिप्रसङ्गतः ॥१७१॥३९६॥

"सवितुः" इस पदके सांनिध्यसे भर्गपदसे अन्न अर्थ गृहीत हुआ है। न कि अन्नका व्यावर्तक विशेषण "सवितुः" पद है। क्योंकि विशेषण व्यर्थ पडता है। क्या सविता से सम्बन्ध न रखनेवाला भी कोई अन्न है? यदि है तो उसे भी प्राप्त करनेमें क्या हानि है? अतः व्यावर्तक विशेषण नहीं है ॥१७१॥३९६॥

धियः कर्माणि सविता प्रचोदयति तैर्भवेत् ।
पर्जन्यश्च ततोऽन्नं चेत्यन्नं तोनोपतिष्ठते ॥१७२॥३९७॥

यज्ञादि कर्मके प्रेरकत्वेन सूर्यको बताया। उन यज्ञादि कर्मोंसे पर्जन्य तथा अन्न होगा। अतः धीपदघटित सवितृ पदसे अन्नोपस्थिति होती है ॥१७२॥३९७॥

षष्ठी ततोऽत्र सामान्यसम्बन्धं कथयेत् स तु ।
प्रसादद्वारकोऽन्ने वा धारणे वा समन्वितः ॥१७३॥३९८॥

सवितुः यह षष्ठी सम्बन्धसामान्यको बतायेगी। वह सम्बन्ध प्रसाद-द्वारक होगा। जिसका अन्वय अन्नमें या अन्नधारणमें है ॥१७३॥३९८॥

अत्र पक्षे तदित्येतत्तस्येत्यर्थे विशेषणम् ।
यत्पदार्थपरामर्शि सवितुस्तत्त्वसूचनम् ॥१७४॥३९९॥

इस पक्षमें तत् का तस्य अर्थ है। वह यत्पदोक्त धीप्रेरकका परामर्शी है। सविताका विशेषण है। धीप्रेरकत्वरूपी सवितृत्वका उपस्थापक है ॥१७४॥३९९॥

भाष्य-भर्गोऽन्नादिलक्षणं फलं

कर्मादीनां विपाको हि फलमित्यभिधीयते ।
भर्गः फलार्थकं वाऽतो भृज्यते तद् विपच्यते ॥१७५॥४००॥

कर्मादिका विपाक ही फल है। अतः भर्गस् पद फलार्थक हो सकता है। भ्रस्ज पाके। भृज्ज्यत विपच्यत इति फलम् ऐसी व्युत्पत्ति है ॥१७५॥४००॥

वरणीयमतः सर्वं फलमन्नादिलक्षणम् ।
प्राप्नुयामखिलं सूर्यप्रसादादिति योजना ॥१७६॥४०१॥

इस पक्षमें अर्थ होगा-वरणीय सभी फल जो अन्नदिरूप हैं उन सबको हम सूर्यके प्रसादसे प्राप्त करें ॥१७६॥४०१॥

श्रीकामादिकमुद्दिश्य विधत्ते सूर्यतापिनी ।
भगवन्तं भास्करं तमुपासीतेति विस्फुटम् ॥१७७॥४०२॥

सूर्यतापिनीमें "श्रीकामः शान्तिकामः तुष्टिकामः पुष्टिकामो मेधाकामः प्रज्ञाकाम आयुष्काम आरोग्यकामोऽन्नाद्यकामो भास्करं भगवन्तमुपासीत" ऐसा विधान किया है ॥१७७॥४०२॥

अन्नाद्यकाम इत्यत्र गतार्थं सर्वमित्यतः ।
भाष्यकृत् तद्गृहीत्वाह फलमन्नादिलक्षणम् ॥१७८॥४०३॥

सूर्यतापिनीमें अन्तमें अन्नाद्यकामः बताया है। वहाँ आद्यपदसे सभी गतार्थ है। अतः उसीको लेकर भाष्यकारने "अन्नादिलक्षणं फलं" बताया ।१७८॥४०३॥

भाष्य-धीमहि धारयामः

धारणे पोषणे चार्थे दधातिर्लिङि तस्य च ।
दधीमहीति वक्तव्ये दलोपश्छान्दसः कृतः ॥१७९॥४०४॥

डुधाञ् धारणपोषणयोः धातु है। उसका लिङ्में दधीमहि रूप है उसमें द का लोप छान्दस है ॥१७९॥४०४॥

भाष्य-तस्याधारभूता भवेमेत्यर्थः

धीङाधारे दिवाद्येष श्यनो लुक् छान्दसो भवेत् ।
अन्नादिसुफलाधारा वयं स्यामार्कपूजनात् ॥१८०॥४०५॥

धीङ् आधारे ऐसा दिवादिगणमें धातु है। उसका लिङ्में रूप धीमहि है। यद्यपि श्यन् होनेसे धीयेमहि होना चाहिये। किन्तु "बहुलं छन्दसि" इस सूत्रसे विकरण लुक् हो जानेसे यह रूप सिध्द होता है। अर्थ यह होगा कि सूर्यपूजनसे हम अन्नादि फलके भागी बनें ॥१८०॥४०५॥

नन्वेवं विवृतौ नैवोपासनालिङ्गमीक्ष्यते ।
न परः खलु शब्दार्थो विधौ कल्प्येऽपि युज्यते ॥१८१॥४०६॥

पूर्वपक्षः- भर्गो धीमहि का यदि अन्नादि धारण अर्थ है, ध्यान अर्थ नहीं, तो उपासनाका लिङ्ग यहां न होनेसे सूर्योपासना अर्थ कैसे निकलेगा? "न विधौ परः शब्दार्थः" यह न्याय कल्प्य विधिमें भी समान है। अतः अध्याहृत प्रसादसे उपासना प्राप्य नहीं है ॥१८१॥४०६॥

अध्याहारादिवशतो बर्हिर्मन्त्रोऽयमन्यथा ।
उलपादेरपि भवेल्लवनाङ्गं हि लिङ्गतः ॥१८२॥४०७॥

यदि कल्प्यविधिमें "न विधौ परः शब्दार्थः" यह नियम लागू नहीं होगा तो 'बर्हिर्देवसदनं दामि' यहां अध्याहारादिसे प्राप्य उलपादिलवनमें भी वह अंग होगा ॥१८२॥४०७॥

न चोपास्तिर्वरेण्यत्वलिङ्गाल्लभ्येति सांप्रतम् ।
विशेषणं तदन्नस्य न पुनः सवितुर्यतः ॥१८३॥४०८॥

वरेण्यं इस विशेषण लिंगसे उपासना प्राप्त होगी ऐसी भी बात नहीं है। क्योंकि वह सविताका विशेषण नहीं, भर्गस् का विशेषण है और भर्गतो अन्नका नाम बताया ॥१८३॥४०८॥

अत्रोच्यते फलोक्त्यात्र किंचित्कर्मावगम्यते ।
सवितृस्वामिकं भर्गो लभ्यं तस्य प्रसादतः ॥१८४॥४०९॥

समाधान यह है कि भर्ग अन्नादि हम पाये इस फलोक्तिसे कर्मकी प्रतीति होती है। सवितुः भर्गः कहनेसे यह अन्नादि सविताकी मालिकीका बोध होता है। सविताकी वस्तु सविताके प्रसादसे ही प्राप्य है ॥१८४॥४०९॥

न देवदत्तः स्वं वस्तु प्रददात्यप्रसादितः ।
प्रसादः सेवया जन्यः सेवा चोपासनादिका ॥१८५॥४१०॥

प्रसन्नताके बिना देवदत्त अपनी वस्तु दूसरेको क्यों देगा? प्रसन्नता तो सेवा आदिसे होती है। देवसेवा तो उपासना आदि है ॥१८५॥४१०॥

सिद्धं देवपदेनापि यजनं देवपूजनम् ।
उपासनादिकं देवपूजनं परिकीर्तितम् ॥१८६॥४११॥

देवपदसे भी यह अर्थ सिद्ध होता है। यज धातुका अर्थ देवपूजा है। पूजार्थ ही देव है। उपासनादि देवपूजन है ॥१८६॥४११॥

अर्थसिद्धः प्रसादश्च देवपूजा च तत्ततः ।
सूर्योपास्त्यादिकं सिद्धं तदङ्गं मन्त्र एव च ॥१८७॥४१२॥

इस प्रकार अर्थसिद्ध प्रसादको ही भाष्यकारने कहा। और उसी से पूजा भी अर्थसिद्ध है। अतः सूर्योपासना तथा तदङ्गतया गायत्री मन्त्र भी अर्थसिद्ध ही है ॥१८७॥४१२॥

श्रीशान्तितुष्टिपुष्ट्यादेस्तापिन्यां फलतोक्तितः ।
सूर्योपास्त्यभिधानाच्च नात्र क्लिष्टार्थकल्पना ॥१८८॥४१३॥

पूर्वपक्ष होगा कि इतनी सारी परम्परा जोडकर उपासनाका विधान क्लिष्टार्थकल्पना है। उत्तर है कि नहीं, सूर्यतापिनीमें श्री, शान्ति, पुष्टि आदि फल बताया और तदर्थ सूर्योपासनाका कथन किया अतः यह सब कोई कल्पनामात्र नहीं है। वहां अन्नाद्यकामः भी बताया है ॥१८८॥४१३॥

स्यात्तापिन्यनुवादोऽयमेवं चेदिति चेन्न तत् ।
वैदिकत्वसमानत्वात्प्रथमोपस्थितेरपि ॥१८९॥४१४॥

इस प्रकार फिर तापिनी में बतायी हुई स्पष्ट विधिका यह अनुवादमात्र होगा। नहीं। दोनों वैदिक होनेसे अनुवादकत्व नहीं है। गायत्री आबाल प्रथमोपस्थित है। प्रथमोपस्थित अनुवाद कैसे होगा? ॥१८९॥४१४॥

तात्पर्यबोधसमयेऽनुपपन्नार्थधीर्भवेत् ।
शाब्दोत्तरं झटित्येव तन्मानसमतिस्तथा ॥१९०॥४१५॥

तात्पर्यज्ञानसमयमें ही अनुपपत्तिज्ञान और उसका प्रतियोगी ज्ञान हो जायेगा। और शाब्दबोधके तुरन्त बाद आर्थिक अर्थकी मानसानुभूति होगी ॥१९०॥४१५॥

अर्थसंग्राहकत्वेन स्मृतीनामपि मानता ।
विरोधाभावतो नात्र बलाबलविचारणा ॥१९१॥४१६॥

अर्थसंग्राहक होनेसे स्मृति भी प्रमाण है। भले वह श्रुत्यनुमानपूर्वक हो। तब आर्थिकार्थकी उपस्थापिका श्रुति नितरां प्रमाण है और विरोध न होने से बलाबल विचार भी नहीं होता ॥१९१॥४१६॥

प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्रशब्दिताः ।
स्वतन्त्रास्तत्र मन्त्रा हि न परानन्नवीक्षणाः ॥१९२॥४१७॥

प्रयोग समवेत अर्थका स्मरण करानेवाले ही मन्त्र होते हैं। उसमें मन्त्र पराधीन नहीं होते, स्वतन्त्र होते हैं ॥१९२॥४१७॥

आग्नेयोऽष्टाकपालोऽत्र द्रव्यदेवतयोः स्थितौ ।
एतद्द्वयस्वरूपस्य यागस्याप्युद्भवेन्मतिः ॥१९३॥४१८॥

आग्नेयोऽष्टाकपालः यहां द्रव्य और देवता बताये हैं। यागका स्वरूप ये ही दो हैं। अतः क्रियापदके बिना भी यागविधि सिद्ध होती है ॥१९३॥४१८॥

उपास्तेर्देवमात्रं तु स्वरूपं भवतीत्यतः ।
सविता देव इत्युक्तावुपास्तिः किं न गम्यताम् ॥१९४॥४१९॥

उपासनामें देवमात्र स्वरूप होता है। तब सविता देव कहनेसे उपासनाकी प्राप्ति क्यों नहीं होगी? ॥१९४॥४१९॥

अग्निर्हि देवताऽऽग्नेयतद्धितेनोपतिष्ठते ।
अत्र प्रत्यक्षशब्दोऽस्ति देवस्येति तदर्थकः ॥१९५॥४२०॥

"आग्नेयोऽष्टाकपालः "यहां" साऽस्य देवता" से विहित तद्धित प्रत्ययसे देवातात्व प्रत्यय होता है। गायत्रीमें तो सवितुर्देवस्य इसप्रकार स्पष्ट देव शब्द पठित है ॥१९५॥४२०॥

क्वचित्कर्माङ्गताप्यस्य याज्ञिकाचारदर्शनात् ।
समभिव्याहृतेरन्नसवित्रोर्द्रव्यदेवयोः॥१९६॥४२१॥

कहीं यज्ञादिकर्माङ्गता भी गायत्री मन्त्रकी स्वीकार्य है। याज्ञिक लोगोमें गायत्री मन्त्रसे आहुति देनेका शिष्टाचार है। दूसरी बात-मन्त्रमें

सविता देवता बताया है। और भर्गस् अन्न द्रव्य बताया है। तब द्रव्य-देवतात्मक याग सिद्ध होता है ॥१९६॥४२१॥

न च भाष्येऽन्नफलत उपासोक्तेति सांप्रतम् ।
प्रसादसिद्ध्यै त्यागार्थमन्नाऽऽदानार्थसंभवात् ॥१९७॥४१२॥

शंका होगी की भाष्यमें "सवितुः प्रसादादन्नं धारयामः" इस प्रकार फलरूपसे अन्न बताया है। न कि द्रव्य रूपसे सविता देवके लिये। उत्तर यह है "प्रसादात्" यह हेत्वर्थ पञ्चमी है। प्रसादकी सिद्धिके लिये देवतोद्देश्येन त्यागार्थ अन्न धारण करते है इस प्रकार अन्वय करना भी संभव है। (सम्बन्ध सामान्यमें षष्ठी होनेसे चतुर्थ्यर्थ संप्रदान षष्ठ्यर्थ हो सकता है। विष्णोरिदं हविः इत्यादि प्रयोग देखनेमें आते हैं॥१९७॥४२२॥

हेतौ च पञ्चमी प्रोक्ता हेतुः फलमपीष्यते ।
देवप्रसादतो लभ्यमिहामुत्रफलं सताम् ॥१९८॥४२३॥

हेतु अर्थमें पञ्चमी बतायी है। "फलमपीह हेतुः" फल भी हेतु होता है। परंतु देवता प्रसाद सुख या दुःखाभावरूप न होनेसे फल किस प्रकार? उत्तर है देवता प्रसादसे ऐहिक पारत्रिक फल होता है। अतः वह भी फल ही है ॥१९८॥४२३॥

प्रसादेऽन्ने च सवितुरित्यस्यान्वय इष्यताम्
ग्रहं गृह्णाति होमार्थं तद्वदस्त्वन्नधारणम् ॥१९९॥४२४॥

भाष्यमें "सवितुः" का प्रसाद तथा अन्न दोनोंके साथ अन्वय मान लीजिये। सवितुः प्रसादार्थं सवितुरन्नं धारयेम ऐसा अन्वय उचित है। "ग्रहं गृह्णाति" इस वाक्यमें सोमपात्र ग्रहणमात्र बताया है। किन्तु वह होमार्थ ही है, न कि अदृष्टार्थ। वैसे अन्नं धारयामः यह भी सवितृ होमार्थ समझा जा सकता है ॥१९९॥४२४॥

व्यत्ययेन यदा षष्ठी चतुर्थ्यर्थेऽभ्युपेयते ।
तदार्थादेव सवितुः प्रसादो गृह्यतां फलम् ॥२००॥४२५॥

"व्यत्ययो बहुलं" इस सूत्रसे चतुर्थ्यर्थ में षष्ठी मानी जा सकती है। सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन "ऐसी इसपर वृत्ति है। अर्थात् यद्यपि विकरण व्यत्ययमात्र सूत्रसे उक्त है तथापि बहुलं कहनेसे सुप्, तिङ्

आदिका भी व्यत्यय स्वीकार्य है। उस पक्षमें सवित्रेऽन्नाद्यं धीमहि ऐसा अन्वय होगा। इस पक्षमें प्रसादमें सविताका अन्वय आर्थिक होगा ॥२००॥४२५॥

आधारभूता इत्येवमत एवात्र भाष्यकृत् ।
व्याकरोत्यर्थतः स्वत्वास्वत्वसाधारणात्मना ॥२०१॥४२६॥

सविताके लिये अन्नधारण अर्थ भी लानेके लिये स्वत्व अस्वत्व उभयसाधारण अर्थलाभार्थ भाष्यकारने आधारभूता भवेम ऐसी व्याख्या की। "धीङ् आदाने" ऐसा धातुपाठ है। क्षीरस्वामीने धीङ् आधारे ऐसा पाठ किया है। देवताके लिये संकल्पात्मक स्वत्वत्याग होनेपर भी प्रक्षेपण से पूर्व अन्नात्मक हवि के आधार तो रहेंगे ही ॥२०१॥४२६॥

भाष्य-अथ सर्वदेवात्मनः
अथोपास्त्युपयोग्यर्थं व्याख्यायोपासनाद्वये ।
संयोज्यान्यक्षराण्याह प्राणायामे जपे तथा ॥२०२॥४२७॥

भाष्यकारने उपासनाके उपयोगी गायत्री मन्त्रार्थ बताकर प्राणायाम तथा जपरूपी दो उपासनाओंमें गायत्रीके साथ जोड़ने योग्य "ॐ भूः" इत्यादि अक्षरोंको कहने जा रहे हैं। ॥२०२॥४२७॥

गायत्र्याः परमात्मार्थप्रतिपादकतावशात् ।
सर्वोपास्त्युपयोगित्वं प्रथमं तत्र भाषते ॥२०३॥४२८॥

गायत्री परमात्माकी प्रतिपादिका होनेसे समस्त देवताओंकी उपासनामें उपयोगी है यह बात पहले कहते हैं ॥२०३॥४२८॥

सर्वदेवात्मन इति यस्य कस्याप्युपासना ।
देवस्य शक्या गायत्र्या विधातुमिति सूच्यते ॥२०४॥४२९॥

भाष्यमें "परमात्मनः" का विशेषण "सर्वदेवात्मनः" लिखनेका अभिप्राय यह है कि गायत्रीप्रतिपाद्य तत्त्व सर्वदेवात्मा होनेसे सभी देवताओंकी उपासना गायत्रीसे कर सकते हैं यह सूचित करना है ॥२०४॥४२९॥

भाष्य-सर्वशक्तेः
घटशक्तिं न लभते घटस्यात्मापि मृद्यथा ।
लभते देवशक्तिं न परमात्मेति चेन्न तत् ॥२०५॥४३०॥

मृतिका घटकी आत्मा है। फिर भी घटकी जलादिधारणशक्ति मृतिकामें नहीं रहती, वैसे देवोंकी आत्मा होनेपर भी सवितामें देवशक्ति नहीं हो सकती। फलतः परमात्माके प्रतिपादक मन्त्रसे देवोपासना कैसे होगी इसका उत्तर सुनो ॥२०५॥४३०॥

परमात्मा सर्वशक्ति-र्लोकतो हि विलक्षणः ।
गायत्र्या देवशक्तिश्च व्यज्यतेऽतः फलप्रदा ॥२०६॥४३१॥

परमात्मारूपी आत्मा लौकिक आत्मासे विलक्षण है। अत एव सर्वदेवशक्ति उसमें है। अत एव परमात्मा प्रतिपादक गायत्रीसे तत्तत् देवोंकी शक्ति भी अभिव्यक्त होती है जो तत्तत्फलप्रद है ॥२०६॥४३१॥

नानोपाधिवशादेष एकोऽपि बहुधा भवेत् ।
ब्रह्मविष्णुशिवाद्याख्यां लभते च पृथक् पृथक् ॥२०७॥४३२॥

इसमें कारण यह है कि यहां नवीन किसी देवचेतनकी उत्पत्ति नहीं है। उपाधिके कारण एक ही परमात्मा अनेकाकार होता है। न कि मृत्तिकासे घटके समान इनकी उत्पत्ति होती है। उपाधिके कारण ही ब्रह्मा, विष्णु शिव आदि पृथक नामरूप भी हैं ॥२०७॥४३२॥

शुद्धसत्त्वप्रकृत्या स्यादीश्वरः स उपाधिना ।
सृष्ट्यादिकार्यनानात्वात्तन्नानात्वमुपाधिभिः॥२०८॥४३३॥
सर्जने बहिरादत्ते रजः सत्त्वं च रक्षणे ।
तमः संहरणे चातो ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥२०९॥४३४॥

शुद्धसत्त्व प्रकृति उपाधि होने पर वह परमात्मा ईश्वर होता है। सृष्टि, रक्षा एवं संहारकार्य नाना होनेसे उस ईश्वरमें पुनः उपाधियोंसे नानात्व आता है। सृष्टिके लिये बाहरसे साधनरूपसे वही शुद्ध सत्त्वप्रधानोपाधिक ईश्वर रजोगुणको धारणकर ब्रह्मा होता है। वही बाहरसे सत्त्वगुणको ग्रहणकर विष्णु होता है। वही शुद्धसत्त्व ईश्वर बाहरसे तमको ग्रहणकर महेश्वर होता है ॥२०८-२०९॥ ४३३-४३४॥

शुद्धसत्त्वप्रधाना हि सर्वे ब्रह्मादयो मताः ।
सर्वज्ञत्वादिकं तेषां युज्यते तेन नान्यथा ॥२१०॥४३५॥

ब्रह्मा आदि सभी देव शुद्धसत्त्वप्रधान हैं। अत एव उनकी सर्वज्ञता आदिकी उपपत्ति है। अन्यथा रजोगुणी होते तो सर्वज्ञत्वादिकी संभावना ही नहीं हो सकती थी ॥२१०॥४३५॥

चतुर्वक्त्र-चतुर्बाहु-पञ्चवक्त्रादिरूपिणः
उपास्त्यर्थावताराः स्युः समानाः प्रायशोऽखिलाः ॥२११॥४३६॥

शुद्धसत्त्वप्रकृति निराकार होनेसे मूल ब्रह्मा आदि भी निराकार ही हैं। वे ही उपासनार्थ चतुर्मुख ब्रह्मा, चतुर्भुज विष्णु एवं पञ्चमुख शंकर आदिके रूपमें अवतीर्ण होते हैं। बाह्योपाधि सत्त्वगुणादिके बारेमें ये सभी प्रायः समान हैं। विष्णु भी दुष्टसंहारादि करते हैं। शंकर भी शिष्टरक्षणादि करते हैं ॥२११॥४३६॥

भाष्य-सर्वावभासकतेजोमयस्य

शक्त्याद्यैः सगुणत्वेऽस्य निर्गुणोपासना कथम् ।
उच्यते वस्तुतः साक्षी योऽयं सर्वावभासकः ॥२१२॥४३७॥

यदि सर्वदेवस्वरूप सर्वशक्तिमान परमात्मा है तो वह सगुण ही हुआ, तब उसकी निर्गुणोपासना कैसे हो? सुनो, वस्तुतः परमात्मा साक्षी है, सर्वावभासक है ॥२१२॥४३७॥

सर्वावभासकं तच्च तेजो ज्ञानात्मकं मतम् ।
तदेकरसरूपत्वं तन्मयत्वमुदीर्यते ॥२१३॥४३८॥

सर्वावभासक वह तेज ज्ञानस्वरूप ही अभिमत है। ज्ञानैकरसता ही ज्ञानमयता तेजोमयता है ॥२१३॥४३८॥

भाष्य-परमात्मनः

सोऽहं हंस इति ध्यानं कथं सवितरीति चेत् ।
परमात्मा यतः सोऽयं सवितेत्युपपद्यते ॥२१४॥४३९॥

निर्गुणोपासनामें सोऽहं हंसः ऐसा ध्यान पहले बताया। किन्तु सवितामें यह भाव वास्तविक नहीं, मिथ्या है। इस प्रश्नका उत्तर भाष्यकारने परमात्मनः कहकर दिया ॥२१४॥४३९॥

नानात्मा परमात्मा स्यान्नाघृतं परमं घृतम् ।
अन्यसंसर्गसंत्यागान्निर्मलं परमं भवेत् ॥२१५॥४४०॥

अनात्मा भला परमात्मा कैसे होगा? क्या अघृत (तेल आदि) परमघृत होगा? परमघृत वह है जिस घृतमें मिलावट न हो। जीवात्मामेंसे अविद्याकी मिलावट निकालनेपर वहीं परमात्मा है अतः सोऽहंस इत्यादि उचित ही है ॥२१५॥४४०॥

भाष्य-सर्वात्मकत्वप्रतिपादकगायत्रीमहामन्त्रस्य

ननु चेशितुरित्येव गायत्र्यां किं न भाषितम् ।
कुतः सवितुरित्युक्तमिति चेच्छृणु कारणम् ॥२१६॥४४१॥
सर्वात्मकत्वबोधार्थं गायत्र्यां सवितोदितः ।
उपादानात्मकः स्रष्टा प्रोक्तः सवितृशब्दतः ॥२१७॥४४२॥

ईश्वरस्य ईशितुः इत्यादि ही गायत्रीमें क्यों नहीं कहा? तत्पदार्थ ईश्वर माना गया है। सवितुः क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि उपादानात्मक सृष्टिकर्ता ऐसा अर्थ लानेके लिये सविता कहा। लोकमें प्रसवितासे उपादान तथा निमित्त उभयरूप अर्थ प्रतीत होता है। उपादान चेतनरूप है यह भी सवितृ पदसे ध्वनित होता है ॥२१६-२१७॥-॥४४१-४४२॥

विश्वस्य तदनन्यत्वमारम्भणपदादितः ।
सर्वात्मत्वमतस्तस्य गायत्र्या प्रतिपाद्यते ॥२१८॥४४३॥

सम्पूर्ण विश्व परमात्मासे अनन्य है। क्योंकि उससे सब उत्पन्न हुये ऐसी श्रुति है। अतः गायत्री परमात्माकी सर्वात्मता बतला रही है ॥२१८॥४४३॥

भाष्य-उपासनाप्रकारःप्रकाश्यते

तत्त्वंपदार्थबोधेऽपि नैक्यसाक्षात्कृतिर्भवेत् ।
उपास्तिपावितानां तु निर्विघ्नं तच्च जायते ॥२१९॥४४४॥

तत् एवं त्वं इन दोनों पदार्थों का शोधन होनेपर भी जीवब्रह्मैक्यका साक्षात्कार बहुधा नहीं होता है। उपासनासे पवित्र चित्तवालोंके लिये वह निर्विघ्न संपन्न होता है ॥२१९॥४४४॥

गायत्र्युपासना तस्मात् कार्या तत्प्राप्तये सदा।
स्वरूपतश्चार्थतश्च प्राणायामादिभिस्तथा ॥२२०॥४४५॥

अतः गायत्रीकी उपासना साक्षात्कारकी प्राप्तिके लिये स्वरूपसे तथा अर्थसे करना चाहिये। एवं प्राणायामादिसे भी करना चाहिये॥२२०॥४४५॥

स्वरूपोपासना प्रोक्ता मन्त्रमात्रानुचिन्तने ।
तथार्थोपासना प्राज्ञैरर्थस्याप्यनुचिन्तने ॥२२१॥४४६॥

केवल मन्त्रमात्रका अनुसन्धान हो तो वह गायत्रीकी स्वरूपतः उपासना है। साथमें अर्थका भी अनुसन्धान हो तो वह अर्थतः उपासना है ॥२२१॥४४६॥

शुद्धं स्वरूपमुदितं विशिष्टमधुनोच्यते ।
तदर्थश्च क्रमेणैव सम्यगत्र प्रकाश्यते ॥२२२॥४४७॥

गायत्रीका शुद्धस्वरूप तो बता दिया है। विशिष्ट अब बताया जायेगा। तथा शुद्ध एवं विशिष्टका अर्थ भी क्रमशः प्रकाशित किया जायेगा ॥२२२॥४४७॥

प्राणायामप्रकारश्च संक्षेपाद्वर्णयिष्यते ।
येन चित्तसमाधानं विज्ञानमुपजायते ॥२२३॥४४८॥

प्राणायामका प्रकार भी संक्षेपतः बतायेंगे जिससे (प्राणायामसे) प्राणायामाभिज्ञोंका चित्तसमाधान संपन्न होता है ॥२२३॥४४८॥

भाष्य-तत्र गायत्रीं प्रणवादिसप्तव्याहृत्युपेतां शिरःसमेतां

प्रणवाद्या व्याहृतयो भूर्भुवः स्वः महः जनः ।
तपः सत्यमिमा योज्याः प्राक् प्राणायामकारिभिः ॥२२४॥४४९॥

प्रणवपूर्वक सप्त व्याहृतियां प्राणायाममें गायत्रीमन्त्रसे पहले कहना चाहिये। जैसे ॐ भूः ॐभुवः ॐस्वः ॐमहः ॐजनः ॐतपः ॐसत्यम् ॥२२४॥४४९॥

तथैवान्ते शिरोवाच्य-मापो ज्योतीरसोऽमृतम् ।
ब्रह्म भूर्भुवः इत्येवं यदन्ते तु स्वरोमिति ॥२२५॥४५०॥

इसी प्रकार अन्तमें गायत्रीशिर कहना चाहिये। आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् यह शिर है ॥२२५॥४५०॥

प्रणवादिश्च गायत्री तयोर्मध्ये प्रयुज्यते ।
प्रणवान्तां च तत्रान्ये विद्वांसः प्रतिपेदिरे ॥२२६॥४५१॥

बीचमें प्रणवपूर्वक गायत्री प्रयुक्त होती है। संप्रदायान्तरमें प्रणवादि प्रणवान्त गायत्री बीचमें आती है ॥२२६॥४५१॥

भाष्य-सर्ववेदसारमिति वदन्ति

वेदसारं हि गायत्रीमिति प्राहुरितीति किम् ।
एवंविशिष्टा गायत्री प्राणायामैरुपास्यताम् ॥२२७॥४५२॥

'गायत्रीं वेदसारं वदन्ति' या 'गायत्रीं वेदसार इति वदन्ति' ऐसा भाष्यमें कहना चाहिये था। उक्तार्थानामप्रयोगः ऐसा नियम है। इति पदसे कर्मता बतायी तो द्वितीया आवश्यक नहीं है। अतः अन्वय ऐसा करो कि– सर्ववेदसारभूतां गायत्रीं, इति वदन्ति, किं वदन्ति? प्राणायामैरुपास्या इति। सर्ववेदसारभूत गायत्रीको यह कहते हैं कि प्राणायामसे गायत्रीकी उपासना करो ॥२२७॥४५२॥

अथवा सारशब्दोऽयं वरार्थे त्रिषु वर्तते ।
प्रथमान्तस्त्वयं नेतिशब्दवैयर्थ्यमस्त्यतः ॥२२८॥४५३॥

अथवा उत्तम अर्थमें सारशब्द नपुंसक लिङ्गमें भी है। 'सारम्' को प्रथमान्त ही माना जाये। तब कर्मत्वबोधक इति शब्दका वैयर्थ्य नहीं है ॥२२८॥४५३॥

कर्मभक्तियुतं ज्ञानं वेदे काण्डत्रये स्थितम् ।
तदत्रोक्तं निरूप्यैवं सवितृप्रेरितां धियम् ॥२२९॥४५४॥

काण्डत्रयरूप वेदमें कर्म एवं भक्तिके सहित ज्ञानका निरूपण हुआ है। वही सवितासे प्रेरित धी कहकर गायत्रीमें निरूपित हुआ है ॥२२९॥४५४॥

ज्ञानार्थं धीपदं लोके निघण्टौ कर्मबोधकम् ।
उपासनायां वेदेति प्रयोगाच्च तदर्थकम् ॥२३०॥४५५॥

लोकमें धी का ज्ञान अर्थ है निघण्टुमें धी पदको कर्मबोधक बताया है। य एवं वेद इत्यादि उपासना प्रयोग होनेसे धीपद उपासनार्थक भी है ॥२३०॥४५५॥

सवितृप्रेरितत्वोक्तेर्वैदिकं तदिदं त्रयम् ।
गायत्री ब्रुवती सर्ववेदसार इतीर्यते ॥२३१॥४५६॥

सवितासे प्रेरित धी कहनेसे ये तीनों यहां वैदिक ही प्राप्त होते हैं। उनको बतलानेवाली गायत्री सर्ववेदसार कही जा रही है ॥२३१॥४५६॥

वरेण्यमिति भक्त्युक्तिर्धीमहीति च योगवाक् ।
वैदिकौ भक्तियोगौ च तेनात्र विनिरूपितौ ॥२३२॥४५७॥

वरेण्यं संभजनीयं से भक्तिकथन है। धीमहिसे ध्यान कहकर साङ्ग समाधि बता रहे हैं। अत एव वैदिक भक्ति एवं योगका भी यहां निरूपण है ॥२३२॥४५७॥

सविता सर्वदेवात्मा श्रौतास्ते चात्र सूचिताः ।
ईशश्च भर्गःशब्देन ब्रह्म शुद्धं च दर्शितम् ॥२३३॥४५८॥

सविता सर्वदेवस्वरूप होनेसे सभी देवताओंको भी यहां सूचित किया और सविता पदसे सृष्टिकर्ता ईश्वर भी निरूपित किया। भर्ग शब्दसे सर्वानर्थनिवृत्तियुक्त शुद्धब्रह्म भी कहा ॥२३३॥४५८॥

जीवो न इति शब्देन तयोरैक्यं च वक्ष्यते ।
यत्सर्ववेदतात्पर्यं ततः सारमिदं परम् ॥२३४॥४५९॥

नः इस पदसे जीवको भी बताया। जीव और ब्रह्मकी एकता भी यहां वर्णित है जिसका निरूपण आगे होगा जो सर्ववेदका परमतात्पर्यविषय अर्थ है। इस प्रकार गायत्री समस्त वेदोंका परम सार सिद्ध होता है ॥२३४॥४५९॥

भाष्य-एवं विशिष्टा गायत्री प्राणायामैरुपास्या ।
एवं विशिष्टा गायत्री प्राणायामैरुपास्यते ।
वैशिष्ट्यं वेदसारत्वाद्वेदमातृत्वतोऽपि च ॥२३५॥४६०॥

इसप्रकार विशिष्ट यह गायत्री प्राणायामके साथ उपास्य है। वेदसार होनेसे और वेदमाता महापुण्यवती होनेसे उसका वैशिष्ट्य है ॥२३५॥४६०॥

गायत्रीं शिरसा सार्धं जपेद् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
प्रतिप्रणवसंयुक्तां त्रिरयं प्राणसंयमः ॥२३६॥४६१॥

याज्ञवल्क्यने स्मृतिमें बताया है कि प्रत्येकके साथ प्रणव जोड़कर सप्त व्याहृति गायत्रीशिर एवं गायत्रीका जप करते हुए प्राणायाम करना चाहिये ॥२३६॥४६१॥

प्राणसंयमकाले तु जपो मानस इष्यते ।
व्याख्यातं च तथा प्राज्ञैरेषा स्यात्तदुपासना ॥२३७॥४६२॥

प्राणायाम कालमें गायत्रीका मानस जप ही इष्ट है। मिताक्षरा-कारादिने ऐसी ही व्याख्या की है। अतएव यह गायत्रीकी उपासना ही है ॥२३७॥४६२॥

पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकश्च तदुत्तरम् ।
बाह्यकुम्भक इत्येवं प्राणायामा उदीरिताः ॥२३८॥४६३॥

पूरक, कुम्भक और रेचक ये तीन प्राणायाम हैं। बाह्य कुम्भक भी बताया गया है ॥२३८॥४६३॥

मुञ्चेद् दक्षिणया वायुं प्रथमं मात्रया विना ।
पूरयेदिडया पश्चात् कुम्भयेच्च सुषुम्णया ॥२३९॥४६४॥

प्रथम कोष्ठस्थ वायुको दक्षिण नासिकासे निकाल दें। उसमें कोई मात्रानियम नहीं है। फिर इडासे मात्राके साथ पूरण करें तथा सुषुम्नासे कुम्भक करें ॥२३९॥४६४॥

दक्षया रेचयेद्वायुं तयैवाथ प्रपूरयेत् ।
अन्यया रेचयेत् पश्चात् प्राणायामे सदा बुधः ॥२४०॥४६५॥

इसके बाद पिंगलासे वायुरेचन करें और उसीसे (पिंगलासे) पूरण करें। रेचन हमेशा पूरकेतर नासिकासे करें ॥२४०॥४६५॥

पूरयेत् सकृदुक्त्वा तां चतुष्कृत्वश्च कुम्भयेत् ।
द्विरुक्त्वा रेचयेद् बाह्यं किंचित्कालं च कुम्भयेत् ॥२४१॥४६६॥

गायत्रीको एक बार कहकर पूरक करें। चार बार कहकर कुम्भक करें। दो बार कहकर रेचक करें। फिर थोड़ी देर बाह्य कुम्भक करें ॥२४१॥४६६॥

वृद्धिश्चैतत्क्रमेणैव स्याद् द्व्यष्टचतुरात्मना ।
समसंख्यातया चापि कर्तुं शक्योऽन्यथापि च ॥२४२॥४६७॥

प्राणायामसमयमें वृद्धि करना हो तो भी यही क्रम रहेगा। जैसे दो मन्त्रसे पूरक, आठ मन्त्रसे कुम्भक, चार मन्त्रसे रेचक इत्यादि। समसंख्यासे मन्त्र बोलकर भी पूरकादि करते हैं ॥२४२॥४६७॥

रेचयेत् षोडशेनैव तद्द्वैगुण्येन पूरयेत् ।
कुम्भयेच्च चतुःषष्ठ्येत्येवमन्यत्र दर्शनात् ॥२४३॥४६८॥

क्योंकि अन्यत्र विपरीत बताया है। वहां पूरक बत्तीससे बताया और रेचक सोलहसे कहा है। चौसठसे कुम्भक करनेकेलिये कहा है। वह तो समान ही है ॥२४३॥४६८॥

सपादषट्कलाव्याप्तकुम्भकस्तूत्तमे भवेत् ।
तदर्धो मध्यमे पादः कनिष्ठे प्राणरोधने ॥२४४॥४६९॥

सवा छह कला कुम्भक जिसमें हो वह उत्तम प्राणायाम है [एक कलामें आठ सैकेंड होते हैं। सवा छः कला=५० सेकेंड] मध्यम प्राणायाममें उससे अर्ध [२५ सेकेंड] कुम्भक होता है। कनिष्ठ प्राणायाममें उसका पाद [१२.५ सेकेंड] कुम्भक होता है ॥२४४॥४६९॥

कनिष्ठतः समारभ्य क्रमेणैवोत्तमं व्रजेत् ।
साधारणजनानां तु गतिरेतावती मता ॥२४५॥४७०॥

कनिष्ठ प्राणायामसे शुरू करना चाहिये। और क्रमशः उत्तममें पहुंचना चाहिये। यहीं तक साधारण जनोंकी गति है ॥२४५॥४७०॥

इत ऊर्ध्वं न वर्धेते क्वचिद्रेचकपूरकौ ।
स्यात् कुम्भको वर्धयितुं शक्यः शास्त्रोक्तरीतितः ॥२४६॥४७१॥

उत्तम प्राणायाममें जैसे बताया उससे अधिक रेचक और पूरक नहीं होते हैं। कुम्भकको शास्त्रोक्त रीतिसे बढ़ा सकते हैं ॥२४६॥४७१॥

तद् द्वादशगुणायामः प्रत्याहारो मतो दृढे ।
तथैव धारणा ध्यानं समाधिर्द्वादशोत्तरः ॥२४७॥४७२॥

इससे बारह गुना [१० मिनटतक] प्राणनिरोध हो तो हठयोगमें उसे प्रत्याहार बताया है, उससे बारह गुना [२ घंटेतक] धारणा, उससे बारह गुना पूरा दिन राततक ध्यान और उससे बारह गुना अर्थात् बारह दिन तक हो तो समाधि नामसे कहा गया है। किन्तु ध्यान रहे कि यह सर्वसाधारण नहीं है। विशेषज्ञ गुरुके विना हठयोगके प्रत्याहारादिमें नहीं पड़ना चाहिये। लाभ के बदले हानिकी संभावना उसमें रहती है ॥२४७॥४७२॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥२४८॥४७३॥

जैसे सिंह, हाथी एवं बाघ आदि धीरे-धीरे वशमें आते हैं, वैसे प्राण भी हैं। जल्दबाजीमें सिंह आदिके समान हि साधकको ये नष्ट कर सकते हैं ॥२४८॥४७३॥

उत्तमस्य तृतीयांशः कनिष्ठः प्राणरोधने ।
मध्यमो द्विगुणः स स्यादित्यन्या प्रक्रिया विदाम् ॥२४९॥४७४॥

उत्तम (५० सेकेंडवाले) का एक तिहाई कनिष्ठ है। दो तिहाई (लगभग तैंतीस सेकेंड) समयतक प्राणनिरोध मध्यममें होता है ऐसी भी योगीयोंकी प्रक्रिया है ॥२४९॥४७४॥

अधमे द्वादश प्रोक्ता मध्यमे द्विगुणाः स्मृताः ।
उत्तमे त्रिगुणा मात्रा इति गोरक्षवर्णनात् ॥२५०॥४७५॥

यही बात गोरक्षनाथने भी कही है। अधममें द्वादशमात्रा, मध्यममें चौबीस मात्रा, उत्तममें छत्तीस मात्रा होती है ॥२५०॥४७५॥

कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थानमाप्नोतीत्यात्मारामादयो जगुः ॥२५१॥४७६॥

कनियान् प्राणायाममें पसीना होता है। मध्यममें कम्पन होता है। उत्तममें लक्ष्य प्रतीति होती है। ऐसे आत्मरामादि योगिजन कहते हैं ॥२५१॥४७६॥

उत्तमस्य त्रिविधता सैषेति विदुषां मतम् ।
पूर्वोक्तत्रिविधानां हि लक्ष्माणीत्यपरे विदुः ॥२५२॥४७७॥

उत्तम प्राणायाम (जो ५० सेकेंडका है) के ही पुनः ये तीन भेद हैं ऐसी विद्वानोंकी मान्यता है। पूर्वोक्त तीनके ही ये लक्षण हैं यह भी मान्यता है ॥२५२॥४७७॥

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः ॥२५३॥४७८॥

सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी ऐसे आठ कुम्भक हैं ॥२५३॥४७८॥

सूर्येणापूर्य पवनं कुम्भयित्वा प्रयत्नतः ।
वामेन रेचनं तस्य सूर्यभेदनमुच्यते ॥२५४॥४७९॥

दाहिनी नाकसे श्वास लेकर प्रयत्नपूर्वक कुम्भक कर वामसे छोड़ना सूर्यभेदन है ॥२५४॥४७९॥

सस्वनं कण्ठतो द्वाभ्यामाकृष्यानलकुम्भनम् ।
वामया हानमुज्जायी तिष्ठतो गच्छतोऽपि वा ॥२५५॥४८०॥

कण्ठसे दबी आवाज निकले वैसे दोनों नाकसे खींचकर कुम्भककर वायुको बांयी नाकसे छोड़ना उज्जायी है। वह चलते हुए और खड़े-खड़े भी कर सकते हैं ॥२५५॥४८०॥

ओष्ठयोरन्तरे तिष्ठज्जिह्वया च ससीत्कृति ।
आपूर्याकुम्भ्य नासाभ्यां सीत्कार्या रेच्यतेऽनिलः ॥२५६॥४८१॥

दोनों ओष्ठोंके मध्यमें जिह्वा रखकर सीत्कार (छोटी सीटी) के साथ पूरक कर कुम्भक और बादमें दोनों नाकसे रेचन करना सीत्कारी है ॥२५६॥४८१॥

विहगाधरचञ्च्वाभबहिरोष्ठगजिह्वया ।
आकृष्य पूर्ववत्सर्वं कुर्वतः शीतली मता ॥२५७॥४८२॥

ओठोंके बाहर पक्षियोंकी निचली चोंचके सदृश की हुई जिह्वासे सस्वन वायुको लेकर कुम्भक कर दोनों नाकसे छोड़ा जाये तो उसे शीतली कहते हैं ॥२५७॥४८२॥

एकैकशस्ततो द्वाभ्यां वेगाद्रेचकपूरकौ ।
कृत्वान्ते कुम्भकं वामरेचनं भस्त्रिकोच्यते ॥२५८॥४८३॥

प्रथम बायीं नाकसे शीघ्र-शीघ्र रेचक पूरक दोनों सस्वन करें। फिर वैसे ही दाहिनीसे। फिर दोनों नाकसे अदलाबदलीसे या एक साथ। सबके अन्तमें कुम्भक होगा। अन्तिम कुम्भकोत्तर वामनासिकासे रेचन करें। इसे भस्त्रिका कहते हैं ॥२५८॥४८३॥

शीघ्रं सभृङ्गनादं चाऽऽपूर्याथ कृतकुम्भकः ।
भृङ्गीस्वनं रेचयेत शनैश्चेद् भ्रामरी मता ॥२५९॥४८४॥

भ्रमरनादके साथ शीघ्र वायु पूरण कर कुम्भक करके भ्रमरीनादसहित धीरे-धीरे रेचन करनेपर भ्रामरी होती है ॥२५९॥४८४॥

पूरकान्ते गाढतरं बद्ध्वा जालन्धरं पुनः ।
कुम्भकोर्ध्वं शनैर्हानं मूर्च्छा मूर्च्छयते मनः ॥२६०॥४८५॥

पूरकके बाद दृढ़तर जालंधर बन्ध करके कुम्भक और बादमें धीरे-धीरे रेचन मूर्च्छा है। यह मनोमूर्च्छनकारी है ॥२६०॥४८५॥

यथाकथंचिदप्यन्तःपूरितोदरमारुतः ।
यावच्छक्यं कुम्भयेत् सा प्लाविनी गदिता बुधैः ॥२६१॥४८६॥

जैसे-तैसे भी शुद्ध वायु अंदर भरकर यथाशक्ति कुम्भक करना प्लाविनी है ॥२६१॥४८६॥

विनैवाऽऽपूरणं प्राणरोधः केवलकुम्भकः ।
सर्वत्र कुम्भके कुर्यात् सम्यग् गायत्र्युपासनम् ॥२६२॥४८७॥

पूरक एवं रेचकके बिना ही प्राणनिरोध केवल कुम्भक है। सभी कुम्भकोंमें गायत्रीकी उपासना होती है ॥२६२॥४८७॥

पूरकान्ते प्रकुर्वीत बन्धं जालन्धरं बुधः ।
कुम्भकेऽन्ते चोड्डियानमूलबन्धौ विशेषतः ॥२६३॥४८८॥

पूरकके बाद जालन्धर बन्ध करना चाहिये। कुम्भक कुछ होनेपर उड्डियान बन्ध और मूलबन्ध विशेषरूपसे करें। पेटको अन्दरकी ओर चिपकाना उड्डियानबन्ध है। पायुको उपरकी ओर खींचकर रखना मूलबन्ध है। सामान्यरूपसे ये दोनों हमेशा होना चाहिये। प्राणायाममें पेटको फूलने न देना चाहिये। कुम्भकका अन्त होते-होते विशेषरूपसे ये दोनों करने चाहिये ॥२६३॥४८८॥

जालन्धरो भवेद् बन्धो हनोर्वक्षसि योजनात् ।
पृष्ठास्थ्न्युदरसंकोचादुड्डियान उदीरितः ॥२६४॥४८९॥
आकुञ्चनाद् गुदस्योर्ध्वं मूलबन्धश्च कथ्यते ।
प्रायः सर्वेष्वपि प्राणायामेष्वावश्यका इमे ॥२६५॥४९०॥

ठुड्डीको छातीसे मिलाना जालन्धर बन्ध है। पेटको पिठकी ओर चिपकाना उड्डियानबन्ध है। गुदाको उपरकी ओर खींचना मूलबन्ध है। प्रायः सभी प्राणायामोंमें ये तीन बन्ध आवश्यक हैं ॥२६४-२६५॥-॥४८९-४९०॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥२६६॥४९१॥
सुखासनसमासीनो यमादिगुणसंयुतः ।
समं कायशिरोग्रीवं धारयन् योगमाश्रयेत् ॥२६७॥४९२॥

गीता आदि ब्रह्मविद्या ग्रन्थोंमें भी बताया है कि पवित्र देशमें ज्यादा ऊंचा या नीचा नहीं, कुशा अजिन और शुद्धवस्त्रयुक्त अपना आसन बिछाकर स्थिर सुख आसनपर बैठें, यमनियमादि युक्त हो; शरीर, गर्दन और मस्तकको सीधा रखकर प्राणायाम करें ॥२६६-२६७॥४९१-४९२॥

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥२६८॥४९३॥

मनु महाराज कहते हैं–प्रणव एवं व्याहृतियोंके साथ प्रतिदिन तीन प्राणायाम भी विधिवत् करें तो ब्रह्मजिज्ञासुओंके लिये वह महान तप होगा ॥२६८॥४९३॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य संयमात् ॥२६९॥४९४॥

तपाये जानेपर सुवर्णादिके मल जैसे जल जाते हैं वैसे प्राणायामसे इन्द्रियोंके दोष जल जाते हैं ॥२६९॥४९४॥

युक्तो ध्यानेन गायत्रीव्याहृतिप्रणवैरपि ।
प्राणायामः सगर्भः स्यादगर्भो रहितस्तु तैः ॥२७०॥४९५॥

गायत्री, व्याहृति एवं प्रणवसे तथा परमात्मध्यानसे युक्त प्राणायाम सगर्भ कहलाता है। इनसे रहित अगर्भ कहलाता है ॥२७०॥४९५॥

प्राणायामाः सगर्भास्तु गायत्र्याः स्युरुपासना ।
परमं तत्तपस्तस्मात् सा नित्यं तैरुपास्यताम् ॥२७१॥४९६॥

सगर्भ प्राणायाम ही गायत्रीकी उपासना है। वही परम तप है। अतः नित्य सगर्भ प्राणायामोंसे गायत्रीकी उपासना करनी चाहिये ॥२७१॥-॥४९६॥

भाष्य-सप्रणवव्याहृत्युपेता प्रणवान्ता गायत्री जपादिभिरुपास्या ।

प्राणायामात्मकोपास्तेः प्रकारमभिधाय च ।
जपात्मकोपासनायाः प्रकारोऽथ निरूप्यते ॥२७२॥४९७॥

गायत्री प्राणायामैरुपास्या ऐसा पहले बताया। उसका प्रकार हमने दिखाया। अब जपात्मक गायत्री उपासना "जपादिभिरुपास्या" इस भाष्यसे कहते हैं ॥२७२॥४९७॥

गायत्री प्रणवाद्यन्ता व्याहृतित्रयपूर्विका ।
जपादिभिरुपास्येयं चित्तशुद्ध्यादिहेतवे ॥२७३॥४९८॥

तीन व्याहृति (भूर्भुवः स्वः) पूर्वमें हो, आदिमें हो और अन्तमें प्रणव हो ऐसी गायत्री चित्तशुद्धि आदिके लिये उपासनीय है ॥२७३॥४९८॥

उपास्यं ब्रह्म गायत्र्या नोपास्या सेति चेन्न तत् ।
प्रत्ययावृत्तिरूपत्वाद् जपस्येति समञ्जसम् ॥२७४॥४९९॥

पूर्वपक्षः– गायत्रीकी क्या उपासना गायत्रीसे ब्रह्मकी उपासना होती है। उत्तर-जप प्रत्ययाऽऽवृत्तिरूप होनेसे यह गायत्रीकी भी उपासना है ॥२७४॥४९९॥

यजुरेव शिरः पक्षावृक्सामनी दक्षिणोत्तरौ ।
इत्यादि तित्तिरिः प्राह प्रस्तुत्य हि मनोमयम् ॥२७५॥५००॥

अत एव तैतिरीयमें मनोमयकोशवर्णनमें यजुर्वेद मनोमयका मस्तक है, ऋग्वेद दक्षिण पक्ष है, सामवेद बायां पक्ष है इत्यादि बताया ॥२७५॥५००॥

भाष्यकारश्च तत्रैव मानसं जपमब्रवीत् ।
जपेनोपासनीयाऽतो गायत्री मानसेन हि ॥२७६॥५०१॥

वहींपर भाष्यकारने मानस जप होनेसे सामवेदादिको मनोमयके पक्षत्वका समर्थन किया। अतः गायत्रीका मानस जप गायत्री प्रत्ययावृत्ति होनेसे गायत्री स्वयं भी उपासना विषय सिद्ध होती है ॥२७६॥५०१॥

तदर्थश्चानुसन्धेयो जीवब्रह्मैक्यलक्षणः ।
सिद्धं तु तत् तज्जपार्थ भावनान्यायतः स्वतः ॥२७७॥५०२॥

हां, जपके साथ जीवब्रह्मैक्यरूपी अर्थका अनुसन्धान भी करना चाहिये। यह बात "तज्जपस्तदर्थभावनं" इस न्यायसे सिद्ध है। अत एव इसे ब्रह्मोपासना भी कह सकते हैं ॥२७७॥५०२॥

होमेन चाप्युपास्यैषा गायत्रीहोमदर्शनात् ।
यस्यै वषट् करिष्यन् स्यात्तां ध्यायेदिति च श्रुतेः ॥२७८॥५०३॥

होमके द्वारा भी गायत्री उपास्य है। क्योंकि गायत्रीहोम प्रसिद्ध है। शंका होगी कि होममें प्रत्ययावृत्ति नहीं है। उत्तर है–"यस्यै देवतायै

हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद् वषट् करिष्यन्" ऐसा विधान होनेसे प्रत्ययावृत्ति भी सिद्ध है ॥२७८॥५०३॥

मन्त्रस्यापि भवेद् ध्यानं मन्त्रात्मानो हि देवताः ।
तत्राप्यर्थानुसन्धानं युक्तमेवेति मन्महे ॥२७९॥५०४॥

देवताका ध्यान बताया न कि मन्त्रका इस प्रश्नका उत्तर मीमांसकोंका यह वचन है कि "मन्त्रात्मानो हि देवताः" यहां भी अर्थानुसन्धान होना चाहिये ऐसा हमारा वक्तव्य है। इस प्रकार भाष्यमें आये "जपादिभिः" इस आदिपदकी सार्थकता है ॥२७९॥५०४॥

उपासनैव गायत्र्या होमप्रवचनाद्यपि ।
इति कृत्वाऽऽदिभिरिति बहुत्वेनाह भाष्यकृत् ॥२८०॥५०५॥

गायत्रीकी विशेषता यह है कि इसका प्रवचनादि भी उपासना है। इसलिये भाष्यकारने "आदिभिः" ऐसा आदिपद और बहुवचनका प्रयोग किया ॥२८०॥५०५॥

इति तत्पदार्थनिरूपणपरो द्वितीयः परिच्छेदः

* * * * *

अथ तृतीयः परिच्छेदः

भाष्य-तत्र शुद्धा गायत्री प्रत्यग्ब्रह्मैक्यबोधिका

व्याहृत्यादियुतोपास्या प्राणायामादिभिः सदा ।
तत्रैव घटकीभूतगायत्र्यर्थोऽथ वर्ण्यते ॥१॥५०६॥

प्रणव एवं व्याहृति आदि सहित गायत्री प्राणायाम एवं जपादिसे उपासनीय बतायी। उसमें अन्तःप्रविष्ट शुद्ध गायत्रीका अर्थ अब बताने जा रहे हैं ॥१॥५०६॥

शुद्धा भवति गायत्री प्रत्यग्ब्रह्मैक्यबोधिका ।
विशिष्टापि तथैवैषा किन्तु शुद्धप्रपञ्चनम् ॥२॥५०७॥

शुद्ध गायत्री प्रत्यगात्मा और परमात्मा के एकत्वको बताती है। यद्यपि प्रणवादि विशिष्ट गायत्रीका भी वही अर्थ है तथापि शुद्धका वह विस्तारणमात्र है ॥२॥५०७॥

पदार्थशोधकतया विनियोगोऽभ्युपेयताम् ।
व्याहृतिप्रणवादीनामतद्व्यावृत्तयोऽथवा ॥३॥५०८॥

व्याहृति एवं प्रणव आदिका पदार्थशोधनमें उपयोग है। अथवा अतद्व्यावृत्तिके लिये उनका विनियोग है ॥३॥५०८॥

ननु जीवः पृथगयमल्पज्ञत्वादिलक्षणः ।
पृथगेव तथा ब्रह्म सर्वज्ञत्वादिलक्षणम् ॥४॥५०९॥
नाहंब्रह्मास्मि नैवास्मि सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् ।
इति प्रत्यक्षतः स्वस्य ब्रह्मभेदोऽवगम्यते ॥५॥५१०॥

पूर्वपक्षः– जीव और ब्रह्मकी एकता नहीं हो सकती। जीव अल्पज्ञ है, ब्रह्म सर्वज्ञ है। मैं सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ब्रह्म नहीं हूं ऐसा भेदप्रत्यक्ष स्पष्ट है ॥४-५॥५०९-५१०॥

भेदाध्यक्षेऽधिकरणयोग्यत्वं खल्वपेक्षितम् ।
स्तम्भः पिशाचो ननु नेत्येवं प्रत्यक्षदर्शनात् ॥६॥५११॥

यह कहें कि ब्रह्म अतीन्द्रिय होनेसे उसका भेद प्रत्यक्ष कैसे होगा? तो उत्तर है कि भेदप्रत्यक्षमें अधिकरणकी योग्यता अपेक्षित है। यह स्तम्भ पिशाच नहीं है ऐसा प्रत्यक्ष सर्वमान्य है ॥६॥५११॥

न च चैतन्यमेवैकमुभयोरिति सांप्रतम् ।
ऐक्ये प्रमाणविरहात् प्रत्यक्षेण विरोधतः ॥७॥५१२॥

जो यह कहते हैं कि चैतन्य एक है, उपाधि भिन्न है सो भी ठीक नहीं। क्योंकि चैतन्यके एकत्वमें प्रमाण नहीं है। साथ ही प्रत्यक्षविरोध भी है॥७॥५१२॥

न च प्रमाणमैक्येऽत्र गायत्र्येवेति सांप्रतम् ।
तस्या द्वैतिभिरन्यार्थप्रतिपादनदर्शनात् ॥८॥५१३॥

यदि कहें कि वह गायत्री मन्त्र ही जीवब्रह्मैक्यमें प्रमाण है तो उसपर यही वक्तव्य है कि द्वैतवादियोंने इसका अन्य अर्थ किया है॥८॥५१३॥

उपासनार्थताऽत्रापि दर्शिता तेन चैकता ।
आरोपादिस्वरूपापि नूनं भवितुमर्हति ॥९॥५१४॥

अद्वैत मतमें भी गायत्रीका उपासनापरत्व बताया है जो पूर्वमें दिखाया। तब जीवब्रह्मैकत्व जो यहां अवगत होता है वह आरोपरूप भी हो सकता है। जैसे "मनो ब्रह्म" इत्यादि ॥९॥५१४॥

अत्रोच्यते तत्त्वमसि नेह नानास्ति किञ्चन ।
इत्याद्याः श्रुतयो जीवब्रह्मैक्यं ब्रुवते स्फुटम् ॥१०॥५१५॥

उत्तर–इसका समाधान यह है कि अनन्यपर "तत्वमसि" "नेह नानास्ति किंचन" इत्यादि श्रुति जीवब्रह्मकी एकता बताती है ॥१०॥५१५॥

न चाध्यक्षविरोधोऽपि नाध्यक्षं ब्रह्म तद्यतः ।
अनुमानं हि न स्तम्भः पिशाच इति धीर्मता ॥११॥५१६॥

प्रत्यक्ष विरोध भी गलत है। ब्रह्म प्रत्यक्ष नहीं है। जो उदाहरण दिया स्तम्भ पिशाच नहीं है सो अनुमानात्मक है ॥११॥५१६॥

अन्यथाऽत्र पिशाचत्वं नेत्यनध्यक्षता कुतः ।
अप्रत्यक्षं ह्ययोग्यात्यन्ताभावं मनुषे हि यत् ॥१२॥५१७॥

और आप अन्त्यताभावको योग्य प्रतियोगी होनेपर ही प्रत्यक्ष मानते हैं। स्तम्भ में पिशाचत्व नहीं है, स्तम्भ पिशाच नहीं है दोनोंमें क्या फरक है? ॥१२॥५१७॥

अनुमानाद्बलीयस्त्वं श्रुतेरभ्युपगम्यते ।
प्रत्यक्षाच्च बलीयस्त्वं तात्पर्ये हि सतीष्यते ॥१३॥५१८॥

अनुमानसे तो श्रुति बलवती होती है। बल्कि तात्पर्य हो तो प्रत्यक्षसे भी श्रुति बलवती होती है ॥१३॥५१८॥

चन्द्रप्रादेशिकाध्यक्षं ज्योतिःशास्त्रेण बाध्यते ।
किमनीश्वरताध्यक्षं श्रुत्या ते न प्रबाध्यते ॥१४॥५१९॥

चन्द्र थाली बराबर है इस प्रत्यक्षको चन्द्रविस्तारप्रतिपादकज्योतिष-शास्त्र प्रतिबाधित करता है। क्या ईश्वर नहीं दीखता, ईश्वर है नहीं यह प्रत्यक्ष तुम्हारे मतमें श्रुतिसे बाधित नहीं होता ? ॥१४॥५१९॥

आदित्यो यूप इत्यादिस्तात्पर्यरहितत्वतः ।
नीयते श्रुतिरन्यार्था स्वार्थेऽध्यक्षविरोधतः ॥१५॥५२०॥

द्वैतवादियों का तर्क है–"आदित्यो यूपः" यह वाक्य प्रत्यक्षसे बाधित होता है। इस पर यह कहना है कि खंभेको आदित्य बतानेमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है। वह यूपप्रशंसार्थ होनेसे प्रत्यक्ष विरोध देखकर अन्यार्थ उसका किया जाता है ॥१५॥५२०॥

प्रत्यक्षाद्यविरोधेऽपि सोऽरोदीदादयो गिरः ।
अन्यार्थाः किल नीयन्ते तात्पर्याभावहेतुतः ॥१६॥

"आदित्यो यूपः" यहां अर्थ बदलनेमें प्रत्यक्ष विरोध कारण नहीं है। प्रत्यक्ष विरोध न होनेपर भी "सोऽरोदीद् यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वं", "अग्निर्हिमस्य भेषजं" इत्यादि वाक्योंका अर्थान्तर लिया जाता है। क्योंकि स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है ॥१६॥

नन्वीशजीवभेदोऽपि कार्यकारणभावतः ।
कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ॥१७॥
भावप्रधाननिर्देशः कार्यादिपदमत्र तु ।
कार्यत्वं कारणत्वं च लभ्ये तेनेशजीवयोः ॥१८॥

जीवब्रह्मैक्यबोधक श्रुति के विरुद्ध भेदश्रुति भी तो है। "कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः" यहां कार्यादिपद कार्यत्वादिपर होनेसे जीव कार्यत्वविशिष्ट है ईश्वर कारणत्वविशिष्ट है यह अर्थ निकलता है। कार्य और कारण पूर्वापरवर्त्ती होनेसे भिन्न ही होते हैं ॥१७-१८॥

मैवं कार्यादिशब्दानां कार्यत्वाद्यर्थलक्षणा ।
कार्यत्वादेरुपाधित्वस्वीकारोऽपि न युज्यते ॥१९॥

उत्तरपक्ष–कार्यादिपदकी कार्यत्वादिमें लक्षणा मानना अनुचित है। और कार्यत्वादि कोई उपाधि भी नहीं है अतः उसमें उपाधित्व स्वीकार भी अनुचित है ॥१९॥

स्वरूपलक्षणे चेमे स्यातां नैवेशजीवयोः ।
कार्यस्योत्तरवर्तीत्वात् प्रागसत्त्वप्रसङ्गतः ॥२०॥५२५॥

और ये दोनों स्वरूपलक्षण भी नहीं है। जीव यदि कार्य हो तो पहले वह असत् होगा जो किसीको भी मान्य नहीं है। ऐसा हो तो अकृताभ्यागम होगा। उत्पन्नभाव विनाशी होनेसे कृतनाश भी होगा। जीवमें कार्यता असिद्ध है तो ईश्वरमें कारणता किसको लेकर? घटादिकारणता तो जीवमें भी होनेसे केवल कारणता व्यावर्तक नहीं होगी ॥२०॥५२५॥

तटस्थलक्षणे तस्मादेते जीवेशयोर्मते ।
ततश्चैतच्छ्रुतिबलान्न भेदः शक्यसाधनः ॥२१॥

अतः "कार्योपाधिरयं जीवः" इत्यादि तटस्थ लक्षण है, यथाश्रुतार्थ ही है। इसलिये इस श्रुतिके द्वारा भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता ॥२१॥

उपाधिरीशितुर्माया कारणत्वेन कल्पिता ।
अविद्यादिश्च जीवस्य कार्यत्वेन प्रकल्पिता ॥२२॥

कारणत्वेन कल्पित माया ईश्वरकी उपाधि है। कार्यत्वेन कल्पित अविद्या आदि जीवकी उपाधि है ॥२२॥

अनादिकल्पनाहेतोरनादित्वं तयोःस्थितम् ।
न वा मायाप्रयुक्तत्वात् प्रातिभासिकता तयोः ॥२३॥

अनादि कल्पना होनेसे माया और अविद्या दोनों अनादि है। अनादिमें कार्यत्वकल्पना होनेसे वह प्रातिभासिक क्यों नहीं इसका उत्तर है मायासे

कल्पित होनेसे प्रातिभासिक नहीं। जैसे जीव, ईश अनादि होनेपर भी मायाप्रयुक्त हैं। व्यावहारिक हैं ॥२३॥

अथवा वासनाऽविद्या जीवोऽस्मीत्यादिलक्षणा ।
तद्वारानादिरूपापि व्यक्तितः कार्यरूपिणी ॥२४॥

अथवा अविद्या वासनारूप है। मैं जीव हूं इत्यादि अनुभवोत्पन्न है। उसकी धारा अनादिकालसे चली आ रही है। अतः जीव अनादि है। किन्तु प्रवाहान्तर्गत वासनाव्यक्ति कार्यरूप होनेसे कार्योपाधिरयं बताया। अथवा अनादि अविद्या एवं वासना दोनों जीवोपाधि हैं। वासनाविशिष्ट अविद्या-कार्य होनेसे कार्योपाधि हो गया ॥२४॥

ननु गन्तव्यगन्त्रादिभावभेदाद् भिदा भवेत् ।
प्रत्यक्षानुगृहीतत्वाद् बलवत्यपि सेति चेत् ॥२५॥५३०॥

पूर्वपक्षः— परमात्मा प्राप्य है। जीव प्रापक है। अतः भेद अवश्य होगा भेद प्रत्यक्षसमर्थित होनेसे बलवान भी होगा ॥२५॥५३०॥

गन्तृगम्यादिभावानामविद्याकल्पितत्वतः।
न प्रत्यक्षानुवादित्वाद् बलवत्वं कथंचन ॥२६॥

उत्तरपक्षः— गन्ता गन्तव्य इत्यादि सभी भाव अविद्याकल्पित हैं। प्रत्यक्षसिद्ध हैं। भेदश्रुति तो अनुवादिका होगी। वह क्यों प्रबल होने लगेगी ? ॥२६॥

अनन्यार्थैस्ततः सिद्धा वचनैरेकता तयोः ।
गायत्र्याप्युच्यते तेन नारोपादिप्रकल्पना ॥२७॥

इस प्रकार अनन्यार्थ तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे जीवब्रह्मैक्य सिद्ध होता है। तब गायत्रीका भी वही तात्पर्य है। यहां आरोपादिकी कल्पना नहीं हो सकती ॥२७॥

न तावतानुवादत्वं स्वातन्त्र्यादखिलश्रुतेः ।
श्रुत्यन्तरोपाश्रवणं स्वसन्देहनिवृत्तये ॥२८॥

यदि तत्त्वमसि आदिके अर्थके आधारपर गायत्र्यर्थ जाना जाता है तो गायत्री अनुवादमात्र होगी। नहीं। श्रुति सभी स्वतन्त्र हैं। हम अपने सन्देहकी निवृत्तिके लिये अन्य श्रुतिको प्रस्तुत करते हैं ॥२८॥

सर्वास्वपि श्रुतिष्वीशजीवैक्यं हि निरूपितम् ।
तदेवात्रापि गायत्र्याः परं तात्पर्यगोचरम् ॥२९॥

समस्त वेदान्तमें जीवात्मा और परमात्माकी एकताका ही निरूपण है। वही गायत्रीका भी परमतात्पर्यविषय है ॥२९॥

सर्वे वेदाः पदं यत्तदामनन्तीति च श्रुतेः ।
पुनरुक्त्यनुवादादिशङ्का नैवोपतिष्ठते ॥३०॥५३५॥

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" ऐसी श्रुति स्वयं कहती है कि एक ही परमार्थ तत्त्व समस्त वेदोंमें बताया है। अतएव पुनरुक्ति अनुवादादिकी शंका उठाना भी बेकार है ॥३०॥

भाष्य-धियो यो नः प्रचोदयादिति

तृतीये त्वंपदार्थस्य पादे स्पष्टं विशोधनम् ।
बुद्धिप्रचोदकत्वं हि युज्यते प्रत्यगात्मनः ॥३१॥

"धियो यो नः प्रचोदयात्" इस तृतीयपादमें त्वंपदार्थका स्पष्ट शोधन है। बुद्धिप्रेरकत्व त्वंपदार्थ प्रत्यगात्मामें ही संभव है ॥३१॥

भाष्य-नोऽस्माकं धियो बुद्धीर्यः प्रचोदयात् प्रेरयेदिति

अस्माकं हि धियो बुद्धीर्वृत्तीरपि च वासनाः ।
नैव प्रेरयितुं शक्नोत्यपरः प्रत्यगात्मनः ॥३२॥

हमारी धी अर्थात् बुद्धियोंको, वृत्तियोंको या वासनाओंको प्रत्यगात्मासे अन्य कोई प्रेरित नहीं कर सकता ॥३२॥

अनात्मा हि जडः कंचिन्न प्रचोदयितुं क्षमः ।
परात्मा परकीयार्थं प्रकाशयितुमेव च ॥३३॥

अनात्मा जड़ होता है, वह किसीको प्रेरित नहीं कर सकता। परात्मा परकीय अर्थ प्रकाशित भी नहीं कर सकता ॥३३॥

न नियन्त्रयितुं रज्जुः क्षमते शुक्तिरूप्यकम् ।
न तन्तुर्निजरक्तिम्ना घटं रञ्जयितुं क्षमः ॥३४॥

रज्जु शुक्तिरजतका नियन्त्रण नहीं कर सकती। तन्तु अपनी लालिमासे वस्त्रको लाल बनाता है पर घटको नहीं ॥३४॥

भाष्य-सर्वबुद्धिसंज्ञान्तःकरणप्रकाशकः सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मेत्युच्यते ।

बहुत्वे नःप्रयोगेण प्रत्यगात्मा प्रकाशकः ।
सर्वान्तःकरणस्यैक इत्येतदवगम्यते ॥३५॥५४०॥

"धियो यो नः' यहां न यह बहुवचनमें प्रयोग किया है। अतएव प्रकाशक प्रत्यगात्मा समस्त अन्तःकरणोंमें एक ही है यह अवगत होता है ॥३५॥५४०॥

एको देवो हि भूतेषु साक्षी सर्वेष्विति श्रुतेः ।
सिद्धं साक्षिण एकत्वं जीवसाक्ष्येक एव नः ॥३६॥

"एको देवः सर्वभूतेषु गुढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" इस श्रुतिसे अन्तरात्मा साक्षी एक ही निश्चित होता है ॥३६॥

उपाधिभेदतः साक्षिनानात्वं ये तु मन्वते ।
उपाधिमविवक्षित्वा य इत्येकत्वमीरितम् ॥३७॥

जो आचार्य उपाधिभेदसे साक्षीका भेद मानते हैं उनके अनुसार उपाधि विवक्षा छोड़कर "यो नः" यहां यः यह एकवचन है ॥३७॥

विशिष्टान् समुपादाय बहुत्वे न इतीरितम् ।
पक्षद्वयेऽपि साक्ष्येव सर्वप्रेरक इष्यते ॥३८॥

नः यह बहुवचन विशिष्ट जीवात्माओंके नानात्वको लेकर है। दोनों पक्षोंमें साक्षी ही सर्वप्रेरक है ॥३८॥

जीवो विशिष्टो वाच्यार्थः साक्षी लक्ष्यार्थ इष्यते ।
उपाधेरपि संत्यागाच्छुद्धं ब्रह्मोपतिष्ठते ॥३९॥

विशिष्ट जीव वाच्यार्थ है। उपहित साक्षी लक्ष्यार्थ है। उपाधिका भी त्याग होनेपर शुद्ध ब्रह्मकी उपस्थिति होती है ॥३९॥

ननु भिन्नो विशिष्टाच्चेद् जीवादुपहितस्तदा ।
न जीवब्रह्मणोरैक्यं जीवानां मुक्तिरेव वा ॥४०॥५४५॥

पूर्वपक्ष–विशिष्ट जीवसे उपहित साक्षी भिन्न है या अभिन्न है? यदि भिन्न है तो साक्षी और ब्रह्मकी एकता है। जीव और ब्रह्मकी नहीं। अतएव जीवकी मुक्ति भी नहीं होगी ॥४०॥

यदि वोपहितः साक्षी विशिष्टान्नैव भिद्यते ।
एक एव ही दुःखी च निर्दुःखश्च कथं भवेत् ॥४१॥

यदि उपहित साक्षी विशिष्ट जीवसे भिन्न नहीं है तो एक ही दुःखी और निर्दुःख दोनों कैसे होगा? जीव दुःखी है साक्षी निर्दुःख है ॥४१॥

सकुण्डलो बुभुक्षुश्चेत्तृप्तः स्यात् किं न्वकुण्डलः ।
तस्मान्न युज्यते सेऽयं भवतः प्रक्रियेति चेत् ॥४२॥

कुण्डलविशिष्ट देवदत्त भूखा है और वही कुण्डलरहित तृप्त है ऐसा कहीं होता है? इसलिये यह प्रक्रिया अयुक्त है ॥४२॥

उच्यतेऽत्र हि वैशिष्ट्यं कल्पितं न तु वास्तवम् ।
दुःखं विशिष्टे शुद्धेऽस्याभावश्चेत्युपपद्यते ॥४३॥

उत्तर—बात यह है कि वैशिष्ट्य कल्पित है, वास्तविक नहीं। अतः विशिष्टमें दुःख कल्पित हो सकता है। शुद्धमें उसका अभाव भी ॥४३॥

दर्पणेन विशिष्टे हि तद्धर्मः प्रतिबिम्बके ।
बिम्बे तूपहिते तस्याभावश्चेत्युभयेक्षणात् ॥४४॥

प्रतिबिम्ब दर्पण विशिष्ट होता है तो दर्पणगत नीलिमादि प्रतिबिम्बमें दीखते हैं। दर्पणोपहित है बिम्ब। उसमें उसका अभाव भी होता है। दोनों इस प्रकार हो सकते हैं ॥४४॥

अन्तःकरणसंभिन्ने जीवे दुःखादयस्तथा ।
न तेनोपहिते बिम्बे दुःखाद्याः साक्षिशब्दिते ॥४५॥५५०॥

इसी प्रकार अन्तःकरणविशिष्ट जीवमें दुःखादि होते हैं। अन्तः-करणोपहित बिम्बात्मक साक्षीमें दुःखादि नहीं होते ॥४५॥५५०॥

नन्वीशो हृदि भूतानां भ्रामयंस्तानि तिष्ठति ।
त्वंपदार्थः कथंकारं संप्रचोदयिता ततः ॥४६॥

पूर्वपक्ष—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति भ्रामयन् सर्वभूतानि" इस गीता वचनमें ईश्वरको घुमानेवाला (प्रवर्तक) बताया है। तब त्वंपदार्थ प्रचोदयिता कैसे माना जा सकता है ॥४६॥

मैवमेष त आत्मान्तर्यामीति श्रुतिषु श्रुतेः ।
अन्तर्यामीश्वरः साक्षी स आत्मा नैव भिद्यते ॥४७॥

उत्तर–"एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इस प्रकार श्रुतियोंमें पृथिव्यादि सबमें रहकर उनका नियमन करनेवाला अन्तर्यामी अतएव ईश्वर ही साक्षी आत्मा बताया है। गीताका भी वही अर्थ है ॥४७॥

मायोपहितरूपेण सोऽन्तर्यामी निगद्यते ।
साक्षी स एव भूतानामविद्योपहितात्मना ॥४८॥

मायोपहितरूपसे चैतन्य अन्तर्यामी है। अविद्योपहितरूपसे वह साक्षी है ॥४८॥

उपाधेरविवक्षायां तदेव ब्रह्म निर्मलम् ।
अन्तर्याम्यधिदैवादिष्वित्याहातश्च सूत्रकृत् ॥४९॥

उपाधिविवक्षा न होनेपर वही निर्मल ब्रह्म है। इसी आशयसे सूत्रकारने "अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्" ऐसा बताया ॥४९॥

प्रतिबिम्बोपाधिबिम्बत्रयं जीवस्तथेश्वरः ।
बिम्बैक्यादीश्वरप्रेर्यो जीव इत्यपरे जगुः ॥५०॥५५५॥

प्रतिबिम्ब, उपाधि और बिम्ब ये तीन जीव और ईश्वर हैं। जीवोपाधि अविद्या है, ईश्वरोपाधि माया है यही फरक है। बिम्बकी एकताको लेकर जीवको ईश्वरप्रेर्य बताया ऐसा दूसरे आचार्य कहते हैं ॥५०॥५५५॥

य एव जीवसाक्षी सन् धियो यो नः प्रयोदयेत् ।
इत्यार्थिकार्थमपरे तस्यैव प्रेरकत्वतः ॥५१॥

वही परमात्मा जीवसाक्षी होकर हमारी बुद्धिको प्रेरित करता है ऐसा आर्थिक अर्थ अन्य विद्वान कहते हैं। क्योंकि जीवकी बुद्धिका प्रेरयिता तदुपहित चैतन्य ही हो सकता है ॥५१॥

कश्चिदावृत्तचक्षुर्हि प्रत्यगात्मानमीक्षते ।
इति श्रुतेः प्रतीपाञ्ची साक्षी प्रत्यग् भवेत् स नः ॥५२॥

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः..... कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" इसप्रकार श्रुतिमें कहा है। अतः प्रतीपगामी हमारा वह साक्षी ही प्रत्यगात्मा है ॥५२॥

भाष्य-तस्य प्रचोदयाच्छब्दनिर्दिष्टस्यात्मनः स्वरूपभूतं परं ब्रह्म तत्सवितुरित्यादिपदैर्निर्दिश्यते ।

धीप्रचोदयितृत्वेन निर्दिष्टस्यात्मनः पुनः ।
स्वरूपभूतं यद् ब्रह्म पादाभ्यां तन्निरूपितम् ॥५३॥

"धियो यो नः प्रचोदयात्" से निर्दिष्ट साक्षीके स्वरूपभूत ब्रह्मका निरूपण "तत्सवितुः" इत्यादि दो पादोंमें किया ॥५३॥

ननु मायाविशिष्टं हि द्विपादे ब्रह्म कथ्यते ।
मायोपलक्षितं चेतत् तृतीयेऽपि तदेव हि ॥५४॥

पूर्वपक्ष—मायाविशिष्ट ब्रह्म ही सविताके रूपमें प्रथम दो पादोंमें बताया है। वह जीवका स्वरूप नहीं है। यदि मायोपलक्षित विवक्षित है तो तृतीयपादमें भी वही कथित हुआ है ॥५४॥

अविद्यया विशिष्टो हि न प्रयोदयिता धियाम् ।
तयोपलक्षितश्चेत् स माययाऽप्युपलक्षितः ॥५५॥५६०॥

अविद्याविशिष्ट चेतन बुद्धियोंका प्रेरयिता नहीं हो सकता। अविद्योपलक्षित चेतन प्रेरक है तो वही मायोपलक्षित भी है ॥५५॥५६०॥

ननूपलक्षणमपि व्यावर्तकमुपेयते ।
काकवन्तो देवदत्तगृहा इति यथेति चेत् ॥५६॥
तन्नोपलक्ष्यभेदे हि व्यावर्तकमिदं भवेत् ।
चैत्रमैत्रगृहे काकबकाभ्यां द्वे हि ते पृथक् ॥५७॥
यत्तु चैत्रगृहं काकबकाभ्यामुपलक्ष्यते ।
तत्र व्यावर्तकं नैतदन्योन्यमुपलक्षणम् ॥५८॥

यदि यह कहा जाये कि उपलक्षण भी व्यावर्तक होता है, जैसे काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः। यह उपलक्षण काक व्यावर्तक है तो इसका निराकरण इस प्रकार होता है कि उपलक्ष्यभेद हो तब उपलक्षण व्यावर्तक होता है। जैसे चैत्रके घरपर काक बैठा था, मैत्रके घरपर बगला बैठा था तो वहां गृह भिन्न होनेसे काक और बक व्यावर्तक हैं। यदि चैत्रके घरपर ही काक और बक एक साथ या कालभेदसे बैठे हों तो वे परस्पर व्यावर्तक नहीं होते, विशिष्ट की व्यावृत्ति होती। पर उपलक्षणसे विशिष्टकथन नहीं होता ॥५६-५७-५८॥

ब्रह्मण्यारोपिते मायाऽविद्ये व्यावर्तके कथम् ।
उपलक्षणरूपेण शुद्धं यर्हि विवक्षितम् ॥५९॥

ब्रह्ममें ही माया एवं अविद्या दोनों आरोपित हैं। और वे उपलक्षण-रूपसे विवक्षित हैं तो कैसे व्यावर्तक होंगे? ॥५९॥

अत्रोच्यते परिच्छित्तिनिवृत्त्या पादयोर्द्वयोः ।
ब्रह्मान्त्ये च परोक्षत्वनिवृत्त्या ब्रह्म भण्यते ॥६०॥५६५॥

उत्तर–पूर्वोक्त पूर्वपक्षमें उत्तर यह है कि प्रथम दो पादोंमें परिच्छेदकी निवृत्तिसे ब्रह्मका कथन है। अन्तिम पादमें परोक्षत्वकी निवृत्तिसे ब्रह्मका कथन है ॥६०॥५६५॥

आत्मनो व्यापकं प्राह स्वरूपं प्रथमे द्वये ।
सवितुश्च स्वरूपं यदपरोक्षं तदन्तिमे ॥६१॥

तब भाष्यकी उपलक्षणरूपसे व्याख्या करनी चाहिये। आत्माका स्वरूप जो व्यापक ब्रह्म है उसे प्रथम पादद्वयमें बताया। सबिताका स्वरूप जो अपरोक्ष है उसे अन्तिम पादमें कहा ॥६१॥

तयोरन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत् ।
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि ॥६२॥
तदर्थस्य च परोक्ष्यमित्याचार्यैर्निरूपितम् ।
वाक्यवृत्तावतो युक्तमुभयोः परिकीर्तनम् ॥६३॥

वाक्यवृत्तिमें आचार्यने स्वयमेव इस बातका स्पष्टीकरण किया है। वहां कहा है–दोनोंका अन्योन्यतादात्म्य ज्ञात होनेपर त्वमर्थकी अब्रह्मता (अव्यापकता) निवृत्त होगी और तदर्थकी परोक्षता भी। अतः दोनोंका निरूपण उचित है ॥६२-६३॥

भाष्य-तत्र

सामान्यतो निरूप्यैवं तात्पर्यं पादयोर्द्वयोः ।
विशेषतः प्रतिपदं तत्रोमित्यादिनोच्यते ॥६४॥

प्रथम दो पादोंका सामान्यतः तात्पर्य बताकर अब विशेषरूपसे प्रत्येक पदका तात्पर्य कहते हैं "तत्रों" इत्यादिसे ।

भाष्य-"ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृत" इति तच्छब्देन प्रत्यग्भूतं स्वतःसिद्धं परं ब्रह्मोच्यते ।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
इत्युक्तेस्तदिति ब्रह्म प्रत्यग्भूतमिहोच्यते ॥६५॥५७०॥

"ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणः" इस गीतावचनके अनुसार गायत्रीमें तत्पदका प्रत्यग्भूत ब्रह्म अर्थ भी है ॥६५॥५७०॥

घटस्य प्रत्यगात्मा मृत् तस्य स्यात् परमाणवः ।
तेषां च गन्धतन्मात्रा जलमात्रा ततः परम् ॥६६॥
तेजोमात्रा ततः प्रत्यक् स्पर्शमात्रा ततोऽपि च ।
आकाशामात्रा तत्प्रत्यक् प्रत्यक्तत्वं तु सत् परम् ॥६७॥

घटका प्रत्यक् आत्मा मृत्तिका है। मृत्तिकाका प्रत्यक् तत्त्व पार्थिव परमाणु है। उसका प्रत्यक् तत्त्व गन्धतन्मात्रा है। उसका प्रत्यक् रसतन्मात्रा है। उसका प्रत्यक् रूपतन्मात्रा है। उसका प्रत्यक् स्पर्शतन्मात्रा है। उसका प्रत्यक् शब्दतन्मात्रा है। सबका अन्तिम प्रत्यक् प्रत्यगात्मा परमात्मा है ॥६६-६७॥

एतस्मादात्मनस्तस्मादाकाशोऽभूदितिश्रुतेः ।
कारणानतिरिक्तत्वात् कार्यस्य प्रत्यगेव सः ॥६८॥

"तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः" इत्यादि श्रुतिसे और कार्य कारणानतिरिक्त होनेसे कारण आत्मा ब्रह्म सबका प्रत्यक् तत्त्व है ॥६८॥

अन्नेन सोम्य शुङ्गेन मूलमन्विच्छ भो अपः ।
अद्भिस्तेजस्तेजसा सदिति श्रुतिषु कीर्तनात् ॥६९॥

"अन्नेन सोम्य शुङ्गेन" इत्यादि छान्दोग्य श्रुतिमें भी यही बात बतायी है ॥६९॥

शरीरे प्रत्यगात्माऽयं विश्वस्मिन् ब्रह्म तत्तथा ।
प्रत्यग्भूतं परं ब्रह्मेत्येवं भाष्ये ततोऽगदीत् ॥७०॥५७५॥

शरीरमें यह अपरोक्ष आत्मा प्रत्यगात्मा है। विश्वमें तत्-परोक्षरूप प्रत्यक् तत्त्व है। अतएव भाष्यमें ब्रह्मके लिये भी प्रत्यग्भूतं यह विशेषण दिया ॥७०॥५७५॥

तनोतीति तदित्यर्थे प्रत्यक्त्वं तस्य लभ्यते ।
तन्वाना बीजशक्तिर्हि प्रत्यग् दृष्टाङ्कुरं प्रति ॥७१॥
तनोति मृत्तिका कुम्भं प्रत्यग्भूतैव तं प्रति ।
आत्मा सर्वान्तर इति बृहदारण्यकश्रुतेः ॥७२॥

"तनोतीति तत्" इस व्युत्पत्तिसे ब्रह्ममें प्रत्यक्त्व तत् पदसे सिद्ध होता है। जैसे बीजशक्ति अंकुरका विस्तार करती है। इसलिये प्रत्यक् है। मृत्तिका कुम्भको बनाती है अतः प्रत्यक् है। आत्मा सर्वान्तर है ऐसी बृहदारण्यक श्रुति भी है ॥७१-७२॥

तत् परोक्षं तथा ब्रह्म तत्साक्षात्करणं कथम् ।
उच्यते तत्स्वतः सिद्धं न साधनमपेक्षते ॥७३॥

ब्रह्म "तत्" का अर्थ है तो वह परोक्ष होगा उसका साक्षात्कार कैसे होगा? इसका उत्तर है कि वह स्वतः सिद्ध है। साधनचिन्ता बेकार है ॥७३॥

तदित्येतत् प्रसिद्धार्थसर्वनामेति तत्र च ।
स्वतःप्रसिद्धतालाभः प्रकर्षोऽन्यानपेक्षणात् ॥७४॥

'तत्' यह प्रसिद्धार्थक सर्वनाम है। उस अर्थमें स्वतः प्रसिद्धता प्राप्त है। प्रसिद्धतामें प्रकर्ष है इतर साधनकी अनपेक्षा ॥७४॥

स्वतः सिद्धे परोक्षत्वं कथमेवेति चेन्न तत् ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥७५॥५८०॥

यदि ब्रह्म स्वतः सिद्ध है तो परोक्ष किस प्रकार? अज्ञानावरणसे ॥७५॥५८०॥

तदावरणहानार्थं प्रमाणापेक्षणं मतम् ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥७६॥

उस आवरणको हटानेके लिये प्रमाणापेक्षा है। "ज्ञानेन तु तदज्ञानं" इत्यादि गीतावचनमें यही बात बतायी है ॥७६॥

ज्ञानवृत्तिरपास्यैवाऽऽवरणं ब्रह्म भासयेत् ।
वायुरब्दमपास्यैव यथा भासयते रविम् ॥७७॥

ज्ञानवृत्ति आवरणको हटाती है और ब्रह्मको प्रकाशित करती है। जैसे वायु बादलको हटाकर सूर्यको भासित करता है। वस्तुतः सूर्य स्वयमेव भासित होता है वैसे ब्रह्म भी स्वयमेव भासित होता है ॥७७॥

स्वतःसिद्धं स्वयंभ्वेतत् केनचिन्नैव जन्यते ।
नान्यसत्त्वाधीनसत्त्वमिति व्याख्यापि युज्यते ॥७८॥

स्वतःसिद्ध का स्वयंप्रकाश अर्थ बताया। स्वतःसिद्ध स्वयंभू अर्थ भी सुगम है। स्वयमेव भूत है। इतरसे जन्य नहीं। इतरसत्ताधीनसत्ताक नहीं ॥७८॥

भाष्य-सवितुरिति-सृष्टिस्थितिलयलक्षणकस्य सर्वप्रपञ्चस्य समस्तद्वैतविभ्रमस्याधिष्ठानं लक्ष्यते।

वाच्यं सवितृशब्दस्य लक्ष्यं चाप्यधुनोच्यते।
अस्य स्यादर्थसिद्धोऽर्थः सृष्टिस्थित्यन्तकारिता ॥७९॥

सवितृ शब्दका वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ अब कहते हैं। इसका प्रथम आर्थिक अर्थ है जगत् सृष्टिस्थितिसंहारकारित्व ॥७९॥

त्रिलक्षणः प्रपञ्चोऽयं सृष्टिस्थितिलयाश्रयः।
एकश्च देवः सविता सोऽविताऽन्तयिता च सः ॥८०॥५८५॥

क्योंकि प्रपञ्च त्रिलक्षण है। सृष्टि, स्थिति और लय ये तीनों प्रपञ्चके लक्षण हैं। सविता देव एक है। तब वह केवल प्रसविता मात्र न होकर रक्षिता और संहर्ता भी होगा ॥८०॥५८५॥

प्रसिद्धार्थं तदित्येतत् प्रसिद्धं च श्रुतिष्विति।
कल्पितं जगदित्येतदीशः कल्पयितेति च ॥८१॥

तत् शब्दका प्रसिद्धार्थक पहले बताया। कहां प्रसिद्ध है? श्रुतियोंमें। क्या प्रसिद्धि है? जगत कल्पित है। ईश्वर कल्पयिता है। यही श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है ॥८१॥

तदैक्षत बहु स्यां सत् प्रजायेयाथ चासृजत्।
ईक्षणात्सृष्टिमुक्त्वैवं दृष्टिसृष्टिः स्फुटीकृता ॥८२॥

छान्दोग्यमें "सदेव सोम्य" इस प्रकार सत् का उपक्रम कर "तदैक्षत बहु स्यां" ऐसा ईक्षण बताया। ईक्षणसे फिर तेज आदिकी उसने सृष्टि की इस प्रकार ईक्षणसे सृष्टि बतानेका मतलब है जगत् दृष्टिसृष्टि है ॥८२॥

सोऽकामयत स तपोऽतप्यत ज्ञानलक्षणम्।
स इदं सर्वमसृजदित्येवं याजुषश्रुतौ ॥८३॥

तैतिरीय श्रुतिमें कहा है—परमात्माने प्रथम कामना की। फिर तप किया। ज्ञानरूप ही तप है। फिर उस तपसे जगतको बनाया। यहां भी ज्ञानसृष्टि बताया ॥८३॥

मुण्डके च स सर्वज्ञो यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ॥८४॥

आथर्वण श्रुतिमें बताया कि परमात्मा सर्वज्ञ है। उसका तप ज्ञानमय है। उसी ज्ञानमय तपसे कार्यब्रह्म, नाम, रूप एवं अन्नरूपी जगत पैदा हुआ ॥८४॥

आत्मैक एव प्रागासीन्नान्यत् किंचन वा मिषत् ।
स ऐक्षत सृजै लोकानसृजच्चैतरेयके ॥८५॥५९०॥

ऋग्वेदीय श्रुतिमें बताया कि प्रथम एक ही आत्मा था, दूसरा कुछ नहीं। उसने लोकसर्जनार्थ ईक्षण किया और जगतको पैदा किया ॥८५॥५९०॥

दृष्टिसृष्टौ यथा रज्जौ भुजङ्गो विभ्रमात्मकः ।
तथा द्वैतप्रपञ्चोऽपि दृष्टिसृष्टो भ्रमात्मकः ॥८६॥

रज्जुमें दृष्टिसृष्टि सर्प जिस प्रकार विभ्रमरूप है वैसे परमेश्वर दृष्टिसृष्ट यह द्वैतप्रपञ्च भी भ्रमरूप ही है ॥८६॥

एवमर्थमभिप्रेत्य समस्तद्वैतविभ्रमम् ।
भाष्यकारो जगौ सर्वप्रपञ्चं च तथाविधम् ॥८७॥

इस अर्थको ध्यानमें रखकर भाष्यकारने समस्त द्वैतविभ्रम बताया और सर्वप्रपञ्चको भ्रमात्मक कहा ॥८७॥

भ्रमास्पदप्रपञ्चस्येत्येषा भवति योजना ।
भ्रमप्रपञ्चयोर्वैकमधिष्ठानं द्वयोर्जगौ ॥८८॥

सर्वप्रपञ्चस्य समस्तद्वैतविभ्रमस्य इसका मिलित अन्वयार्थ तद्विभ्रम-विषयसर्वप्रपञ्चस्य ऐसा समझना चाहिये। अथवा सर्वप्रपञ्चका अधिष्ठान और द्वैतविभ्रमका अधिष्ठान ऐसा पृथक् अन्वय कर लेना चाहिये ॥८८॥

यथा सर्पस्तदाकाराऽविद्यावृत्तिश्च कल्प्यते ।
तथा प्रपञ्चतज्ज्ञाने उभे ब्रह्मणि कल्पिते ॥८९॥

जैसे सर्प तथा सर्पज्ञान (अविद्यावृत्ति) दोनों ही कल्पित हैं वैसे ब्रह्ममें प्रपञ्च तथा प्रपञ्चज्ञान दोनों कल्पित हैं ॥८९॥

अर्थाध्यासमधिष्ठाने ज्ञानाध्यासं च सूरयः ।
व्याचक्षते द्वयोरेव मिथ्यात्वाद् बाधदर्शनात् ॥९०॥५९५॥

अर्थाध्यास तथा ज्ञानाध्यास दोनों मान्य हैं। क्योंकि दोनोंका बाध होता है ॥९०॥

अधिष्ठानं विना नैव भ्रमः क्वाप्युपलभ्यते ।
तस्मान्नं शून्यजं विश्वमित्येतच्चेह दर्शितम् ॥९१॥

बौद्ध जगत्का भ्रम मानते हैं। वेअधिष्ठान को भीसत्य नहीं मानते। किन्तु बात यह है कि सत् अधिष्ठानके विना भ्रम कहीं देखनेमें नहीं आता। अतः जगत् का मूल शून्य नहीं है ॥९१॥

न वाऽनृतमधिष्ठानमधिष्ठानान्तरं तदा ।
तत्रानवस्थाऽऽपतति तस्मात्सत्यं तदीरितम् ॥९२॥

जैसे सर्पका अधिष्ठान रज्जु है वह भी परमार्थ विचारमें मिथ्या है वैसे जगतका अधिष्ठन भले शून्य न हो मिथ्या तो हो सकता है। इस प्रश्नका उत्तर है कि अधिष्ठान मिथ्या हो तो उसका दूसरा अधिष्ठान होगा। इस प्रकार अनवस्था होगी। अतः जगतका अधिष्ठान सत्य ही है ॥९२॥

विश्वाधिष्ठानता तेन तटस्थं लक्षणं भवेत् ।
तल्लभ्या सत्यता तस्य स्वरूपं लक्षणं मतम् ॥९३॥

विश्वाधिष्ठानता सविताका तटस्थ लक्षण है। उससे लभ्य सत्यता स्वरूपलक्षण है ॥९३॥

विश्वोत्पत्त्यादिहेतुत्वं सामान्यं लक्षणं भवेत् ।
तत्कल्पनाद्यधिष्ठानभावो लक्षितलक्षणम् ॥९४॥
व्यावर्त्यासत्यतां चैव शून्यतां चावबोधयेत् ।
यत्स्वरूपं स लक्ष्यार्थो निर्विशेषो निरञ्जनः ॥९५॥६००॥

सविता पदसे लभ्य विश्वोत्पत्यादिहेतुत्व सामान्य लक्षण है। उससे सूचित विश्वकल्पनादि अधिष्ठानत्व लक्षित का लक्षण है। पूर्वोक्त अर्थप्राप्त सत्यतासे असत्यता की और अधिष्ठानत्वसे शून्यता की व्यावृत्ति

कर जिस शुद्ध स्वरूपका अवबोध करायेगा वह निर्विशेष निरञ्जन तत्त्व ही लक्ष्यार्थ है ॥९४-९५॥६००॥

भाष्य-वरेण्यमिति सर्ववरणीयं निरतिशयानन्दरूपं,
वरेण्यो वरणीयः स आनन्दः सर्वसम्मतः ।
स चानतिशयानन्दो यस्मान्नातिशयः क्वचित् ॥९६॥

वरेण्य माने वरणीय। वरणीयतया सर्वसम्मत आनन्द ही है। परमात्मारूपी आनन्द सर्वातिशायी है। उससे बढ़कर कोई आनन्द नहीं है ॥९६॥

नन्वन्ये वृणते मृत्युं निराशाः केचनेति चेत् ।
मृत्युना दुःखहानिः स्यात् सुखं चेति हि तन्मतिः ॥९७॥

यद्यपि कुछ लोग मृत्युका भी वरण करते हैं तथापि वे मृत्युमें दुःख निवृत्ति और सुख की भ्रान्तिसे वैसा करते हैं ॥९७॥

ननु प्रवृणुते शून्यं शून्यवादीति चेन्न तत् ।
दुःखहानिसुखप्राप्त्योस्तेनाप्यादावभीप्सनात् ॥९८॥

पूर्वपक्ष—शून्यवादि अन्तमें शून्य चाहता है, सुख नहीं। उत्तरपक्ष—पहले-पहले वह भी दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति चाहता रहा यह निश्चित है ॥९८॥

क्षणिकं सुखमालोच्य विरज्यत्यत्र कश्चन ।
अन्तर्नित्यसुखाभीप्सावशान्नैराश्यमागतः ॥९९॥

किन्तु सुखको क्षणिक सोचकर कोई-कोई उससे विरक्त हो जाता है। अन्दरसे नित्य सुखकी इच्छा होनेसे विषयोंमें उसे न पाकर निराश होकर वह विरक्त हो गया है ॥९९॥

नैराश्याब्धौ पातयन्ति तं शून्यगुरवः क्षणात् ।
उद्धरन्ति तु वेदान्ता नित्यानन्दप्रबोधिनः ॥१००॥६०५॥

सामान्यरूपसे निराश हुए उसको शून्यवादी गुरु निराशाके सागरमें ढकेल देते हैं। सुख सभी क्षणिक वे कहते हैं। उसका उद्धार वेदान्त ही करता है जो नित्यसुखका बोधन कराता है ॥१००॥६०५॥

स्वात्मलक्षण आनन्दो बोध्य आनन्दशब्दतः ।
दुःखव्यावृत्तितः सोऽयं लक्ष्यार्थो निर्विशेषकः ॥१०१॥

आनन्द शब्दसे आत्मारूपी आनन्द ही दुःखव्यावृत्तिपूर्वक ज्ञेय है। वही लक्ष्यार्थ है। निर्विशेष आनन्द ही वह है ॥१०१॥

नन्वानन्दपदश्रुत्या नैवाऽनन्दोऽनुभूयते ।
न वा व्यावर्त्यते दुःखं कर्मसाध्यो भवेदतः ॥१०२॥

पूर्वपक्ष—"नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादि श्रवणमात्रसे न तो आनन्दका अनुभव होता है और न दुःखनिवृत्ति ही होती है। अतः आनन्द कर्मसाध्य है ॥१०२॥

मैवं कर्मचितो लोकः क्षीयतेऽस्य पुमर्थता ।
न सिध्येत्तेन नैतस्य वरेण्यत्वं समञ्जसम् ॥१०३॥

उत्तरपक्ष—कर्मजन्य अनित्य होता है ऐसी श्रुति है। वह पुरुषार्थ भी सिद्ध नहीं होगा। तब वरेण्यत्व भी समञ्जस नहीं होगा ॥१०३॥

नित्यं विज्ञानमानन्दमित्युक्तेस्तस्य नित्यता ।
तस्मान्न कर्मसाध्योऽयमानन्दो मोक्षलक्षणः ॥१०४॥

"नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" यह श्रुति आनन्दकी नित्यता कह भी रही है। अतः मोक्षरूपी आनन्द कर्मसाध्य नहीं है ॥१०४॥

प्रतिबन्धकहेतोस्तु नैषोऽभिव्यज्यते ध्रुवम् ।
ततः प्रयत्नः कर्तव्यः प्रतिबन्धकहानये ॥१०५॥६१०॥

किन्तु प्रतिबन्धके कारण यह आनन्द एकाएक अभिव्यक्त नहीं होता। अतः प्रतिबन्धकको हटानेके लिये प्रयत्न करना पड़ता है ॥१०५॥६१०॥

गायत्रीप्रतिबोध्यार्थप्रत्ययावृत्तिलक्षणात् ।
स्यान्निदिध्यासनादेव प्रतिबन्धकभञ्जनम् ॥१०६॥

गायत्रीसे बोधित अखण्डार्थकी निरन्तर प्रत्ययावृत्तिरूपी निदिध्यासनसे ही प्रतिबन्धककी निवृत्ति होती है ॥१०६॥

निदिध्यासनतो नित्यं निर्भग्ने प्रतिबन्धके ।
गायत्र्यादिमहावाक्यात् परानन्दोऽनुभूयते ॥१०७॥

नित्यनिदिध्यासनसे प्रतिबन्धक भंग होनेपर गायत्री एवं अन्य महावाक्यसे निरातिशय आनन्दकी अनुभूति होती है ॥१०७॥

पूर्वोक्तोपास्तिरप्यत्र गायत्र्या उपयुज्यते ।
अन्यथा दुर्हरं मन्ये प्रारब्धप्रतिबन्धकम् ॥१०८॥

पूर्वोक्त गायत्रीउपासना भी प्रतिबन्धक निवृत्तिमें उपयोगी हैं अन्यथा प्रारब्धरूपी प्रतिबन्धक को हटाना हम कठिन मानते हैं ॥१०८॥

अत एव कृतोपास्तिरकृतोपास्तिरेव च ।
द्विधाधिकारिणः प्रोक्ताः श्रवणादिविधायिनः ॥१०९॥

इसी कारण श्रवणादि करनेवाले अधिकारियोंको आचार्योंने दो भागोंमें बांटा है। एक कृतोपास्ति है दूसरा अकृतोपास्ति है ॥१०९॥

अकृतोपास्तिभिः सम्यक् क्रियमाणेऽपि नित्यशः ।
न निदिध्यासने लभ्यं जीवन्मुक्तिसुखं परम् ॥११०॥६१५॥

अकृतोपास्ति भले नित्य निदिध्यासन सम्यक् करे। पर उन्हें परम जीवन्मुक्तिसुख प्राप्त नहीं होता ॥११०॥६१५॥

भोगेन नष्टे प्रारब्धे विज्ञानप्रतिबन्धके ।
विदेहमुक्तिरेषां स्यान्निदिध्यासनजं फलम् ॥१११॥

तब क्या उनका निदिध्यासन व्यर्थ जायेगा? नहीं। भोगसे अनुभवका प्रतिबन्धक प्रारब्ध नष्ट होनेपर विदेहमुक्ति प्राप्त होगी। अतः सार्थक है ॥१११॥

क्रियतां तर्ह्युपासैव श्रवणाद्युत्तरं ननु ।
न कर्तृत्वादिमिथ्यात्वदर्शिनः सुष्ठु सा भवेत् ॥११२॥

तो श्रवणादिके बाद उपासना को ही कर लिया जाये क्या हानि? बात यह है कि श्रवणादिके बाद कर्तृत्वादिको मिथ्या देखनेवाला सम्यक् उपासना नहीं कर पायेगा ॥११२॥

कर्तृत्वादौ तु याथार्थ्यभावना क्रियते तदा ।
मा भूज्ज्ञानं विशिथिलं मा भूदुभयतो गतः ॥११३॥

इतनी बातके लिये अधिकारी विभाजनकी क्या जरूरत? श्रवणादि करनेके बाद सही, उपासना करलो। नहीं। उपासनामें कर्तृत्वादि भावना

करेंगे तो ज्ञान ही शिथिल हो सकता है। फिर तो इधरसे और उधरसे भी गयेवाली बात होगी ॥११३॥

चिराभ्यासवशादेव ज्ञानं सम्पद्यते दृढम् ।
ततो विदेहमुक्तिः स्यात् किमुपास्त्या प्रयोजनम् ॥११४॥

ज्ञानको दृढ बनानेके लिये काफी अभ्यास करना पड़ता है। फिर तो विदेहमुक्ति ही हो जायगी। बीचमें उपासनासे क्या मतलब रहेगा ? ॥११४॥

ज्ञानं च द्विविधं प्रोक्तं दृढं चादृढमेव च ।
तदसंभावनादीनां भावाभावनिबन्धनम् ॥११५॥६२०॥

ज्ञान दृढ अदृढ भेदसे दो प्रकारका होता है। असंभावना विपरीत भावनाके रहनेपर अदृढ और न रहनेपर दृढ ज्ञान होता है ॥११५॥६२०॥

आवृत्त्या श्रवणाच्चैव मननाच्च चिरं मुहुः ।
मानगा मेयगा चासंभावना क्षीयते सताम् ॥११६॥

बारबार श्रवण मननकी आवृत्ति करनेसे प्रमाणगत तथा प्रमेयगत असंभावना निवृत्त होती है ॥११६॥

विपरीता भावना तु निदिध्यासनतो मुहुः ।
निवर्तेतात्र चोपास्तेर्मध्ये क्वावसरो भवेत् ॥११७॥

विपरीत भावना निरन्तर निदिध्यासनसे निवृत्त होती है। इस बीचमें उपासनाके लिये अवसर कहां रहता है ? ॥११७॥

आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया ।
दद्यान्नावसरं किंचित्कामदीनामिति स्मृतेः ॥११८॥

सुप्तिपर्यन्त और मरणपर्यन्त निरन्तर वेदान्तचिन्तन करो। काम, कर्तृभावादिके लिये अवसर मत दो ऐसा आचार्यवचन है ॥११८॥

नन्वेवं निर्गुणोपास्तिरपि स्यान्नेति चेन्न तत् ।
नाधिकारविचारोऽत्र कर्तृता त्यज्यते ततः ॥११९॥

इस प्रकार फिर श्रवणादिके बाद निर्गुणोपासना भी नहीं होगी। उत्तर यह है कि उसके लिये अधिकारचिन्ता नहीं होती। अतः कर्तृत्वभावना रखे विना ही निर्गुणोपासना की जा सकती है ॥११९॥

गायत्र्युपासनायां स्यादधिकारविचारणा ।
सा पुरश्चरणादौ च विशेषेण प्रदर्शिता ॥१२०॥६२५॥

गायत्री आदिकी उपासनामें अधिकारीका विचार है। वह अनेक कर्मघटित है। गायत्री पुरश्चरण आदिमें उसका विशेष वर्णन है ॥१२०॥६२५॥

भाष्य-भर्ग इत्यविद्यादिदोषभर्जनात्मकज्ञानैकविषयत्वं

भर्गोऽविद्यादिदोषाणां भर्जनादभिधीयते ।
न स्वतो भृज्जते दोषान् विज्ञातं सद्धि भृज्जते ॥१२१॥

अविद्यादि दोषोंका भर्जन करनेसे परमात्माका स्वरूप भर्ग कहलाता है। किन्तु स्वतः परमात्मा भर्जन नहीं करता। यदि ऐसा होता तो संसार ही न होता। होता भी तो द्वितीय क्षणमें नष्ट होता। किन्तु ज्ञानविषय होनेपर भर्जन करता है ॥१२१॥

अविद्यादीत्यादिपदाद् गृह्येते कामकर्मणी ।
भिद्यते हृदयग्रन्थिरित्यादिश्रुतिदर्शनात् ॥१२२॥

भाष्यमें अविद्यादि इस आदिपदसे काम (वासना) तथा कर्मका ग्रहण है। "भिद्यते हृदयग्रन्थि" इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्मदर्शनसे इन तीनोंकी निवृत्ति बतायी है ॥१२२॥

संसारभर्जनं चैव ज्ञाते ब्रह्मणि जायते ।
श्रुतिश्चाह स्म तरति शोकमात्मविदित्यसौ ॥१२३॥

ब्रह्मदर्शन होनेपर संसार भर्जन भी होता है। "तरति शोकमात्मवित्" यहां शोकपदका पूरा संसार अर्थ है। आत्मज्ञानी शोकात्मक संसारको तर जाता है ॥१२३॥

अधिष्ठानत्वरूपेण साधको जगतः प्रभुः ।
स एव बाधको ज्ञानविषयत्वेन संमतः ॥१२४॥

अधिष्ठानके रूपमें ब्रह्म जगत का साधक है। वही ज्ञानविषयत्वरूपसे बाधक भी है ॥१२४॥

तृणादेः साधकोऽप्यर्को मण्यारूढः स दाहकः ।
जगतः साधकोऽपीशो वृत्त्यारूढः स बाधकः ॥१२५॥६३०॥

सूर्य तृणादिका साधक है वही मणिपर आरूढ होनेपर दाहक भी होता है। वैसे ब्रह्म भी जगतका साधक होनेपर भी वृत्त्यारूढ होकर बाधक भी होता है ॥१२५॥६३०॥

एकमात्रं परं ब्रह्माऽखण्डवृत्तिर्विषिण्वती ।
दहेदज्ञानतत्कार्यलक्ष्मदोषानशेषतः ॥१२६॥

एकमात्र परब्रह्मको विषय करनेवाली अखण्डाकार वृत्ति अविद्या एवं तत्कार्यरूप समस्त दोष को दग्ध करती है ॥१२६॥

विदित्वा मृत्युमत्येति तमेवेति श्रुतिर्जगौ ।
अन्याऽविषयतज्ज्ञानमेवकारेण गम्यते ॥१२७॥

"तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इस श्रुतिमें तमेव यह एवकार इतर अविषयक ब्रह्मज्ञान बतानेके लिये है। क्योंकि नान्यः यह आगे बताया है ॥१२७॥

अखण्डाकारवृत्त्यैव दोषाणां भर्जनं भवेत् ।
तदीयविषयत्वोक्त्याऽखण्डत्वमिह लक्ष्यते ॥१२८॥

अखण्डाकार वृत्तिसे ही दोषोंका मार्जन होता है। अतः तद्विषयत्व-कथनसे अखण्डत्व ही लक्षित होता है ॥१२८॥

प्रतिबोधं हि विदितं ब्रह्म किन्तु न भर्जनम् ।
भर्जनं त्वपरिच्छिन्नबुद्धिगोचरमेव तत् ॥१२९॥
तदेवात्राऽपरिच्छिन्नं देशतः कालतोऽर्थतः ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत् तद्वा भर्ग इतीरितम् ॥१३०॥६२५॥

"प्रतिबोधविदित" इस श्रुतिमें ब्रह्मको प्रत्येक बोधमें बोद्धृरूपसे भासमान बताया। परंतु वह दोष भर्जनकारक नहीं है। क्योंकि वहां अपरिच्छिन्न-रूपसे भासित नहीं होता। विषयावच्छिन्न होकर भासित होता है। अतः यहां भर्जन बताकर अपरिच्छिन्नार्थविषयकज्ञानगोचर सूचित किया। देश, काल एवं वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्मको जाननेसे ही दोषभर्जन होता है।

उसी अपरिच्छिन्नको "सत्यं ज्ञानमनन्तं" इस श्रुतिमें अनन्तपदसे कहा। वही यहां भर्गः पदका अर्थ है ऐसी भी व्याख्या है ॥१२९-१३०॥

यद्वा वरेण्यशब्देनानन्दरूपत्वमीरितम् ।
भर्गःशब्देन निर्दुःखस्वरूपत्वमुदीर्यते ॥१३१॥
शोकसंसाररहित-शुद्धब्रह्मैकगोचरम् ।
ज्ञानं स्याच्छोकदहनं यादृग् दृक् तादृगेव तत् ॥१३२॥

अथवा वरेण्य शब्दसे आनन्दरूपता बतायी। भर्गः शब्दसे निर्दुःख-रूपता बतायी जा रही है। सर्व संसार दुःखशोकरूप है। उससे रहित शुद्ध ब्रह्म है। उसका ज्ञान ही शोकतारक है। क्योंकि दृष्टिसृष्टि होनेसे संसार-सहित दृष्टिसे संसार है। शुद्धब्रह्मदृष्टि शोकदाहक है ॥१३१-१३२॥

भञ्जो आमर्दने भ्राज दीप्तौ भर्गस्ततोऽपि च ।
द्वैतोपमर्दनं ज्ञानं भर्गोऽविद्यादिबाधकम् ॥१३३॥

"भञ्जो आमर्दने" "भ्राज दीप्तौ" इन दो धातुओंसे भर्गस् शब्द माना है। योगरूढार्थमें द्वैतमर्दनज्ञान अर्थात द्वैतबाधक ही भर्ग है ॥१३३॥

भाष्य-देवस्येति-सर्वद्योतनात्मकाखण्डचिदेकरसम् ।

देवशब्दोऽत्र सकलद्योतनात्मा स्वयंप्रभः ।
सर्वानुभानश्रवणात् स्वप्रकाशश्रुतेरपि ॥१३४॥

देवस्यमें देव शब्दका दीव्यति देवयति ये दोनों विग्रह है। दीव्यति से स्वयंप्रकाशता तथा देवयतिसे सर्वप्रकाशकता अर्थ है। "अत्रायं स्वयंज्योति-र्भवति" "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं" ऐसे दोनों अर्थोमें श्रुत्यन्तर प्रमाण है ॥१३४॥

वक्ष्यत्यग्रे भाष्यकारः स्वप्रकाशचिदात्मकम् ।
इह सर्वद्योतनात्मेत्युभयं तद्विवक्षितम् ॥१३५॥६४०॥

आगे अन्वयार्थमें भाष्यकार स्वप्रकाशचिदात्मकं व्याख्या करेंगे। और यहां सर्वद्योतनात्मक कहा। अतः दोनों अर्थ भाष्यविवक्षित हैं ॥१३५॥६४०॥

आत्मना ज्योतिषैवायमास्ते पल्ययतेऽपि च ।
न ज्योतिरन्तरापेक्षः सोऽनवस्थाप्रसक्तितः ॥१३६॥

"आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते विपल्येति" इस श्रुतिमें अन्य ज्योतिकी अनपेक्षा आत्मा को बतायी है। अन्यथा अनवस्था हो जाती ॥१३६॥

भाष्य-सवितुर्देवस्येत्यत्र षष्ठ्यर्थो राहोः शिरोवदौपचारिकः

देवस्य भर्ग इति च राहोः शिर इतीव हि ।
प्रयोगो न तयोर्भेदो नाद्वैते भेदसंभवः ॥१३७॥

देवस्य भर्गः यह प्रयोग राहोः शिरः के समान औपचारिक है। दोनोंके अर्थमें अन्यन्त भेद नहीं है। अद्वैतमें भेद संभव नहीं है ॥१३७॥

स्वप्रभत्वादिरूपेणानर्थदग्धृत्वतोऽपि च ।
पदाभ्यां वर्ण्यते तेन पौनरुक्त्यं न दूषणम् ॥१३८॥

देवपदसे स्वयंप्रकाशत्व एवं जगत्प्रकाशकत्वरूपसे वर्णन है और भर्गः पदसे अनर्थदाहकत्वरूपसे। अतः पुनरुक्तिदूषण नहीं है ॥१३८॥

भाष्यं-बुद्ध्यादिसर्वदृश्यसाक्षिलक्षणं यन्मे स्वरूपं

प्रत्येकपदलभ्यार्थमभिधाय स्फुटं ततः ।
कृत्स्नवाक्यार्थमधुना बुद्ध्यादीत्यादिनोच्यते ॥१३९॥

यहांतक प्रत्येकपदसे लभ्य अर्थको स्पष्टरूपसे कहकर उसके बाद अब पूरे वाक्यका अर्थ "बुद्ध्यादि" इत्यादिसे भाष्यकार कहते हैं ॥१३९॥

बुद्ध्यादिसर्वदृश्यानां परमं साक्षिलक्षणम् ।
यन्मे स्वरूपमित्येवमन्त्यपादार्थसंग्रहः ॥१४०॥

बुद्धि आदि सर्वदृश्योंका साक्षीरूप जो मेरा स्वरूप, यह तृतीयपादार्थ संग्रह है ॥१४०॥

धीपदं सर्वदृश्यानामुपलक्षणमिष्यते ।
प्रचोदनं च साक्षित्वं स्वस्वरूपं च तन्मतम् ॥१४१॥

धी शब्द समस्त दृश्यका उपलक्षण है। प्रचोदनसे साक्षित्व विवक्षित है ॥१४१॥

भाष्य-तत्सर्वाधिष्ठानभूतं परमानन्दम्

सर्वादिष्ठानभूतं तत् सृष्टिस्थित्यन्तकारणम् ।
वरेण्यं परमानन्दमाद्यपादार्थसंग्रहः ॥१४२॥

तत्सवितुः का सर्वाधिष्ठान तथा वरेण्यं का परमानन्द अर्थ बता चुके। अतः यह प्रथम पादका अर्थसंग्रह है ॥१४२॥

भाष्य-निरस्तसमस्तानर्थरूपं स्वप्रकाशचिदात्मकं
भर्जनात्सर्वदोषाणां निरस्तानर्थसंचयम् ।
देवत्वात्स्वप्रभमिति द्वितीयार्धार्थसंग्रहः ॥१४३॥

भर्गो देवस्य यह द्वितीयपादका अर्धांश है। भर्गसे सर्वदोषभर्जनकारी अर्थात समस्त अनर्थनिरासकारी तथा देवसे स्वयंप्रकाशचित् ऐसे अर्थका संग्रह है ॥१४३॥

भाष्य-ब्रह्मेत्येवं धीमहि ध्यायेम ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्युक्तं ब्रह्मैव तादृशम् ।
ध्यायेम तन्नित्यमिति शेषार्धस्यार्थसंग्रहः ॥१४४॥

पूर्वोक्त लक्षणसंपन्न तत्त्व तो सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इस श्रुतमें उक्त ब्रह्म ही है। उसका हम नित्य ध्यान करें यह द्वितीय पादके शेष अर्धका अर्थसंग्रह है ॥१४४॥

नन्वहं ब्रह्म तच्चाहं ध्यायामीति यदोच्यते ।
वाक्यभेदो भवेदैक्यध्यानोभयविधानतः ॥१४५॥६५०॥

पूर्वपक्ष-मै ब्रह्म हूं, उस ब्रह्मका मै ध्यान करता हूं ऐसा जब कहते हैं तब जीवब्रह्मैक्य तथा ब्रह्मध्यान दोनोंका विधान होनेसे वाक्यभेदनामक मीमांसोक्त दोष होता है ॥१४५॥

मैवं ध्यानविधिर्नात्र प्रत्यक्ष उपलभ्यते ।
लिङ्गगम्यविधेयार्थे वाक्यभेदो न विद्यते ॥१४६॥

उत्तरपक्ष-धीमहि यह उत्तम पुरुष होनेसे यहां ध्यानविधि प्रत्यक्ष नहीं है। लिंगसे विधिका अनुमान करते हैं। तबतक श्रूयमाण वाक्यार्थज्ञान हो जानेसे वाक्यभेद नहीं होता। अनुमेय अर्थका बोध वाक्योत्पन्न नहीं होता ॥१४६॥

यजेत सोमेनेत्यत्र विशिष्टस्य विधौ सति ।
अर्थाद् गम्यः सोमविधिर्न हि वाक्यभिदाकरः ॥१४७॥

जैसे "सोमेन यजेत" यहां सोमसे याग करो, यागसे इष्ट प्राप्त करो ऐसा कहने पर वाक्यभेद होता है। अतः सोमविशिष्ट यागविधान माना।

किन्तु सोमविधानके विना सोमविशिष्ट यागविधान कैसे हो? यागमें सोमद्रव्य कैसे हो? इस पूर्वपक्षमें अर्थापत्तिसे सोमकरणत्व बताया। अर्थापत्ति गम्य होनेसे वह वाक्यभेददोषकारी नहीं होता ऐसा सिद्धान्त किया ॥१४७॥

यो न इत्यत्र न इति वाच्यार्थस्त्वंपदस्य सः ।
षष्ठ्या साकं च य इति लक्ष्यार्थस्तस्य सूच्यते ॥१४८॥
बुद्ध्यादियुक्तो वाच्यार्थो लक्ष्यार्थस्तत्प्रचोदकः ।
यन्मे स्वरूपमित्येवं वदता प्रकटीकृतम् ॥१४९॥

"यो नः" यहां नः जो कहा वह त्वंपदका वाच्यार्थ है। नः यः इस षष्ठीके साथ "यः" यह पद किंचिद्भेद दिखाते हुए लक्ष्यार्थको सूचित करता है। सारांश हुआ. बुद्ध्यादिविशिष्ट वाच्यार्थ है। बुद्ध्यादिप्रचोदक लक्ष्यार्थ है। 'यन्मे स्वरूपं' से अभेद सूचित करते हुए उक्त अर्थको भाष्यमें प्रकट किया ॥१४८-१४९॥

घटकत्वं तु षष्ठ्यर्थो न षष्ठ्यघटकत्वतः ।
विशेषणं यद् वाच्यार्थे लक्ष्ये तदुपलक्षणम् ॥१५०॥

'नः धियः' यहां घटकत्व षष्ठीका अर्थ है। 'हमारी बुद्धि' इसका अर्थ है हमारे अंदर घटकतया प्रविष्ट हुई बुद्धि। साक्षीमें बुद्धि घटक नहीं है। अतः 'यः' में षष्ठीका प्रयोग नहीं किया। अन्यथा यत्किंचित् भेद होनेपर "नीलस्य घटस्य" के समान 'येषां नः ऐसा प्रयोग होना चाहिये था। वाच्यार्थमें बुद्ध्यादि जो विशेषण है वह लक्ष्यार्थमें उपलक्षणमात्र है ॥१५०॥६५५॥

जगज्जन्मादिहेतुत्वं वाच्यार्थः सवितुर्मतः ।
सर्वाधिष्ठानभूतत्वं लक्ष्यार्थस्तस्य दर्शितः ॥१५१॥

सविताका वाच्यार्थ है—जगत्-जन्मादि-हेतुत्व। और अधिष्ठानभूतत्व यह उसका लक्ष्यार्थ है ॥१५१॥

वरेण्यमिति शब्दस्य वाच्या संभजनीयता ।
परमानन्दरूपत्वं लक्ष्यमत्र प्रदर्शितम् ॥१५२॥

वरेण्य शब्दका वाच्यार्थ संभजनीयत्व है। लक्ष्यार्थ परमानन्दरूपत्व है ॥१५२॥

भर्जकं तेज इत्येतद् वाच्यं भवति भर्गसः ।
अशेषानर्थशून्यत्वं लक्ष्यमत्र निरूपितम् ॥१५३॥

भर्गका दाहक तेज वाच्यार्थ है और सर्वानर्थशून्य स्वरूप लक्ष्यार्थ दिखाया ॥१५३॥

देवयोनिभवो देववाच्यो दिव्योऽथवा भवेत् ।
स्वप्रकाशचिदात्मत्वं देवलक्ष्यमिहोदितम् ॥१५४॥

देवका वाच्यार्थ देवयोनि या दिव्य और लक्ष्यार्थ स्वप्रकाशचिद्रूपता बतायी ॥१५४॥

यत्पदार्थः प्रसिद्धिर्वा तत्पदेनाभिधीयते ।
शास्त्रप्रसिद्धं ब्रह्मैव तत्पदेनात्र लक्ष्यते ॥१५५॥

तत् पदका यत्पदार्थ या प्रसिद्ध वाच्यार्थ है और यहां शास्त्रप्रसिद्ध होनेसे ब्रह्म लक्ष्यार्थ दिखाया ॥१५५॥६६०॥

इत्थं तत्त्वमसीत्येतत्तत्पदार्थोऽपि दर्शितः ।
अन्वयं संप्रदर्श्यैव वाक्यार्थोऽपि प्रकाशितः ॥१५६॥

इस प्रकार तत्त्वमसिमें तत्पदार्थ भी दिखाया और अन्वय बताकर वाक्यार्थ भी प्रकाशित किया ॥१५६॥

यो न इत्यत्र षष्ठीव देवस्येत्यपि मा स्म भूत् ।
इत्यौपचारिकत्वं तु भाष्ये प्रोक्तं विशेषतः ॥१५७॥

"धियो यो नः" यहां जैसे सम्बन्धार्थमें षष्ठी है वैसे देवस्य भर्गः में भी नहीं यह बताने के लिये औपचारिकत्व विशेषरूपसे कहा ॥१५७॥

अत्र नःपदसांनिध्यादहं ब्रह्मास्मिवाक्यजम् ।
अर्थमेव महान्तोऽन्ये परिग्राह्यतरं विदुः ॥१५८॥

"धियो यो नः" यहां नः पदका सानिध्य होनेसे "अहं ब्रह्मास्मि" वाक्यसे निकलनेवाला अर्थ ही उदाहरणार्थ ग्राह्य है ऐसे अन्य आचार्य मानते हैं ॥१५८॥

भाष्येऽत एवाहंशब्दबोध्यमादौ निरूपितम् ।
पादद्वयार्थः पश्चाच्च ब्रह्मशब्दश्च योजितः ॥१५९॥

उनका कहना है कि इसी कारण (अर्थात् अहं ब्रह्मास्मिमें अहं पद प्रथम आया इसलिये) प्रथमतः तृतीयपादको लेकर भाष्यमें अहंपदार्थका निरूपण किया। और बादमें प्रथमपादद्वयका अर्थ योजित किया, साथमें ब्रह्म शब्दको भी रखा। क्योंकि अहंब्रह्मास्मिमें ब्रह्म शब्द आ गया है ॥१५९॥

तथायमात्मा ब्रह्मेति प्रज्ञानं ब्रह्म चेत्यपि ।
गृहीत्वा विहिता व्याख्येत्येतच्चात्र समञ्जसम् ॥१६०॥६६५॥

तथा "अयमात्मा ब्रह्म" को लेकर व्याख्या की। "प्रज्ञानं ब्रह्म" को लेकर व्याख्या की ऐसा मानना भी यहां समंजस है ॥१६०॥६६५॥

तदेतदैक्यविज्ञानं मोक्षदं वाक्यतो भवेत् ।
तत्रैव सहकारीदं ध्यानं ध्यायेमशब्दितम् ॥१६१॥

पूर्वोक्तरीत्या गायत्र्यादि महावाक्यसे मोक्षदायी जीवब्रह्मैक्य विज्ञान होगा। उसमें सहकारी ध्यान है जो ध्यायेम से बताया ॥१६१॥

अत्र ध्यायतिना सम्यङ् निदिध्यासनमुच्यते ।
श्रवणान्मननाच्चोर्ध्वं तद्धि श्रुतिषु विश्रुतम् ॥१६२॥

पूर्वोक्तरीति तत्पदार्थ, त्वंपदार्थ एवं वाक्यार्थका यहां वर्णन है तब धीमहि का भी अर्थ निदिध्यासन होगा। श्रवण और मननके बाद श्रुतियोंमें निदिध्यासन ही बताया है ॥१६२॥

ताभ्यां विना न सफलं निदिध्यासनमित्यतः ।
सूच्येते ते च गायत्र्या नैष्फल्यविनिवृत्तितः ॥१६३॥

श्रवण और मनन के विना निदिध्यासन सफल नहीं हो सकता। गायत्री निष्फल अर्थको बोधित नहीं कर सकती। अतः निदिध्यासनको बताती हुई श्रवण और मनन की भी कर्तव्यता सूचित करती है ॥१६३॥

वेदान्तानामद्वितीये तात्पर्यस्यावधारणम् ।
ब्रह्मण्येवेति षड् लिङ्गैर्येन तच्छ्रवणं मतम् ॥१६४॥

वेदान्तोंका अद्वितीय ब्रह्ममें ही तात्पर्य है। इस बातका षड् लिंगोंसे अवधारण जिससे हो वह श्रवण है ॥१६४॥

उपक्रमोपासंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥१६५॥६७०॥

उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति ये छह तात्पर्यनिर्णायक लिंग हैं ॥१६५॥६७०॥

ईशावास्यमुपक्रम्योपसंजह्रे स पर्यगात् ।
अनेजदेकं तन्नैजत्यभ्यासः कथनं मुहुः ॥१६६॥
नैनद् देवा आप्नुवन्नित्यपूर्वत्वमुदीरितम् ।
तत्र को मोहः कः शोक इत्युक्ताऽशोकता फलम् ॥१६७॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणीत्यनुमत्यर्थवादिता ।
तस्मिन्नपो मातरिश्वेत्युपपत्तिश्च दृश्यते ॥१६८॥

ईश्यावास्योपनिषत्में "ईशावास्यमिदं सर्वं" इसप्रकार अद्वैतसे उपक्रम किया। (जगत ईशसे आच्छादित होनेसे अन्य वस्तु नहीं है।) और "स पर्यगात्" (वह व्यापक है) से उपसंहार किया। "अनेजदेकं" "तदेजति तन्नैजति" आदि अभ्यास है। "नैनद्देवा" वह इन्द्रियोंका अविषय है से अपूर्वता बतायी। "तत्र को मोहः कः शोकः" से शोकमोहनिवृत्ति फल कहा। तत्त्वज्ञानी कर्तृत्वके न होनेपर भी कर्म करता है–"कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यादि अर्थवाद है। मातरिश्वा हिरण्यगर्भ भी उस परमात्माके अस्तित्वमें ही कर्मका विभाजन करता है। क्योंकि उसके अनस्तित्वमें शासक शासनीय कुछ भी नहीं रहेगा। यह उपपत्ति है ॥१६६-१६७-१६८॥

मुमुक्षुरधिकारी स्यात् स एव फलभाग् यतः ।
तीव्रा मुमुक्षा फलकृद् विवेकादिमतो मता ॥१६९॥

श्रवणादिमें अधिकारी मुमुक्षु है। क्योंकि वह फलाश्रय है। तीव्र मुमुक्षा जो फलकारी है वह विवेकादिसाधनचतुष्टयवान् को ही होती है ॥१६९॥

ततो ध्यायतिनैवात्र विवेकादिचतुष्टयम् ।
सूचितं यद्विना नैव सफलं श्रवणादिकम् ॥१७०॥६७५॥

अत एव धीमहि-ध्यायेमसे ही विवेकादि चतुष्टय भी सूचित होता है। अधिकारीका अर्थ हकदार मत समझो। श्रवणादिजन्यफलाश्रयत्व ही अधिकार है। विवेकादिके बिना सुनो, कोई बात नहीं। हां, उससे जो फल

श्रवणादिका होना चाहिये वह नहीं होगा। श्रवणं पापनाशनं कहकर सुन सकते हैं ॥१७०॥६७५॥

विवेकः स तु विज्ञेयो यतो वैराग्यमुद्भवेत् ।
कर्मोपास्तिप्रसन्नेशानुग्रहोत्थो दृढः स्फुटः ॥१७१॥

केवल वाचिक विवेक ही यहां विवेक नहीं है। किन्तु वैराग्योद्भावक विवेक ही विवेक है। जो कर्म एवं उपासना से प्रसन्न भगवानके अनुग्रहसे होता है। वह विवेक दृढ होता है। स्पष्ट अनुभवात्मक होता है ॥१७१॥

दृष्टानुश्रविकार्थेषु वैतृष्ण्याद्विषयेषु या ।
स्याद्वशीकारसंज्ञा तद् वैराग्यमिह कीर्तितम् ॥१७२॥

वैराग्य भी श्मशानवैराग्यमात्र नहीं । किन्तु ऐहिक पारलौकिक समस्त विषयोंमें वितृष्णा होनेसे वशीकारसंज्ञा नामकी स्थिति ही वैराग्य है॥१७२॥

शमः शमयतश्चित्तं धीन्द्रियं दाम्यतो दमः ।
कर्मेन्द्रियोपरमणाद् भवत्युपरतिस्ततः ॥१७३॥
तितिक्षा द्वन्द्वसहनं श्रद्धा शास्त्रगुरूक्तिषु ।
चित्तैकाग्र्यं समाधानं षडेते च शमादयः ॥१७४॥

जो चित्तको निरन्तर शान्त करता रहता है उसमें शम गुण आता है। ज्ञानेन्द्रियोंका दमन करता रहे तो दम गुण आता है। कर्मेन्द्रियोंका उपरमण करता रहता है उसमें उपरति आती है। शीतोष्णादिद्वन्द्वोंको सहन करे तो तितिक्षा होती है। शास्त्रवाक्योंमें और गुरुवाक्योंमें विश्वास श्रद्धा है। चित्तकी एकाग्रता समाधान है। ये छः शमादि हैं ॥१७३-१७४॥

एतत्त्रयसमुद्भूता मुमुक्षा मोक्षकामना ।
तीव्रा च या स्थिरा चापि चाऽधिकारिविशेषणम्॥१७५॥६८०॥

विवेक, वैराग्य एवं शमादिसे उद्भूत मुमुक्षता अर्थात् विलक्षण मोक्षकामना ही तीव्र एवं स्थिर होती है (क्षणिक मुमुक्षुता तो सबको हो सकती है किन्तु स्थिर एवं तीव्र नहीं होती) वही अधिकारीका विशेषण है ॥१७५॥९८०॥

श्रवणे मनने ध्याने ततश्चाऽऽवृत्तितः कृते ।
साक्षात्कारात्मकं ज्ञानं गायत्र्यादेः प्रजायते ॥१७६॥

मुमुक्ष होकर श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन बारबार करनेपर महावाक्योंसे अन्तमें साक्षात्कारात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है ॥१७७॥

भाष्य-एवं सति

महावाक्यार्थविज्ञानं जन्यं फलविधं भवेत् ।
एवं सतीति भाष्येण शाश्वतं फलमुच्यते ॥१७८॥

साक्षात्कारात्मक अखण्डाकारवृत्तिरूप महावाक्यार्थविज्ञान जन्य होता है। वह जन्य फल है। एवं सति इत्यादि भाष्यसे नित्य फल कहते हैं ॥१७८॥

फलं ब्रह्मैव नित्यं स्यात् तमसा तत् समावृतम् ।
अधुनाऽसदिवाऽभूत्तत् सज्ज्ञानात्संप्रकाशते ॥१७९॥

नित्यफल तो ब्रह्म ही है। अज्ञानसे वह आवृत हुआ है और इस समय असत् जैसा हो गया है। वही ज्ञानसे सत् के रूपमें प्रकाशित होता है ॥१७९॥

भाष्य-सहब्रह्मणः

सहते द्वैतमेतद्धि कार्यब्रह्मेत्युदीर्यते ॥१८०॥६८५॥

सहब्रह्म शब्द शबल ब्रह्मका बोधक है। वह द्वैतसहन करता है। कार्य ब्रह्म है ॥१८०॥

अपवादोऽस्य शाबल्यापवादेन निगद्यते ।
स्वरूपतोऽपवदितुं ब्रह्म तन्नैव शक्यते ॥१८१॥

शबलब्रह्मापवाद भी शाबल्यापवादमात्र है, ब्रह्मस्वरूपापवाद नहीं ॥१८१॥

महद् ब्रह्मण इत्येवं पेठुरत्रेतरे बुधाः ।
मम योनिर्महद् ब्रह्म तत्र प्रकृतिरेव सा ॥१८२॥

महद् ब्रह्मणः ऐसा अन्य विद्वान पढ़ते हैं। मम योनिर्महद्ब्रह्मके अनुसार वह प्रकृति ही है ॥१८२॥

अग्रे जडेति कथानाद् गम्यते चेतनं त्विदम्।
शबलब्रह्म तेनात्र लब्धपाठानुसारि तत् ॥१८३॥

आगे स्वविवर्तजडप्रपञ्चेन पाठ है। अतः यहां चेतनकी प्रतीति हो रही है। जैसा पाठ उपलब्ध हो रहा है तदनुसार शबलब्रह्म अर्थ ही होना चाहिये ॥१८३॥

भाष्य-स्वविवर्तजडप्रपञ्चेन सह रज्जुसर्पन्यायेनापवादे

वक्ष्यमाणं परं ब्रह्म स्वपदेनात्र गृह्यते।
मायावच्छिन्नचैतन्यविवर्तमितरे जगुः ॥१८४॥

भाष्यमें "स्वविवर्तजडप्रपञ्चेन" में स्वपदसे आगे कहा जानेवाला ब्रह्म अर्थात् परब्रह्म विवक्षित है। उसीका विवर्त जड जगत है। दूसरे विद्वान शबल ब्रह्मका (मायाविशिष्ट ब्रह्मका) विवर्त जगतको मानते हैं। जैसे रज्जु या रज्ज्वच्छिन्न चैतन्यका विवर्त सर्प है वैसे मायावच्छिन्न चैतन्यका विवर्त जगत् हो सकता है ॥१८४॥

प्रातिभासिकता नैव तावता जगतो भवेत्।
मृदवच्छिन्नचैतन्यविवर्तकलशादिवत् ॥१८५॥६९०॥

तब रज्जुविवर्त सर्पके समान जगत् प्रातिभासिक नहीं होगा? नहीं। मृदवच्छिन्न चैतन्यका विवर्त घट है। फिर भी वह व्यावहारिक है ॥१८५॥६९०॥

मृत्तिकेत्येव सत्यं न विकारः स मृषेति यत्।
श्रुतिराह विकारस्य सूच्यतेऽतो विवर्तता ॥१८६॥

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं" इस श्रुतिसे मृत्तिकाकी सत्यता और विकार मृन्मयका मिथ्यात्व प्रतीत होता है। यहां मृषात्व विवर्तता ही है। न कि विषमसत्ता ॥१८६॥

केवलं भासते रज्जुसर्पोऽतः प्रातिभासिकी।
सत्ताऽस्य, व्यवहारात्तु घटादेर्व्यावहारिकी ॥१८७॥

रज्जुसर्प, शुक्तिरजतादि केवल भासते हैं, उनसे व्यवहार नहीं होता अतः उनकी प्रातिभासिक सत्ता है। घटादिसे व्यवहार होता है अतः उनकी व्यावहारिक सत्ता है ॥१८७

प्रातिभासिकसत्तायां तूलाज्ञानं प्रयोजकम्।
व्यावहारिकसत्तायां मूलाज्ञानं विदुर्बुधाः ॥१८८॥

प्रातिभासिक सत्तामें तूलाज्ञान प्रयोजक है। व्यावहारिक सत्तामें मूलाज्ञान प्रयोजक है। ऐसी विद्वानोंकी मान्यता है ॥१८८॥

विवर्तत्वं द्वयोरेव समानं बाध्यतावशात्।
पारमार्थिकसत्ता तु केवलं ब्रह्मणः स्थिता ॥१८९॥

उन दोनोंमें विवर्तता समान है। क्योंकि दोनों ही अन्ततः बाध्य है। श्रुति स्वयं "मृत्तिकेत्येव सत्यम्" कहकर कार्यको मिथ्या कहती है। परममूल तो ब्रह्म ही है। उसीकी पारमार्थिक सत्ता है ॥१८९॥

अन्नादिशुङ्गतो मूलमन्विच्छेति सदेत्य हि ।
तत्सत्यमात्मा स इति पारमार्थिकतेरणम् ॥१९०॥६९५॥

मृत्तिकादिको भी "अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ" इत्यादि कहकर विकार एवं मिथ्या कहा और मृत्तिकादिरूप अन्न एवं आप आदिको भी सन्मूल पहुंचाकर मिथ्या बताया उसी सतको सत्य एवं आत्मा कहा। वही परम मूल परमार्थ सत्य श्रुतिको अभिमत है ॥१९०॥६९५॥

जगद्विवर्तहेतुत्वं शबलस्याप्यतो मतम्।
शबलं स्वपदेनातो ग्रहीतुं ब्रह्म शक्यते ॥१९१॥

इस प्रकार शबल ब्रह्म भी जगद्विवर्त हेतु होनेसे भाष्यमें स्वपदसे शबल ब्रह्म भी लिया जा सकता है ॥१९१॥

[भाष्य-स्वविवर्तजडप्रपञ्चेन सह रज्जुसर्पन्यायेनापवादे]
परब्रह्मविवर्तोऽयं प्रपञ्चो जडलक्षणं ।
स इदं सर्वमसृजदिति श्रुत्या तदीरणात् ॥१९२॥

समस्त जडप्रपञ्च परब्रह्मका ही विवर्त है। क्योंकि "स तपस्तत्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं कि च" इस प्रकार श्रुति स्वयं यह बात कह रही है ॥१९२॥

अथवा शबलब्रह्मविवर्तो जडसंसृतिः ।
आकाशाद्वायुरित्युक्तेस्तदपोऽसृजतेति च ॥१९३॥

शबलब्रह्मविवर्त भी कह सकते है। आकाशाद्वायुः, तत्तेजोऽसृजत, तत्तेज ऐक्षत तदपोऽसृजत इत्यादि श्रुतिसे वह सिद्ध है ॥१९३॥

रज्जुज्ञाने यथा जाते कल्पितोऽहिरपोद्यते।
ब्रह्मज्ञाने तथा जाते प्रपञ्चोऽयमपोद्यते ॥१९४॥

रज्जुज्ञानसे सर्पापवादवत् ब्रह्मज्ञानसे प्रपञ्चबाध होता है ॥१९४॥

शबलस्य विवर्तोऽयं प्रपञ्च इति ये विदुः ।
ब्रह्मैव तेऽप्यधिष्ठानं सर्वस्य जगतो जगुः ॥१९५॥७००॥

शबल ब्रह्मका विवर्त प्रपञ्च है। इस पक्षमें भी परब्रह्म सर्वप्रपञ्चाधिष्ठान है ॥१९५॥

बाधो न समसत्ताकविवर्तज्ञानतोऽञ्जसा।
न जातु मृत्तिकाज्ञानाद् घटबाधो हि जायते ॥१९६॥

समसत्तावाले विवर्ताश्रयके ज्ञानसे सहसा बाध नहीं होता। मृत्तिकाज्ञानसे घटका बाध कहां होता है? ॥१९६॥

ननु ब्रह्मविवर्तत्वे सृष्ट्युक्तिरसमञ्जसा।
तत्सद् व्यवर्तयत्तेजस्तेजोऽप इति युज्यते ॥१९७॥

पूर्वपक्ष-यदि ब्रह्मका विवर्त प्रपञ्च है तो तत्तेजोऽसृजत, तदपोऽसृजत आदिकी जगह तत्तेजो व्यवर्तयत् तदपो व्यवर्तयत् इत्यादि कहना चाहिये था ॥१९७॥

मैवं न मन्मते सृष्टिर्विवर्त्तादतिरिच्यते।
यथोत्पत्तिः कापिलानां परिणामान्न भिद्यते ॥१९८॥

उत्तरपक्ष-वेदान्त मतमें सृज धातुका अर्थ विवर्त ही है। विवर्तसे अतिरिक्त कोई सृष्टि नहीं है। जैसे सांख्यमतमें उत्पत्ति परिणामसे अतिरिक्त नहीं। न्यायमतमें परिणाम उत्पत्तिसे अतिरिक्त नहीं। व्यवहारभेदमात्र है ॥१९८॥

तथा चान्या श्रुतिर्धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिरिति च श्रुतिः ॥१९९॥

"धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इस श्रुतिमें तो स्पष्ट कल्पना ही बतायी। अत एव "ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः" इस श्रुतिमें ज्ञानसे संसारनिवृत्ति बतायी। कल्पित ही ज्ञानसे निवर्त्य होता है ॥१९९॥

भाष्य-सामानाधिकरण्यनिरूप्यं सोऽयमिति न्यायेन सर्वसाक्षि-प्रत्यगात्मनो ब्रह्मणा सह तादात्म्यरूपमेकत्वं

सोऽयमित्यादिवाक्येषु सामानाधिकरण्यतः।
एकत्वं बोध्यते तद्वदत्रैक्यं तत्त्वमर्थयोः ॥२००॥७०५॥

"सोऽयं" इत्यादि वाक्योंमें सामानाधिकरण्यसे जैसे एकत्वका बोध होता है वैसे तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ के सामानाधिकरण्य से एकत्वका बोध होता है ॥२००॥

शब्दानां यत्तदर्थैक्यादैक्यात् सवितृभर्गसोः।
यद्वा यदर्थदेवैक्यात् समानाधिकृतिर्भवेत् ॥२०१॥

"भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्।" ऐसा सामानाधिकरण्यका लक्षण है। यो नो धियः प्रचोदयात् तद्भर्गः इस प्रकार भर्ग तथा धीप्रयोजक यत्पद दोनों एकार्थवृत्ति है। या धीप्रयोजक तथा देवपद एकार्थवृत्ति है अतः समानाधिकरण है ॥२०१॥

न समानविभक्तित्वं यत्तच्छब्दप्रयोजकम्।
खण्डवाक्यार्थकाले च तदप्यस्तीति न क्षतिः ॥२०२॥

यद्यपि अन्यत्र समानविभक्तित्व भी आवश्यक है तथापि यत् और तत् शब्दमें उसकी आवश्यकता नहीं है। अतएव यः प्रथमान्त है। तद् भर्गो धीमहि यह द्वितीयान्त है तो सामानाधिकरण्य कैसा यह प्रश्न नहीं उठता। अथवा खण्डवाक्यार्थ पूर्व समानविभक्तिकत्व भी है ॥२०२॥

प्रचोदयाद्धियो यो नस्तद्भर्गस्तच्च धीमहि।
स देवस्तस्य भर्गो वेत्यन्वयः खण्डशो मतः ॥२०३॥

धियो यो नः प्रचोदयाद् तत् सवितुर्भर्गस्तच्च धीमहि ऐसा खण्डश अन्वय है। देवपरामर्श पक्षमें धियो यो नः प्रचोदयात् स सविता सवितुः ऐसा खण्ड वाक्य है।

अत एव च भाष्येऽपि सविता यः प्रचोदयात्॥
स तस्य सवितुर्देवस्येति प्रागन्वयः कृतः ॥२०४॥

इसी कारण भाष्यमें पहले यः सविता धियः प्रचोदयात् स तस्य सवितुः इस प्रकार बीचमें 'सः' जोडकर समानविभक्तित्व दिखाते हुए अन्वय बताया ॥२०४॥

परोक्षत्वपरिच्छित्ति-व्यावर्तनपरत्वतः ।
पूर्वोत्तरार्धयोरर्थसमानाधिकृतिर्मता ॥२०५॥७२०॥

अर्थसामानाधिकरण्य अर्थात विशेषणविशेष्यभाव प्रथमपादद्वयार्थ परमेश्वरमें परोक्षत्वकी और तृतीय पादार्थ प्रत्यगात्मामें परिच्छेदकी व्यावृत्तिके लिये कहा जा चुका है ॥२०५॥७२०॥

सर्वसाक्षिण एकत्वं ब्रह्मणा प्रत्यगात्मनः ।
तदात्मतारूपमेवं गायत्र्या भवति स्फुटम् ॥२०६॥

इसप्रकार सर्वसाक्षी प्रत्यगात्माका ब्रह्मके साथ तादात्म्यरूपी एकत्व गायत्रीसे स्पष्ट होता है ॥२०६॥

भाष्य-भवतीति

नारोपादिस्वरूपं तदेकत्वं किन्तु वस्तुतः ।
अतो बोध्यत इत्युक्तिं त्यक्त्वाह भवतीति हि ॥२०७॥

यह एकत्व आरोपादिरूप नहीं है इसलिये भाष्यमें बोध्यते इत्यादि न कहकर भवति कहा ॥२०७॥

संख्याविशेषो नैकत्वमिति तादात्म्यमीरितम्।
तादात्म्यं च न सम्बन्धस्तदात्मत्वविवक्षणात् ॥२०८॥

यहां एकत्व भी संख्या नहीं, किन्तु तादात्म्य है। तादात्म्य भी नैयायिकोक्त सम्बन्ध विशेष नहीं, किन्तु तदात्मता ही है ॥२०८॥

अखण्डं शुद्धचैतन्यमशेषद्वैतवर्जितम्।
तत्त्वं तदेव तादात्म्यं गायत्र्यर्थो विवक्षितः ॥२०९॥

अतः अखण्ड शुद्धचैतन्य ही द्वैतरहित तत्त्व यहां तादात्म्य है। वही गायत्रीका अर्थ है ॥२०९॥

भाष्य-सर्वात्मकब्रह्मबोधकोऽयं गायत्रीमन्त्रः सम्पद्यते

सर्पमालाप्रभृतयो रज्जुरेवेति वाक्यतः ।
सर्पाद्यात्मत्ववद्रज्जोर्ब्रह्मणः सकलात्मता ॥२१०॥७१५॥

रज्जुको किसीने सर्प, किसीने माला आदि देखा। वृद्धने कहा-ये सर्प, माला आदि जो तुम लोगोने देखा, रस्सी है। यहां सर्पादिरूपसे रज्जु भास

रही थी। सर्पादिका असली स्वरूप (आत्मा) रज्जु ही है ऐसा अर्थ होता है। ऐसे सर्व ब्रह्मसे ब्रह्मकी सर्वात्मता अर्थ प्राप्त होता है ॥२१०॥७१५॥

सर्वाधिष्ठानताद्युक्त्या तादृशोऽर्थोऽत्र लभ्यते।
सर्वात्मकब्रह्मबोधकर्त्री गायत्र्यतः स्थिता ॥२११॥

सर्वाधिष्ठान आदि कहनेसे वैसा ही अर्थ यहां प्राप्त होता है। अतः सर्वात्मक ब्रह्मबोधक गायत्री है यह सिद्ध होता है ॥२११॥

सर्वात्मत्वादिकं चेदमुपलक्षणमित्यतः।
निर्विकल्पं परं ब्रह्म गायत्री संप्रबोधयेत् ॥२१२॥७१७॥

सर्वात्मत्वादि भी उपलक्षण है। अतः गायत्री मन्त्र निर्विकल्पक परब्रह्ममात्रका साक्षात्कार कराती है ॥२१२॥७१७॥

इति महावाक्यार्थनिरूपणपरः तृतीयः परिच्छेदः

भाष्यः—सप्तव्याहृतीनामयमर्थः

अथ चतुर्थः परिच्छेदः

भाष्यः—सप्तव्याहृतीनामयमर्थः

अथोपास्त्युपयुक्तस्य व्याहृत्यादेरिहोच्यते।
अर्थः प्रयोगो यस्यास्ति प्राणायामे जपे तथा ॥१॥

अब उपासनामें उपयोगी व्याहृति आदिका यहां अर्थ कहते हैं जिनका प्रयोग प्राणायाम तथा जपमें होता है ॥१॥

भाष्य-भूरिति सन्मात्रमुच्यते
सप्त व्याहृतयः प्रोक्ता भूस्तत्र प्रथमा भवेत्।
भू सत्तायामिति स्मृत्या सन्मात्रं भूरितीर्यते ॥२॥

सात व्याहृतियां है उनमें प्रथम है भूः। भू सत्तायां धातुसे निष्पन्न होनेके कारण सत् मात्र भू का अर्थ है ॥२॥

तस्यान्वयो भवेन्मन्त्रे ब्रह्मणा भर्गसा सह।
वाच्यार्थभेदसत्त्वेन पौनरुक्त्यादि नात्र हि ॥३॥

उस (भू) का अन्वय मन्त्रमें ब्रह्मके साथ या भर्गके साथ होगा। यद्यपि सत् आदि अर्थ मन्त्रगत सविता आदिसे ही प्राप्त होता है तथापि वाच्यार्थभेद होनेसे पुनरुक्ति आदि दोष नहीं है। लक्ष्यार्थ तो सबका एक ही है ॥३॥

भाष्यं-भुव इति सर्वं भावयति प्रकाशयतीति व्युत्पत्त्या चिद्रूपमुच्यते।
भावना भुव इत्यन्तर्भावितण्यर्थताशात्।
तदीक्षणं भासनं च तेन चिद्रूपमुच्यते ॥४॥

भुवः यह अन्तर्भावित ण्यर्थ होनेसे भावनाको बताता है। वही ईक्षण या प्रकाशन है। अतः भावयति भुवः से चिद्रूप कहा गया है ॥४॥

भाष्यं-स्वरिति सुव्रियत इति व्युत्पत्या सुवरिति सुष्ठु
सर्वैर्व्रियमाणं सुखस्वरूपमुच्यते।

सर्वैः सुव्रियमाणत्वात् सुखरूपत्वमुच्यते।
उकारलोपतश्चेदं स्वरित्येव प्रयुज्यते ॥५॥७२२॥

स्वर् की जगह सुवर् ऐसा भी वैदिक पाठ है। सु-वरण किया जानेवाला होनेसे आनन्दरूप ऐसा शब्दार्थ है। उकारका लोप होनेपर स्वर् ऐसा पद हो गया ॥५॥

भाष्यं-मह इति महीयते पूज्यते इति व्युत्पत्या सर्वातिशयत्वमुच्यते।

महो महीयमानत्वात्सर्वैः सर्वातिशाय्यतः।
सर्वोर्ध्वसत्तावत्त्वाच्च तस्य सर्वातिशायिता ॥६॥

ब्रह्मको मह इसलिये कहते हैं कि वह महीयमान अर्थात सर्वपूज्य होनेसे सर्वातिशायी है। सर्वातिशायित्व पारमार्थिक सत्तासे ही है ॥६॥

भाष्य- जन इति जनयतीति सर्वकारणत्वमुच्यते।

सर्वं च जन्यं जनयेदतो जन इतीर्यते।
सर्वाधिष्ठानतैवास्य सर्वकारणता मता ॥७॥

समस्त जन्य वस्तुको जन्म देता है अतः जन कहलाया। सर्वकल्पनाधिष्ठानत्व ही यहां सर्वकारणता है ॥७॥

भाष्य-तप इति सर्वतेजोरूपत्वं

सर्वतेजः स्वरूपत्वं तपःशब्देन भण्यते।
यदादित्यगतं तेज इत्यादिस्मृतिदर्शनात् ॥८॥

तपः शब्दसे सर्वतेजोरूपता बतायी है। यह बात "यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्" इस गीतावाक्यमें स्पष्ट है ॥८॥

ज्ञानात्मता वा तच्चोक्तं यस्य ज्ञानमयं तपः।
ज्ञानेषु सकलेष्वेव ब्रह्मैवैकं प्रकाशते ॥९॥

अथवा तपका ज्ञानात्मता अर्थ समझना चाहिये। "यस्य ज्ञानमयं तपः" ऐसा श्रुतिवाक्य है। सभी ज्ञानोंमें प्रकाश तो ब्रह्मका ही है ॥९॥

भाष्य-सत्यमिति सर्वबाधाराहित्यम्।

सत्यमेतत्पदं सर्वबाधाराहित्यबोधकम्।
सर्वबाधावधित्वेन बाधसामान्यवारणात् ॥१०॥७२७॥

सत्यका सर्वबाधरहित अर्थ है। सर्वबाधावधि होने से उसका बाध कभी नहीं होता ॥१०॥

ननु चात्र पुराणादावूर्ध्वमूर्ध्वं व्यवस्थिताः ।
भूरादयः सप्त लोका उक्तास्तद्वाचका इमे ॥११॥

पूर्वपक्षः-पुराणादिमें ऊपर-ऊपर स्थित भूः आदि सात लोक बताये हैं। भूरादि शब्द उन्हींके वाचक है। सत् चित् आदि इनका अर्थ किस प्रकार? ॥११॥

पादगम्यं तु यत्किंचिद् वस्त्वस्ति पृथिवीमयम्।
स भूर्लोकः समाख्यातो विस्तरोऽस्य मयोदितः ॥१२॥
भूमिसूर्यान्तरं यत्तु सिद्धादिसुनिषेवितम्।
भुवर्लोकस्तु सोऽप्युक्तो द्वितीयो मुनिसत्तम ॥१३॥
ध्रुवसूर्यान्तरं यत्तु नियुतानि चतुर्दश।
स्वर्लोकः सोऽपि कथितो लोकसंस्थानचिन्तकैः ॥१४॥

जहां तक हम पावंसे जा सकते है वह भूलोक है। भूमि और सूर्यकि बीचका स्थान भुवर्लोक है। सूर्य और ध्रुवके बीचका स्थान स्वर्लोक है। जो चौदह नियुतयोजन विस्तीर्ण है ॥१२-१४॥

त्रैलोक्यमेतत्कृतकं मैत्रेय परिपठ्यते।
जनस्तपस्तथा सत्यमिति चाकृतकं त्रयम् ॥१५॥७३२॥

ये तीनो लोक उत्पत्तिविनाशशाली है। उससे ऊपरके अन्तिम जन, तप और सत्य उत्पत्तिनाशरहित है ॥१५॥७३२॥

कृतकाकृतको मध्ये महर्लोक इति श्रुतिः ।
शून्यो भवति कल्पान्ते योऽत्यन्तं न विनङ्क्ष्यति ॥१६॥

बीचका महर्लोक कृतकाकृतक है। कल्पान्तमें शुन्यवत् होगा। सर्वथा नष्ट नहीं होगा।

ध्रुवादूर्ध्वं महर्लोको यत्र ते कल्पवासिनः।
एका योजनकोटी तु महर्लोको विधीयते ॥

ध्रुवसे उपर महर्लोक है जहां कल्पपर्यन्तवासी रहते है। उसका विस्तार एक करोड़ योजन है। ॥१७॥

द्वे कोट्यौ तु जनो लोको यत्र ते ब्रह्मणः सुताः ।
सनन्दनाद्याः कथितास्तत्रैवामलचेतसः ॥१८॥

उससे उपर दो करोड़ योजन विस्तारवाला जनलोक है जहां ब्रह्माके पुत्र सनकादि रहते हैं ॥१८॥

चतुर्गुणोत्तरं चोर्ध्वं जनलोकात्तपः स्मृतः ।
वैराजा यत्र ते देवाः स्थिता दाहविवर्जिताः ॥१९॥

जनलोकसे उपर चौगुना विस्तारवाला तपोलोक है। जहां वैराज देव (विराट की उपासनासे आगे विराट् होनेवाले) रहते हैं जहां दुःख नहीं है ॥१९॥

षड्गुणेन तपोलोकात् सत्यलोको विराजते ।
अपुनर्मारका यत्र ब्रह्मलोको हि स स्मृतः ॥२०॥७३७॥

तपोलोकसे छः गुना बड़ा सत्यलोक है। वहां पुनर्मरण नहीं होता। वही ब्रह्मलोक है ॥२०॥

अत्रोच्यतेऽमी तूपास्तिविशेषार्थं निरूपिताः ।
सकामानां न सोऽत्रार्थो भाष्यकारैः प्रदर्शितः ॥२१॥

उत्तर–सकाम उपासनार्थ कल्पित इन लोकोंका वर्णन भाष्यकारने नहीं किया ॥२१॥

प्रणवः प्रथमं जातस्ततश्च व्याहृतित्रयम् ।
ततश्चापि त्रयो वेदास्ततस्त्रिभुवनं महत् ॥२२॥
भुवनोत्पत्तितः पूर्वं ब्रह्मगं व्याहृतित्रयम् ।
स एवार्थो भाष्यकारैर्व्युत्पत्त्या संप्रदर्शितः ॥२३॥

प्रथम त्रिमात्र प्रणव हुआ, उससे तीन व्याहृति, उनसे तीन वेद, उनसे तीन भुवन हुए। भुवनोत्पत्तिसे पूर्व व्याहृतिका विषय ब्रह्म ही है। वही अर्थ भाष्यकारने दिखाया। भविष्यदर्थवृत्ति नहीं दिखायी ॥२२-२३॥

निरुक्तिकृद्भिर्योगार्थो दर्शितश्च स्थले स्थले ।
तस्माद्वेदेषु सिद्धार्थे योगार्थो न विरुध्यते ॥२४॥

और निरुक्तमें स्थान स्थानमें योगार्थ दिखाया है। अतः सिद्धार्थस्थलमें यौगिक अर्थ मानना असंगत नहीं है ॥२४॥

न देवताधिकरणन्यायात्तत्सत्यता मता ।
अन्तरिक्षविमानाद्यैस्तेषामनुपलब्धितः ॥२५॥७४२॥

यह कहें कि देवताधिकरणन्यायसे अविरुद्ध भुवर्लोकादिकी सिद्धि है तो उत्तर है अन्तरिक्षविमान, राकेट आदिसे अनुपलब्ध होनेसे अभावनिश्चय होता है ॥२५॥७४२॥

ननूपलम्भयोग्यत्वं तेषां दिव्यत्वतो न चेत् ।
सूर्यध्रुवादिलोकानां दिव्यानां योग्यतास्थितेः ॥२६॥

यह भी कहना उचित नहीं कि ये दिव्यलोक होनेसे उपलम्भयोग्य नहीं। क्योंकि सूर्यलोक ध्रुवलोक आदि दिव्य होनेपर भी दीख रहे हैं ॥२६॥

यथातथाप्यस्तु किन्तु योगार्थो न विरुध्यते ।
ध्यानं हि सफलं सच्चिद्ब्रह्मणः श्रुतिषु श्रुतेः ॥२७॥

भुवरादि लोक सत्य हो या न हो सर्वथापि योगार्थ अविरुद्ध है। और श्रुत्युक्त होनेसे सच्चिद्रूपेण ब्रह्मध्यान भी सफल है ॥२७॥

भाष्य-एतदुक्तं भवति

व्याहृत्यर्थं समाख्याय व्याहृतिप्रणवैः सह ।
मन्त्रस्य योऽर्थो भवति संग्रहात्सोऽधुनोच्यते ॥२८॥

व्याहृतियोंका अर्थ बताकर व्याहृति एवं प्रणवसे सहित गायत्री मन्त्रका अर्थ संग्रहरूपसे अब कहते हैं ॥२८॥

भाष्य-लोकस्वरूपं तदोंकारपदवाच्यं ब्रह्मैवात्मनोऽस्य सच्चिद्रूपस्वभावादिति ।

लोकस्वरूपं यत्सच्चिदानन्दाद्यात्मदर्शितम् ।
ॐकारपदबोध्यं तद् ब्रह्म पादद्वयेरितम् ॥२९॥

भूरादि लोकका स्वरूप जो सच्चिदानन्दादि है वही ॐकारपदबोध्य ब्रह्म है जो दो पादोंमें बताया ॥२९॥

स्वरूपमात्मनोऽस्यैतदन्यपादेन दर्शितम् ।
सच्चिद्रूपस्वभावत्वादात्मनः प्रत्यगात्मनः ॥३०॥७४७॥

(भूरादि लोकका स्वरूप जो सच्चिदानन्दादि है वही ओंकार पदवाच्य है) इस आत्माका भी स्वरूप वही अन्त्यपादमें दिखाया। क्योंकि आत्मा अर्थात् प्रत्यगात्मा सच्चिदानन्दरूप है ॥३०॥७४७॥

न स्वं जन्मोत वा मृत्युः शक्यः स्वेनैव वीक्षितुम् ।
परात्मा न परेणेक्ष्य आत्मा तेन सदात्मकः ॥३१॥

अपनी उत्पत्ति और अपना नाश स्वयं नहीं देख सकते। असत्का सद्भाव उत्पत्ति है। असत्व को स्वयं असत् होकर कैसे देखेंगे? तथा नाश स्वयं न होनेसे कैसे देखेंगे? दूसरेके लिये दूसरा आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है। अतः उत्पत्ति विनाश आत्माका अप्रामाणिक हुआ ॥३१॥

कृतनाशाकृताभ्येतिप्रसङ्गाच्च सदात्मकः ।
विशिष्टोऽपि सदात्मा चेच्छुद्धस्तु नितरां तथा ॥३२॥

यदि आत्मा अनित्य है तो कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष भी होगा। यदि कहें की शुद्ध आत्मामें पुण्यपापादि नहीं है। अंतःकरणादिसे विशिष्टमें है तो उत्तर है कि विशिष्टको भी नित्य सत् मानना होगा तो शुद्ध की बात ही क्या है ॥३२॥

जाग्रदादिष्ववस्थासु चैतन्यमनुवर्तते ।
तत्तदर्थेक्षणात्तस्य चिद्रूपत्वं ततः स्थितम् ॥३३॥

जाग्रदादि तीनों अवस्थाओंमें चैतन्यकी अनुवृत्ति होती है। क्योंकि जाग्रतमें स्थुल घटादिको, स्वप्नमें स्वाप्न गजादिको और सुषुप्तिमें अपनी अज्ञता आदिको वह देखता है। अतः वह चिद्रूप है ॥३३॥

आयान्ति यान्ति सर्वेऽर्था वृत्तिद्वारा चिदात्मनि ।
यथा नाटकदीपेऽर्थास्तस्माच्चिद्रूपतात्मनः ॥३४॥

चिदात्मप्रकाश नित्य प्रकाशित हो रहा है उसमें सभी घटगृहादि पदार्थ वृत्तिद्वारा आ रहे हैं, जा रहे हैं। यही अर्थोंका प्रकाश और अप्रकाश है। जैसे नाटकदीप या सिनेमा प्रकाशमें छाया के द्वारा नटादि आ रहे हैं, जा रहे हैं। अतः आत्मा चिद्रूप है ॥३४॥

पुत्रवित्तादितः प्रेयानात्मेत्यानन्दलक्षणः ।
नासुखात्मनि हि प्रेमा क्वचिदप्यवलोक्यते ॥३५॥७५२॥

आत्मा पुत्रवित्तादिसे अधिक प्रिय है। पुत्रात्प्रेयो वित्तात् प्रेयः। असुख वस्तुमें प्रेम कहीं देखनेमें नहीं आता ॥३५॥७५२॥

सुषुप्तौ नैव विषयाः शब्दस्पर्शादिलक्षणाः ।
सर्वत्यागात्तथाप्येव सुखमात्मसुखं हि तत् ॥३६॥

सुषुप्तिमें शब्दस्पर्शादि सकल विषयत्याग होनेपर भी जो सुख हो रहा है वह आत्मसुख ही है ॥३६॥

समाधौ परमानन्दः स्वरूपानन्द एव सः ।
तत्र सर्वनिरोधेत नान्यानन्दः प्रसज्यते ॥३७॥

समाधिमें जो परमानन्द होता है वह स्वरूपानन्द ही है। क्योंकि वहां सर्वनिरोध हो गया है ॥३७॥

सच्चिदानन्द आत्मैव सर्वानुभवगोचरः ।
शास्त्रसिद्धं तथा ब्रह्म स्वरूपैक्यं तयोस्ततः ॥३८॥

इस प्रकार यह आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है यह सर्वानुभव गोचर होनेसे सिद्ध है। ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है यह बात शास्त्रसिद्ध है। इसप्रकार लक्षणैक्य होनेसे जीव और ब्रह्मका स्वरूपैक्य है ॥३८॥

देवेन भर्गसा वैषामभेदान्वयिता भवेत् ।
लोकस्वरूपं तद्ब्रह्मेत्येव तेनाह भाष्यकृत् ॥३९॥

भूर्भुवः स्वः आदिसे जो सच्चिदानन्द आदि अर्थ प्राप्त हुआ उनका देवस्य के साथ या भर्गः के साथ अभेदान्वय है। यही लोकस्वरूपं तद्—ब्रह्म इससे भाष्यकारने कहा।

नन्वभेदान्वये षष्ठ्या भाव्यं किं वा द्वितीयया ।
सत्यमव्ययशब्दत्वात्तल्लोपान्नासमञ्जसम् ॥४०॥७५७॥

यदि अभेदान्वय है तब देव विशेषण हो तो षष्ठी होनी चाहिये। भर्गस्का विशेषण हो तो द्वितीया होनी चाहिये। यह बात ठीक है। किन्तु सभी अव्यय होनेसे सुप् का लुक् (लोप) हो गया अतः कोई हानि नहीं ॥४०॥७५७॥

नाव्यये जनसत्ये द्वे न द्वितीयापि वा जने ।
सत्यं सुश्छन्दसि सुपां भवतीत्युपपद्यते ॥४१॥

परंतु जनपद तथा सत्यपद ये दो अव्यय नहीं हैं। सत्यंको द्वितीया मानकर भर्गः के साथ अन्वय करें तो भी जनः में द्वितीया भी नहीं है। इस शंकाका समाधान यह है कि "सुपां सुलुक्" इस सूत्रसे षष्ठीके स्थानमें या द्वितीयाके स्थानमें सु आदेश करनेसे उपपन्न हो जायेगा। अन्य किसी शब्दमें सन्देह हो तो वहां पर भी यही उत्तर है ॥४१॥

अन्ये सर्वेऽपि रेफान्ताः अव्ययाः सत्यवर्जिताः ।
सत्यं मान्तो व्याहृतिषु तथेत्याहुर्मनीषिणः ॥४२॥

दूसरे विद्वान् यह मानते हैं कि व्याहृतिके रूपमें पढ़े गये भूः आदि सभी रेफान्त अव्यय ही है। केवल सत्यं यह मान्त अव्यय है। व्याहृतिसे अतिरिक्त स्थलमें ही जनलोक, सत्यलोक इत्यादि प्रयोग हैं ॥४२॥

ॐकारवाच्यं भूरादि यत्तस्येत्यन्वयोऽथवा ।
वाक्यभेदो महावाक्ये यत्तदोः प्रागपोदितः ॥४३॥

अथवा ॐकारवाच्य भूरादि है सद्रूपादि है ऐसे सविताके भर्गको इसप्रकार योजना करनी चाहिये। यत् और तत् होनेपर खण्डवाक्यमें वाक्यभेद भले हो, पर महावाक्यमें नहीं होता यह पहले कहा जा चुका है ॥४३॥

भाष्य-अथ भूरादयः सर्वे लोका ॐकारपदवाच्याः

अथ रुढ्यर्थपक्षेऽपि लोका भूरादयोऽखिलाः ।
ओंकारपदवाच्याः स्युरकारार्थो यतो विराट् ॥४४॥

रूढि अर्थपक्षमें भी भूर्भुवः आदि सभी लोक ॐ कारपदवाच्य हैं। क्योंकि ॐमें अकारका विराट् अर्थ है। उसमें सभी लोक आ जाते हैं ॥४४॥

ॐभूः ॐभुव इत्येवं प्रत्येकमत एव हि ।
सम्बध्यतेऽयमोंकारः सर्वेणान्वयसंभवात् ॥४५॥७६२॥

अत एव प्रत्येकके साथ ॐ का सम्बन्ध भी किया जाता है। जैसे ॐ भूः ॐ भुवः इत्यादि। घटो द्रव्यं पटो द्रव्यं के समान भूः ॐ भुवः ॐ ऐसा अन्वय संभव है ॥४५॥

न चावयवमात्रं ते विराज इति सांप्रतम् ।
ज्योतींषि विष्णुर्भुवनान्यपि विष्णुरिति स्मृतेः ॥४६॥

पूर्वपक्ष–'अ' का विराट् अर्थ है। विराट् का केवल अवयव भूरादि लोक है। अवयवमें अवयवीका व्यवहार नहीं होता। हस्तो देवदत्तः पादो देवदत्तः ऐसा प्रयोग नहीं होता। उत्तर–अवयव में भी विराट्त्वादि कार्य है। जैसे ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः इत्यादि स्मृतियोंमें (विष्णु पुराणादिमें) प्रयोग किया है ॥४६॥

भाष्य-ब्रह्मात्मकाः

पादद्वयसमाख्येय-ब्रह्मरूपाश्च ते मताः ।
सर्वं हि खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति तच्छ्रुतेः ॥४७॥

दो पादोंमें तत्तत्पदोंसे तथा वाक्यसे वक्तव्य ब्रह्मस्वरूप भी ये लोक हैं। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" इस प्रकार लोकादिको ब्रह्मरूप बतानेवाली श्रुति है ॥४७॥

भाष्य-न तद्व्यतिरिक्तं किंचिदस्तीति व्याहृतयः सर्वात्मकब्रह्मबोधिकाः ।

न ब्रह्मव्यतिरिक्तं हि किंचिदप्यस्ति कुत्रचित् ।
सर्वात्मकब्रह्मबोधकर्यो व्याहृतयोऽप्यतः ॥४८॥

ब्रह्मसे व्यतिरिक्त कहीं भी कुछ भी नहीं है। अतः भूरादि सभी ब्रह्मस्वरूप है। अतएव व्याहृतियां भी ब्रह्मबोधक ही हैं ॥४८॥

यद्वा न सच्चिदानन्दभिन्नं किंचन कुत्रचित् ।
ओमर्थब्रह्मरूपास्ते तस्मात्ता ब्रह्मबोधिकाः ॥४९॥

अथवा व्याहृतिके अर्थ सत् चित् आदि या भूरादि लोकसे व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं है। उन्हें ॐकारपदवाच्य ब्रह्मरूप बताया तो व्याहृतियोंका सर्वात्मक ब्रह्मबोधनमें तात्पर्य सिद्ध होता है।

भाष्य-गायत्री शिरसोऽप्ययमेवार्थः

प्राणायामे प्रयोक्तव्यं गायत्रीशिर ईरितम् ।
तस्यापि ब्रह्मपरता संप्रति प्रतिपाद्यते ॥५०॥७६७॥

प्राणायाममें प्रयोक्तव्य गायत्री शिरकी ब्रह्मपरता अब आगे बताने जा रहे हैं ॥५०॥

भाष्य-आप इति आप्नोतीति व्युत्पत्त्या व्यापकत्वमुच्यते
असुन्नन्तोऽयमाप्नोतेरापो व्यापकबोधकः ।
सान्तैकवचनान्तोऽयं बहुत्वेऽप्यर्थतुल्यता ॥५१॥

'आप' धातुका असुन् प्रत्ययान्त 'आपः' यह शब्द है। वह व्यापकत्व अर्थका बोधक है। यह सकारान्त एवं एकवचनान्त है। बहुवचनमें "आपः" शब्द लेनेपर भी व्युत्पत्तितः अर्थ एक ही है ॥५१॥

भाष्य-ज्योतिरिति प्रकाशरूपत्वं

द्योतते द्योततेऽनेन विद्युतो व्यद्युतद्यथा ।
द्युतेरिसस्तथादेर्जः प्रकाशो दिव्य उच्यते ॥५२॥

"द्युतेरिसंन्नादेश्च जः" इस वार्तिकसे द्युत धातुसे ज्योतिस् बना है। जो स्वयं द्योतित होता है, जगत् जिससे द्योतित होता है, सकृद्विभात विद्युत् जिसको बताया है, वह दिव्य प्रकाश ही ज्योति है ॥५२॥

भाष्य-रस इति सर्वातिशयत्वं

रसो वै स रसं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति पूरुषः ।
अत एव च सर्वाति-शायी रस इतीर्यते ॥५३॥

रसो वै सः । रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति इस श्रुतिमें आनन्द-साधक केवल रस बताया। अतः सर्वातिशायी ही रस है ॥५३॥

छान्दोग्ये तु गतित्वादेर्भूतानां पृथिवी रसः ।
इति क्रमाद् रसतम ॐकारः प्रतिपादितः ॥५४॥
तदभिन्नत्वतो ब्रह्म रसः सर्वातिशायनः ।
सर्वोत्पत्तिस्थितिलयाश्रयत्वादुपपादितः॥५५॥७७२॥

छान्दोग्यमें उद्गीथोपासनामें "एषां भूतानां पृथीवी रसः पृथिव्या आपो रसः" इत्यादि क्रमसे ॐकाररूपी उद्गीथको रसोंमें रसतम बताया। ओंकारा भिन्न होनेसे ब्रह्म सर्वातिशायी रस हो गया। वहां भाष्यमें रसका "गतिः परायणमवष्टम्भः" ऐसा अर्थ किया है। व्याख्यामें आचार्योंने तीनका सृष्टिस्थितिलय हेतुत्व अर्थ किया। सृष्टिस्थितिलयमूलमें सर्वातिशायी ब्रह्म है ही। अतः यहां सर्वातिशयत्व अर्थ बताया। रस निचोड़ निष्कर्ष होता है ॥५४-५५॥

भाष्य-अमृतमिति मरणादिसंसारनिर्मुक्तत्वम् ।

अमृतं मृत्युरहितं मृत्युः संसार ईरितः ।
तथा च भगवानाह मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥५६॥

अमृतंका मृत्युरहितं अर्थ होता है। मृत्यु आदि संसार ही है। भगवान् गीतामें "मृत्युसंसारवर्त्मनि" बताया है। अतएव सर्वसंसारवर्जित यही अमृतपदार्थ है ॥५६॥

उपाधिभेदमादाय पौनरुक्त्यनिवारणम् ।
ब्रह्मेति सर्वनिष्कर्षो व्याख्यातं भूर्भुवःस्वरोम् ॥५७॥

पुनरुक्तिका वारण उपाधिभेदको लेकर करना चाहिये। ब्रह्मपद तो सर्वार्थनिष्कर्ष है। "भूर्भुवः स्वरोम्" यह शेष गायत्रीशिरकी व्याख्या पहले कर चुके हैं अतः भाष्यकारने फिरसे नहीं की है ॥५७॥

अर्थतः शब्दतश्चैवं पौनरुक्त्यं स्थितं ननु ।
तन्नातिशयबोधार्थं पुनरुक्तेरपेक्षणात् ॥५८॥

भूर्भुवःस्वः ॐ इन चारोंकी तो शब्दसे तथा अर्थसे भी पुनरुक्ति स्पष्ट दीख रही है। यह पुनरुक्ति दोष नहीं है। अतिशयार्थ बतानेके लिये पुनरुक्तिकी आवश्यकता होती है ॥५८॥

अहो रूपमहो रूपमित्यादौ पुनरुक्तितः ।
अर्थातिशयबोधो हि जायमानो विलोक्यते ॥५९॥

अहो रूपम् अहो रूपं कहनेपर अतिशय रूपका बोध उत्पन्न होता है ॥५९॥

परमं सत् परा चिच्च पर आनन्द एव च ।
परं ब्रह्म च बोद्धव्यं चतुर्णां पुनरुक्तितः ॥६०॥७७७॥

भू का सत् अर्थ है। पुनरुक्तिसे परम सत्, भुवः की पुनरुक्तिसे परम चित्, स्वः की पुनरुक्तिसे परम आनन्द तथा ब्रह्मार्थक ॐ की पुनरुक्तिसे परम ब्रह्मका बोध होता है ॥६०॥

ॐकारः प्रथमोद्भूतो मुख्यः सर्वातिशायनः ।
मुहुर्मुहुस्तदावृत्तिर्जपादौ क्रियते ततः ॥६१॥

ॐकार प्रथम उद्भूत है, वेदोंमें मुख्य है। सर्वातिशायी है। अतः जपादिमें गायत्रीमें बारबार उसकी आवृत्ति की गयी ॥६१॥

माण्डूक्यादौ विशेषेण तद्व्याख्या विहितेत्यतः ।
तात्पर्यमात्रमत्राह संक्षेपात्तस्य भाष्यकृत् ॥६२॥

माण्डूक्यादिमें ॐकारकी व्याख्या विशेषरूपसे की है। इसलिये यहां भाष्यकारने संक्षेपसे तात्पर्यार्थमात्र कहा ॥६२॥

भाष्य-सर्वव्यापि सर्वप्रकाशकं सर्वोत्कृष्टं नित्यमुक्तमात्मरूपं सच्चिदानन्दात्मकं यदोंकारपदवाच्यं ब्रह्म तदहमस्मि ।

इति गायत्रीमन्त्रस्यार्थः ।

शिरः प्रतिपदार्थं च क्रमेणादाय संप्रति ।
गायत्रीमन्त्रवाक्यार्थमाह सर्वेति भाष्यकृत् ॥६३॥

आपो ज्योतिः इत्यादि प्रत्येक पदोंके अर्थको लेकर गायत्री मन्त्रका वाक्यार्थ भाष्यकार "सर्वव्यापि" इत्यादिसे कह रहें हैं ॥६३॥

सर्वव्याप्यखिलाभासं सर्वोर्ध्वं भववर्जितम् ।
सच्चिदानन्दमोंकारवाच्यं ब्रह्मास्म्यहं परम् ॥६४॥

सर्वव्यापक, सर्वावभासक, सर्वातिशायी, संसाररहित (नित्यमुक्त) सत् चित् आनन्द ॐकार पदार्थ परब्रह्म मैं हूं ॥६४॥

इतीत्यादि शिरोयुक्तगायत्र्यर्थोपसंहृतिः ।
कृत्स्नाभिप्रायतः कृत्स्नगायत्र्यर्थोपसंहृतिः ॥६५॥७८२॥

इति गायत्रीमन्त्रार्थः यह वाक्य अनुपदोक्त शिरोयुक्तगायत्र्यर्थका उपसंहार है और इतिसे पूर्वोक्त सकलपरामर्शके अभिप्रायसे अभी तक बताये समस्तगायत्र्यर्थकाभी उपसंहार है ॥६५॥७८२॥

भाष्य-गुहाशयब्रह्महुताशनेऽहंकर्तेदमंशाख्यहविर्हुतं सत् ।
विलीयते नेदमहं भवामीत्येष प्रकारस्त्वभिधीयतेऽत्र ॥१॥

अग्निना रूपयन् ब्रह्म हविषा दृश्यमेव च ।
बाधं दाहेन च गुहाशयेत्याद्याह भाष्यकृत् ॥६६॥

ब्रह्मको अग्निका रूपक देकर दृश्यको हविषका और दाहको बाधका रूपक देकर भाष्यकार प्रक्रियाको "गुहाशय" इत्यादिसे समझा रहे हैं ॥६६॥

गायत्री हवनीयाग्नौ बाह्ये वा मानसेऽथवा ।
गुहाशयब्रह्मभावं भावयेत् संयतेन्द्रियः ॥६७॥

दूसरा तात्पर्य यह है कि गायत्री होममें हवनीय अग्निमें चाहें वह बाह्य अग्नि हो, चाहे मानस अग्नि हो, संयतेन्द्रिय होकर हृदयाकाशस्थित ब्रह्मभावकी भावना करें ॥६७॥

हूयमाने हविष्येवमाज्यादौ भावयेत् सुधीः ।
अहं कर्तेति भावस्थमिदमंशं समाहितः ॥६८॥

इसी प्रकार होमा जा रहे घृतादि हविषमें इदमंशकी, जो अहंकर्ता इस भावमें स्थित है, भावना करें ॥६८॥

अहमित्यत्र भागौ द्वा-वहंकारश्चिदेव च ।
जडो भवत्यहंकारश्चितिश्चैतन्यलक्षणा ॥६९॥

'अहं' इस भावमें दो भाग हैं। एक अहंकारका है, दूसरा चितिका है। अहंकार जड होता है। चिति चेतन होती है ॥६९॥

तयोः परस्पराध्यासात् परिच्छिन्ना चितिर्भवेत् ।
अचेतनोऽप्यहंकारो भवेच्चेतनवत्ततः ॥७०॥७८७॥

दोनोंके अन्योन्याध्याससे अपरिच्छिन्न चिति परिच्छिन्नवत् हो जाती है। तथा अचेतन अहंकार चेतनवत् होता है ॥७०॥७८७॥

तप्तायस्यग्न्ययोर्द्वित्वं नेक्ष्यतेऽध्यासतो द्वयोः ।
अग्निगोल इति स्याद्धीस्तथाहमिति धीरपि ॥७१॥

तपे लाल लोहेमें अग्नि और लोहेका पार्थक्य या द्वित्व अन्योन्याध्यासके कारण नहीं दीखता। यह अग्निका गोला पड़ा है कहते हैं। जबकी गोला लोहेका है। वैसे अहंमें अहंकार और चैतन्यका पार्थक्य नहीं दीखता ॥७१॥

चिदहंकारयोरन्यो-न्याध्यासोऽयं दुरुद्धरः ।
मनो ममेतिवन्नैव ममाहमिति भण्यते ॥७२॥

चैतन्य और अहंकारका यह अन्योन्याध्यास मिटाना कठिन है। मम शरीरं, मम मनः आदिके समान मम अहं ऐसा कोई नहीं कहता ॥७२॥

अहंकारं तथात्मानं ब्रूत एकमहंपदम् ।
संसारमूलं तदिदमहन्त्वं प्रथमोत्थितम् ॥७३॥

एक ही अहं शब्द अहंकार तथा आत्मा दोनोंको कहता है। यह अहंकार प्रथमोत्पन्न है, संसार का मूल है ॥७३॥

हूयमानं तदेतच्च ब्रह्माग्नावग्निसाद् भवत् ।
विलीयतेऽपरिच्छिन्नस्वात्मभावप्रदीपिते ॥७४॥

जब इस जड अहंकारको चेतन अहं ब्रह्ममें जो अपरिच्छिन्नताकी भावनासे प्रदीपित है, होमा जाता है तब वह इन्धन (अहं) अग्निमय (ब्रह्ममय) होकर विलीन हो जाता है ॥७४॥

दृश्यात्मकमिदंकारमहन्त्वं विश्वमेव च ।
नैवास्म्यहं तु चिद्रूप इत्येतदिह वर्ण्यते ॥७५॥७९२॥

दृश्यरूप इदंकारास्पद अहंकार तथा विश्व मैं नहीं, मैं तो चिद्रूप हूं यही बात यहां गायत्रीमें वर्णित हुई है ॥७५॥७९२॥

भाष्य-यदस्ति यद् भाति तदात्मरूपं
नान्यत्ततो भाति न चान्यदस्ति ।
स्वभावसंवित् प्रतिभाति केवला
ग्राह्यं ग्रहीतेति मृषैव कल्पना ॥२॥
धीषु कर्मसु विद्यासु चोदितः साधनान्वितः ।
श्रवणादि विधायैव तत्त्वमर्थो विशोध्य च ॥७६॥७९३॥
ध्यानाद्विज्ञातवाक्यार्थो ज्ञानयज्ञेऽहमं दहन् ।
साक्षात्कृतात्मा गायत्र्या जीवन्मुक्तो भवेत् पुमान् ॥७७॥७९४॥

अब गायत्रीका सार आगे दिखाते हैं। धी अर्थात् कर्म और विद्यामें प्रचोदित पुरुष विवेकादि साधनसंपन्न हो श्रवणमननसे तत्पदार्थ तथा त्वंपदार्थका शोधन कर निदिध्यासनसे वाक्यार्थज्ञानरूप ज्ञान पाता है। उस ज्ञानयज्ञमें जडरूप अहंकारका दाह कर क्रमसे गायत्रीसे आत्म-साक्षात्कार करते हुए वह जीवन्मुक्त होता है ॥७६-७७॥७९३-७९४॥

योऽस्ति भाति स आत्मैव नान्यदस्ति न भाति च ।
गाह्यग्रहीतृभावोऽयं मृषेत्यात्मैकसंस्थितः ॥७८॥७९५॥
आप्रारब्धविमोक्षं हि पश्यन् व्यवहरंस्तथा ।
स्वस्थो विदेहकैवल्यं लभते परमार्थवित् ॥७९॥७९६॥

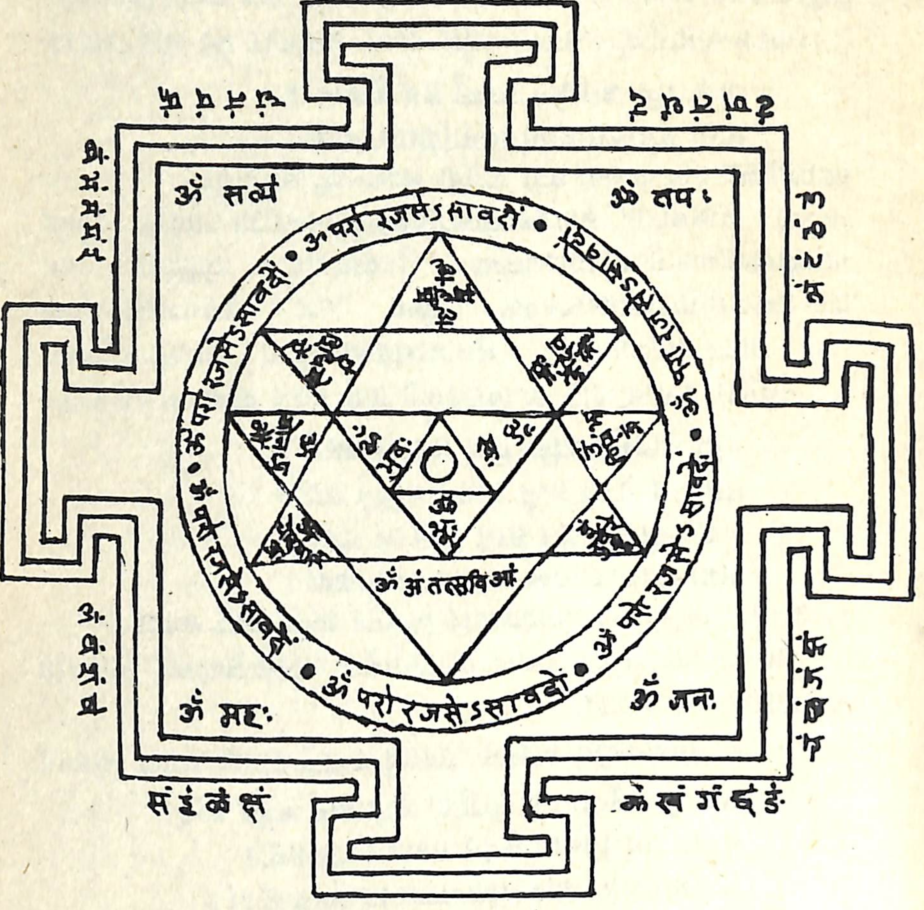
यह है, भास रहा है इस प्रकार अनुभवमें जो आता है वह आत्मा ही है। दूसरा कोई पदार्थ न अस्तित्ववान् है और न भासमान है। यह ग्राह्य है, यह ग्रहणकर्ता है इत्यादि भेदभाव तो मिथ्या है। इस प्रकार सर्वप्रपञ्चनिषेधसे जो स्वस्थ (आत्मस्थ) हो गया ऐसा परमार्थवेत्ता पुरुष

प्रारब्धसमाप्तिपर्यन्त मृषा रूपसे ही भेदप्रपञ्चको देखते हुए और व्यवहार करते हुए अन्तमें विदेह कैवल्य को पाता है ॥७८-७९॥७९५-७९६॥

इति श्रीकाशिकानन्दयतिना कृतिना कृतम् ।
सतां मोदाय भवतु गायत्रीभाष्यवार्तिकम् ॥७९७॥
द्वीपवेदनभोऽक्ष्यब्दे (२०४७) नवम्यां फाल्गुने सिते
पूर्णतामगमच्चेदं वार्तिकं शनिवासरे ॥७९८॥

इति श्रीकाशिकानन्दगिरिकृतौ गायत्रीभाष्यवार्त्तिकं संपूर्णम्

●


ॐ सत्यं
ॐ तपः
ॐ महः
ॐ जनः
ॐ परो रजसेऽसावदों
ॐ परो रजसेऽसावदों
ॐ परो रजसेऽसावदों
ॐ परो रजसेऽसावदों

गायत्रीपुरश्चरणपद्धतिः

सावित्रीं सवितारं च गुरूंश्च प्रणमन्मुहुः।
गायत्रीपद्धतिं वक्ष्ये संक्षिप्ताचार्यवाङ्मयीम् ॥१॥
यथोक्तमर्थं विज्ञाय कुर्वन् ब्रह्मात्मभावनाम्।
गायत्रीं समुपासीनो विशुद्धो मुक्तिभाग् भवेत् ॥२॥

तथाच भगवत्पादीयं वचनम्- एवमर्थं स्मरन् ब्रह्माहमस्मीति भावयन् प्राणायामत्रयं कृत्वेत्यादि।

साधको ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय प्रक्षालितमुख आसने उपविश्य स्वशिरसि सहस्रारकमलकर्णिकायां योगपीठोपरि निजगुरुं ज्ञानमुद्राकरं ध्यायेत्।

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
नमोऽस्तु गुरवे तस्मै गायत्रीरूपिणे सदा।
यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसारसंज्ञकम् ॥

'श्रीगुरो क्षमस्व' इति च विसर्जयेत्। ततो मूलेन प्राणायामत्रयं कुर्यात्। ततो गायत्रीयोगध्यानम् - मूलाधारबिन्दोरुर्ध्वस्थां कुण्डलिनीमुत्थाप्य शिरःस्थिताधोमुखसहस्रदलकमलं नीत्वा तत्र चन्द्रमण्डलनिःसृतया गायत्रीवर्णात्मकामृतधारयाऽऽसिच्य पुनर्मूलाधारं नयेदिति। अथ मन्त्रयोगः-मूलाधाराद् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तमुदयमानदिनकराभां गायत्रीं विभाव्य तदात्मानमात्मानं मन्येत। ततो गायत्रीं किंचिज्जपित्वा प्रार्थयेत्-

प्रातः प्रभृतिसायान्तं सायादिप्रातरन्ततः।
यत्करोमि जगद्योने तदस्तु तव पूजनम् ॥

साधक ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर आँख धोकर आसनपर बैठे और "अज्ञान-तिमिरान्धस्य" इत्यादि कहकर गुरुध्यान करें। उसके बाद मूलसे (गायत्रीसे) तीन प्राणायाम करें। फिर मूलाधारसे कुण्डलिनी को ध्यानद्वारा सहस्रार ले जाकर वहां चन्द्रमण्डलसे निःसृत अमृतधारासे सींचकर पुनः मूलाधार पहुँचायें। फिर मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त तेजोमय गायत्रीका ध्यान करते हुए अपनेको तन्मय समझें। साथही गायत्रीका थोड़ा जप भी करलें।

ततः-

समुद्रमेखले देवि पर्वतस्तनमण्डले।

विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

इति पृथिवीदेवीं प्रार्थ्य स्वरानुसारं पादं निक्षिप्य नित्यक्रियां मलविसर्जन-दन्तधावनादिं कृत्वा मुखं प्रक्षाल्याचम्य स्नानमाचरेत्। तत्र-

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।

नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु॥

इतिमन्त्रेणाङ्कुशमुद्रया सूर्यमण्डलात्तीर्थान्यावाह्य गायत्र्याष्टधाभिमन्त्र्य तत्र गायत्रीं ध्यात्वा तच्चरणसृतं तीर्थं मत्वा स्नानमाचरेत्। गायत्र्यैव च त्रिधा जलाञ्जलीन् स्वशिरिसि दद्यात्। ततो मूलेन त्रिराचम्य मूलेनैव देवीं त्रिस्तर्पयित्वा तां हृदये गृहीत्वा तीर्थानि सूर्यमण्डलं गतानि विभावयेत्। तत आचम्य तिलकं कुर्यात् मूलेन। ततः सन्ध्यावन्दनम्।

सन्ध्यावन्दनम्

ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं स्वाहा

ॐ भर्गो देवस्य धीमहि स्वाहा

ॐ धियो यो नः प्रचोदयात् स्वाहा

इति त्रिराचम्य मूलेन हस्तौ प्रक्षाल्य दर्भपवित्रधारणं कुर्यात् सामान्यतो वा -ॐ केशवाय नमः ॐ माधवाय नमः ॐ नारायणाय नमः इति त्रिराचम्य ॐ गोविन्दाय नमः इति हस्तप्रक्षालनम्। तदनन्तरं प्राणायामः।

इसके बाद "समुद्रमेखले..."इत्यादि मन्त्र बोलकर पृथिवीको प्रणामकर मलविसर्जनादि नित्यक्रिया करें। स्नानके समय गङ्गे च यमुने चैव..इत्यादि मन्त्र बोलकर अंकुशमुद्रासे सूर्यमण्डलसे समस्त तीर्थोंका आवाहन जलमें करें और आठ बार गायत्री बोलकर उस जलको गायत्रीचरणोत्पन्न तीर्थ समझते हुए स्नान करें। और गायत्री बोलकर अपने मस्तकमें तीन बार जलाञ्जलि दें। फिर मूलसे तीन आचमन तथा मूलसे गायत्री देवी को तीन तर्पण करें। फिर गायत्री को अपने हृदयमें धारण करें। और तीर्थोंको सूर्य-मण्डल भेजें। फिर मूलसे आचमन और तिलक कर सन्ध्यावन्दन प्रारंभ करें। प्रथम गायत्रीके तीन पादों से तीन आचमन करें। ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं स्वाहा इत्यादि तीन आचमन हैं। सामान्यरूपसे ॐ केशवाय नमः इत्यादि तीन आचमन करनेसे भी अंगपूर्ति मानते हैं। इसके बाद प्राणायाम करें,

तत्र प्रथमं सव्याहृतेः सशिरस्काया गायत्र्या जपो ध्यानं च ।

ॐ प्रणवस्य परब्रह्म ऋषिः। देवी गायत्री छन्दः, परमात्मा देवता, अं बीजं, उं शक्तिः, मं कीलकम्।

प्रणवमात्राणां वसिष्ठविश्वामित्रभरद्वाजा ऋषयः, गायत्री-त्रिष्टुब् जगत्यश्छन्दांसि, ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा देवताः।

सप्तव्याहृतीनां विश्वामित्र-जमदग्नि-भारद्वाज-गौतमा-अत्रि - वशिष्ठ - कश्यपा ऋषयः, गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यश्छन्दांसि, अग्नि-वायुसूर्यबृहस्पतिवरुणेन्द्रविश्वेदेवा देवताः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाश-प्राणात्मानो-बीजानि, श्री-कीर्ति-माया-धृति-मेधा-स्मृति-वाचः शक्तयः, भूर्लोक-भुवर्लोक-स्वर्लोक-महर्लोक-जनलोक-तपोलोक-सत्यलोकाः कीलकानि।

ॐ गायत्र्या विश्वामित्र ऋषिः, गायत्री छन्दः, सविता देवता, शिरोमन्त्र-स्य ब्रह्मा ऋषिः, आसुरी गायत्री छन्दः, परमात्मा देवता, पापोपशमनार्थे प्राणायामे च विनियोगः।

(१) ॐ अं नमः (नाभौ)	(६) ॐ स्वः नमः (गुह्ये)
(२) ॐ उं नमः (हृदये)	(७) ॐ महः नमः (नाभौ)
(३) ॐ मं नम (मुखे)	(८) ॐ जनः नमः (हृदये)
(४) ॐ भूः नमः (पादयोः)	(९) ॐ तपः नमः (कण्ठे)
(५) ॐ भुवः नमः (जान्वोः)	(१०) ॐ सत्यं नमः (मूर्ध्नि)

इति दशस्थानेषु न्यस्य

ॐ तत्सवितुर्ब्रह्मात्मने अङ्गुठाभ्यां नमः	हृदयाय नमः
ॐ वरेण्यं विष्णवात्मने तर्जनीभ्यां नमः	शिरसे स्वाहा
ॐ भर्गो देवस्य रुद्रात्मने मध्यमाभ्यां नमः	शिखायै वषट्
ॐ धीमहि सत्यात्मने अनामिकाभ्यां नमः	कवचाय हूं
ॐधियो यो नो ज्ञानात्मने कनिष्ठिकाभ्यां नमः	नेत्रत्रयाय वौषट्
ॐ प्रचोदयात् परब्रह्मात्मने करतलपृष्ठाभ्यां नमः	अस्त्राय फट्

ॐ भूर्भुवः स्वरों परोरजसेऽसावदोमिति दिग्बन्धः

तदर्थ प्रणवका, तीन मात्राओंका एवं सात व्याहृतियोंका एवं गायत्री और शिरोमन्त्रका भी ऋष्यादिन्यास कर "ॐ अं नमः" इत्यादि प्रणव मात्राओंका और व्याहृतियोंका नाभि आद स्थानोंमें न्यास करें। इसके बाद गायत्री के भार्गो से "ॐ तत् सवितुर्ब्रह्मात्मने अङ्गुष्ठाभ्यां नमः" इत्यादि कहकर करन्यास तथा हृदयादिन्यास एवं दिग्बन्ध करें।

ध्यानम्-

हृदयकमलमध्ये सूर्यबिम्बासनस्थं
निखिभुवनबीजं सृष्टिसंहारकेतुम् ।
अनतिशयसुखाढ्यं ज्योतिषं हंसरूपम्
सकलनिगमबीजं चिन्तयेदोंस्वरूपम् ॥

इति ध्यात्वा मानसोपचोरैः पूजयित्वा शतं दश वा जपित्वा प्राणायामं कुर्यात्।

ॐभूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐतपः ॐ सत्यं ॐ भूर्भवः स्वः ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् इति ब्रुवन्नर्थध्यानपूर्वकं प्राणायामं कुर्यात्।

अथ देशकालौ (विष्णोराज्ञया प्रवर्तमाने श्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे, भरतखण्डे इत्यादि) संकीर्त्य ममोपात्तदुरितक्षयद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं प्रातःसन्ध्यामुपासिष्ये इति संकल्प्य मार्जनं कुर्यात्।

आपो हिष्ठेति तृचस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः, गायत्री छन्दः आपो देवता, मार्जने विनियोगः।

आपो हि ष्ठा मयो भुवः (१) ता न ऊर्जे दधातन (२)
महेरणाय चक्षसे (३) यो वः शिवतमो रसः (४)
तस्य भाजयतेह नः (५) उशतीरिव मातरः (६)
तस्मा अरं गमावहे (७) यस्य क्षयाय जिन्वथ (८)
आपो जनयथा च नः (९)

इति नवधा मार्जयित्वा अघमर्षणम् ।

ऋतं चेति तृचस्य मधुच्छन्दसोऽघमर्षण ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः भाववृतं दैवतम्। अघमर्षणे विनियोगः।

तदनन्तर "हृदयकमलमध्ये" ऐसा ध्यान कर मानसोपचारोंसे पूजा कर सौ बार या दस बार जपकर प्राणायाम करें।

ॐ भूः ॐभुवः इत्यादि पूर्ण गायत्री एक बार बोलकर पूरक, चार बार बोलकर कुम्भक तथा दो बार बोलकर रेचक इस क्रमसे तीन प्राणायाम करें।

इसके बाद देशकालकथनपूर्वक सन्ध्यावन्दन का संकल्प पढ़ें। फिर आपो हिष्ठा मयो भुवः इत्यादि नौ मन्त्रखण्डोंसे नौ बार मार्जन कर ऋतं च सत्यं

"ॐ ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत। ततः समुद्रोऽर्णवः। समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरोऽजायत। अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः। "इति वामनासापुटादाकृष्य पापपुरुषं बहिरुत्सारयेत्।

द्रुपदादिवेत्यस्य अश्विसरस्वतीन्द्रा ऋषयः, अनुष्टुप् छन्दः, आपो देवता अघमर्षणशिरःसेके विनियोगः।

"ॐ द्रुपदादिव मुमुचमानः स्विन्नः स्नातो मलादिव पूतं पवित्रेणैवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः" इति शिरोमार्जनं कुर्यात्।

अथास्त्रमन्त्रः

अस्य श्री-अस्त्रमन्त्रस्य सवितृभार्गव ऋषिः गायत्री छन्दः सविता देवता पापच्छेदने विनियोगः।

ॐ आवायव्य अङ्गुष्ठाभ्यां नमः	हृदयाय नमः
ॐ यावायव्या तर्जनीभ्यां नमः	शिरसे स्वाहा
ॐ व्या य वाया मध्यमाभ्यां नमः	शिखायै वषट्
ॐ व्य य वा आ अनामिकाभ्यां नमः	कवचाय हूं
ॐऔ र्वा य व्य कनिष्ठिकाभ्यां नमः	नेत्रत्रयाय वौषट्
ॐ या वा य व्या करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः	अस्त्राय फट्

"आ वा य व्य या वा य व्या व्यायवाया व्ययवाआ और्वायव्य यावायव्या ॐ आवायव्य यावाय व्योऽसि पाप्मानं मे छिन्धि सावित्रोऽसि पाप्मानं मे छिन्धि"

एवं वाः-

"आ वा यव्य यावायव्या और्वायव्यों हरोऽसि
पाप्मानं मे विध्य ब्रह्म गायत्र्या मम पापमवधुन्वताम्"
गच्छ देवि सुरश्रेष्ठे कृत्या त्वं योगरूपिणी
दुष्टान् म्लेच्छान् राक्षसादीनागमाञ्छाम्बरांस्तथा

च इत्यादि बोलते हुए वाम नासिकासे जलसमीप वायु अन्दर लेकर दक्षिण नासिकासे पापपुरुष को बाहर हस्तगत जल में निकाल दें। उस जलको संमुखमें कल्पित वज्रशिलापर पटकते हुए पापपुरुषको नष्ट समझें।

इसके बाद "द्रुपदादिव......" इत्यादिसे शिरोमार्जन करें। फिर अंगन्यासादिपूर्वक "आवायव्य...." इत्यादि अस्त्रमन्त्र बोलकर "गच्छ देवि" इत्यादिमन्त्रसे गायत्रीरूपी अस्त्रदेवीको भेजकर दुष्टनाश करें।

संत्रासय प्रयत्नेन सुरसंरक्षणं कुरु
ॐ यां कल्पयन्ति नोऽरयः क्रूरां कृत्यां वधूमिव
त्यादचोप्र नः यो यो धिहिम धीस्य वदेर्गोभ
यं णि रे र्वे तु वि सत् त वःसु वः भु भूरोम्
तां ब्रह्मणाऽपनिर्णुद्य प्रत्या कर्तारमृच्छतु
हुन हुन हुं फट् इति ब्रह्मास्त्रम् ।
ॐ शीर्षण्वर्ती कर्णवर्ती विष्णुरूपां भयंकरीम् ।
प्रचोदयान्नो धियो धीमहि देवस्य
भर्गो वरेण्यं सवितुस्तत्
यः प्राहिणोदिहाद्य त्यां वित त्वं योगजासुभिः
हन हन हुं फट् । इत्याग्नेयास्त्रम् ।
ॐ येन दिष्टेह वदसि प्रतिकूलमघायिनि
धियो यो नः प्रयोदयात् भर्गो देवस्य धीमहि
तत्सवितुर्वरेण्यं
तमेवेतो निवर्त्योष अस्मानृच्छेः अनागसः
हन हन हुं फट् इति नारायणास्त्रम् ।
ॐ अभिवर्तस्व कर्तारं निरस्ताऽस्माभिरोजसा
दों वसा सेज़र रोपत्याद चो प्र नः
यो यो धिहिम धी स्यवदेर्गोभ
यं णिरेर्वतुविसत्तवःसुवःभुभूरोम्
आयुरस्य निकृन्तस्व प्रजां च पुरषादिनि
हन हन हुं फट् । इति पाशुपतास्त्रम् ।
ॐ यस्त्वां कृत्ये चकारेह त्वं तं गच्छ पुनर्णवे
आवायव्य यावायव्या व्यायवाया व्ययवा आ
और्वायव्य यावायव्या
अरातीन् कृत्ये नाशय सर्वाश्च यातुधानीः
क्षिप्रं कृत्ये निवर्तस्व हन हन हुं फट् । इति वायव्यास्त्रम् ।

"ॐ यां कल्पयसि" इत्यादि मन्त्रोंसे ब्रह्मास्त्र ॐ शिर्षण्वर्तीं से आग्नेयास्त्र ॐ येन दिष्टेह" से नारायणास्त्र ॐ अभिवर्तस्व से पाशुपतास्त्र यस्त्वा कृत्ये..से वायव्यास्त्र भेजकर सर्वपापदुष्टादि हरण करें। इसके बाद "उत्तिष्ठ

ॐ ब्रह्मणे नमः ॐ परोरजसे ऽसावदोम्। असावादित्यो ब्रह्म

ॐ उत्तिष्ठ देवि गन्तव्यं पुनरागमनाय च

अर्घ्येषु देवि गन्तव्यं प्रविश्य हृदयं मम

अथ गायत्र्या त्रिरर्घ्यं रवये दद्यात्। तत्र-

गायत्र्या गाधिजो विश्वामित्र ऋषिः, गायत्री छन्दः, सविता देवता, रं बीजं, णिं शक्तिः, यं कीलकम् अर्घ्यदाने विनियोगः।

ॐ भूः तत्सवितुर्बह्मात्मने अङ्गुष्ठाभ्यां नमः हृदयाय नमः

ॐ भुवः वरेण्यं विष्ण्वात्मने तर्जनीभ्यां नमः शिरसे स्वाहा

ॐ स्वः भर्गोदेवस्य रुद्रात्मने मध्यमाभ्यां नमः शिखायै वषट्

ॐ भूः धीमहि सत्यात्मने अनामिकाभ्यां नमः कवचाय हूं

ॐ भुवः धियो यो नो ज्ञानात्मने कनिष्ठिकाभ्यां नमः नेत्रत्रयाय वौषट्

ॐ स्वः प्रचोदयात् परब्रह्मात्मने करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः अस्त्राय फट्

ॐ भूर्भुवः स्वरों परो रजसेऽसावदोमिति दिग्बन्धः।

ततो गायत्रीमन्त्रेण त्रिरर्घ्यं दद्यात्। ततः ॐ घृणिः सूर्यआदित्योमित्यष्टाक्षरं सौरमन्त्रं जपेत्। तत अस्त्रोपसंहरणम्।

अस्य श्रीअस्त्रोपसंहरणमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः देवी गायत्री छन्दः श्रीत्रिमूर्तिरूपी परमात्मा देवता अं बीजं उं शक्तिः मं कीलकम्। अस्त्रोपसंहरणार्थे विनियोगः।

ॐॐ अघोरास्त्राय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः हृदयाय नमः

ॐ शं शाङ्‌र्गास्त्राय तर्जनीभ्यां नमः शिरसे स्वाहा

ॐ ब्रं ब्रह्मास्त्राय मध्यमाभ्यां नमः शिखायै वषट्

ॐ नां नारायणास्त्राय अनामिकाभ्यां नमः कवचाय हूं

ॐ पां पाशुपतास्त्राय कनिष्ठिकाभ्यां नमः नेत्रत्रयाय वौषट्

ॐ सं सुदर्शनास्त्राय करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः अस्त्राय फट्

ॐ शं शरभास्त्रायेति दिग्बन्धः

देवि" इत्यादिसे भगवतीको लेकर गायत्रीसे सूर्यको तीन अर्घ्य दें (प्रत्येक अर्घ्य से पूर्व पूर्वोक्त अस्त्रमन्त्र बोलनेकी भी प्रथा है) ॐ ब्रह्मणे नमः ॐ परोरजसेऽसावदों असावादित्यो ब्रह्म इतना प्रत्येक अर्घ्यके साथ बोलें ऐसी भी मान्यता है। ऋष्यादिन्यास, करन्यास एवं हृदयादिन्यासकर गायत्री मन्त्रसे तीन अर्घ्य सूर्यको दिये जाते हैं। उसके बाद ॐ घृणिः सूर्य आदित्य

ॐ सोऽहमर्को महाज्योति (हमुज्ज्योति) रर्कज्योतिरहं शिवः
आत्मज्योतिरहं शुक्लः शुक्लज्योतीरसोऽस्म्यहम्
इत्यस्त्राण्युपसंहृत्य
"ॐ प्रातर्देवीमदितिं जोहवीमि मध्यंदिन उदिता सूर्यस्य
राये मित्रावरुणा सर्वतातेले तोकाय तनयाय शंयोः" इत्यृचं
ॐ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम् ।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम् ॥

इति च मन्त्रद्वयं पठेत्।

तर्पणम्

तत आचम्य तर्पणं कुर्यात्।

अस्य श्री गायत्रीमन्त्रस्य विश्वामित्र ऋषिः। गायत्री छन्दः सविता देवता तर्पणे विनियोगः

(१) ॐ भूः पुरुषं तर्पयामि (९) ॐ सन्ध्यां तर्पयामि
(२) ॐ ऋग्वेदं तर्पयामि (१०) ॐ कौमारीं तर्पयामि
(३) ॐ मण्डलं तर्पयामि (११) ॐ ब्राह्मीं तर्पयामि
(४) ॐ हिरण्यगर्भं तर्पयामि (१२) ॐ उषसं तर्पयामि
(५) ॐ आत्मानं तर्पयामि (१३) ॐ निमृजं तर्पयामि
(६) ॐ गायत्रीं तर्पयामि (१४) ॐ सर्वार्थसिद्धिकरीं तर्पयामि
(७) ॐ वेदमातरं तर्पयामि (१५) ॐ सर्वमन्त्राधिपतिं तर्पयामि
(८) ॐ सांकृतिं तर्पयामि (१६) ॐभूर्भुवः स्वः पुरुषं तर्पयामि

द्विराचम्य, अथ अन्तर्यागपूर्वक जपः। तत्रासनम्।

पृथ्वीति मन्त्रस्य मेरुपृष्ठ ऋषिः सुतलं छन्दः कूर्मो देवता आसने विनियोगः।

इस सूर्य मन्त्रका जप कर अस्त्रोपसंहार करें। विनियोग करन्यास तथा हृदयादिन्यासकर ॐसोऽहमर्को इत्यादि मन्त्रसे अस्त्रोपसंहार किया जाता है। इसके बाद ॐ प्रातर्देवीमदितिं इत्यादि ऋचा पढें तथा ॐ हिरण्यगर्भः इत्यादि और सशंखचक्रं इत्यादि भी मन्त्र पढें। उसके बाद गायत्री तर्पण ॐ भूः तर्पयामि इत्यादिसे कर, दो आचमन भी करें। इसके बाद अन्तर्याग-पूर्वक जप किया जाता है। उसमें प्रथम ॐ पृथ्वि त्वया इत्यादि मन्त्रसे आसन स्थापन और प्रोक्षण कर ॐभूर्भुवः स्वः कूर्मासनाय नमः इत्यादि

ॐ पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता।
त्वं च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम् ॥

इत्यासनं संस्थाप्य

ॐ भूर्भुवः स्वः कूर्मासनाय नमः
ॐ भूर्भुवः स्वः अनन्तासनाय नमः
ॐ भूर्भुवः स्वः पद्मासनाय नमः
ॐ भूर्भुवः स्वः विमलासनाय नमः
ॐ भूर्भुवः स्वः सर्वशक्तिकमलासनाय नमः
ॐ भूर्भुवः स्वः आधारशक्तये नमः
ॐ भूर्भुवः स्वः दुष्टद्रावणाय नमः
ॐ भूर्भुवः स्वः श्रीलक्ष्मीनृसिंहाय नमः

इत्यासनं संपूज्य तत्रोपविश्य

ॐ अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भूमिसंस्थिताः।
ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया ॥

इति वामपादघातत्रयेण भौमान्, फट् मन्त्रेण दिव्यान्, तिग्मदृष्ट्यान्तरिक्षगतान् पसिश्च विघ्नांश्छोटिकाकराऽऽस्फालनेनोत्सार्य शिखां बद्ध्वा मूलेनाचम्य प्राणानायम्य ब्रह्मादिपारम्पर्येण गुरुपादाम्बुजं तावत्प्रणौमीति शिरस्यञ्जलिं बद्ध्वा-गुर्वादीन् प्रणमेत्।

गुं गुरुभ्यो नमः इति वामस्कन्धे
गं गणपतये नमः दक्षस्कन्धे
सं सरस्वत्यै नमः नाभौ
दुं दुर्गायै नमः वामकुक्षौ
क्षां क्षेत्रपालाय नमः दक्षिणकुक्षौ
आराध्यदेवतायै गायत्र्यै नमः हृदि

आठ मन्त्रों से आसनका पूजन कर उसपर बैठें। फिर अपसर्पन्तु ये भूता इस मन्त्रसे बायें पांवके आघातसे भूमिस्थ विघ्नोंको, फट् बोलकर तालियोंसे दिविस्थ विघ्नोंको तीक्ष्ण दृष्टिसे अन्तरिक्षगत चारों ओर चुटकियोंसे विघ्नोंको हटाकर शिखाबन्धनपूर्वक मूलसे तीन आचमन और पूर्ववत् प्राणायाम कर ब्रह्मा आदि परम्परागत गुरुओंके चरणोंको प्रणाम करता हूं ऐसा कहते हुए अंजली बन्धन करें। फिर गुं गुरुभ्यो नमः इत्यादि मन्त्रोंसे

ततो नमो महद्भ्य इत्याद्यृचं पठेत् ।

नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः ।

यजाम देवान् यदि शक्नवाम मा ज्यायसः शंस मा वृक्षि देवाः

तत आचम्य प्राणानायम्य देशकालौ स्मृत्वा मम चतुर्विधपुरुषर्थसिद्धिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं गायत्रीजपाधिकारसिद्ध्यर्थं भूतशुध्दि-प्राणप्रतिष्ठा-मातृकादिन्यास-योगपीठन्यास-गायत्रीन्यासान् करिष्ये इति संकल्पं कुर्यात्

भूतशुद्धिः

मूलाधारादुत्थितां विद्युत्सहस्रप्रभाभासुरां बिसतन्तुरूपां कुण्डलिनीं सुषुम्णामार्गेण हृदयकमलमागतां विभाव्य तया जीवात्मानं ॐ हंसः इति मन्त्रेणोत्थाप्य सहस्रारे परमात्मनि योजयेत् ।

तत्रैव पादादिजानुपर्यन्तं चतुरस्रं पीतं पृथिवीमण्डलं तत्र च पाद-गमन-क्रिया-गन्ध-घ्राण-पृथ्वी-ब्रह्म(ब्रह्मा) निवृत्ति-समानवायून् संस्मृत्य "ॐ हां ब्रह्मणे पृथिव्यधिपतये निवृत्तिकालात्मने हूं फट् स्वाहा" इति मन्त्रमुच्चार्य तान् सर्वान् (पादगमनादीन् वायूनित्यन्तान् पूर्वोक्ता-नुच्चारयेत् । एवमुत्तरत्र सर्वत्र) कुण्डलिनीद्वारा अप्सु प्रविलापयामि" इत्यपां स्थाने संहरेत्।

जान्वादिनाभिपर्यन्तं शुक्लम् अर्धचन्द्राकारं जलमण्डलं, तत्र च हस्त-दान दातव्य-रसना-जल-विष्णु-प्रतिष्ठोदानान् संस्मृत्य "ॐ ह्रीं विष्णवे जलाधिपतये प्रतिष्ठाकलात्मने हुं फट् स्वाहा" इति मन्त्रमुच्चार्य" तान् सर्वान् कुण्डलिनीद्वाराऽग्नौ प्रविलापयामि इत्यग्निस्थाने संहरेत्

गुरु, गणपति, सरस्वती, दुर्गा एवं क्षेत्रपालोंको और आराध्यको प्रणाम कर नमो महद्भ्यो इत्यादि ऋचा पढें। फिर आचमन और प्राणायाम पूर्ववत् देशकालकथन (श्रीश्वेतवाराहकल्पे जम्बुद्विपे इत्यादि संकल्प) कर चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धि द्वारा गायत्रीजपाधिकारसिद्ध्यर्थ भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा, मातृकान्यास, योगपीठन्यास एवं गायत्रीन्यासोंका अहं करिष्ये ऐसा संकल्प पूरा करें।

इसके बाद भूतशुध्दि करें। मूलाधारसे उत्थापित विद्युत्लतासदृश बिसतन्तुसमान कुण्डलिनीको सुषुम्णामार्गसे प्रथम हृदयकमलमें लायें। वहां जीवात्मा स्थित है। दोनोंको वहांसे "ॐ हंसः" बोलकर सहस्रारस्थ या व्यापकरूप परमात्माके साथ योजित करें। उसीके अन्तर्गत जानुपर्यन्तस्थित

नाभ्यादिहृदयपर्यन्तं त्रिकोणवह्निमण्डलं तत्र च पायु-विसर्ग-विसर्जनीय-रूप-चक्षु-स्तेजो-रुद्र-विद्या-व्यानान् संस्मृत्य "ॐ हूं रुद्राय तेजोधिपतये विद्याकलात्मने हूं फट् स्वाहा" इति मन्त्रमुच्चार्य "तान् सर्वान् कुण्डलिनीद्वारा वायौ प्रविलापयामि" इति वायुस्थाने संहरेत्।

हृदयादिभ्रूपर्यन्तं कृष्णं वर्तुलं षड्बिन्दुलाञ्छितं वायुमण्डलं तत्र चोपस्था-ऽऽनन्दतद्विषय-स्पर्श-स्प्रष्टव्य-वायु-ईशान-शान्ति-अपानान् स्मृत्वा "ॐ हैं ईश्वराय वाय्वधिपतये शान्तिकालात्मने स्वाहा" इति मन्त्रमुच्चार्य "तान् सर्वान् कुण्डलिनीद्वारा आकाशे प्रविलापयामि" इत्याकाशे संहरेत्।

भ्रूमध्यादिब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं स्वच्छं वर्तुलं हुं फडाकाशमण्डलं तत्र च वाग्-वदन-वक्तव्य-शब्द-श्रोत्रा-ऽऽकाश-सदाशिव-शान्त्यतीत- प्राणान् स्मृत्वा "ॐ हों सदाशिवायाकाशधिपतये शान्त्यतीतकलात्मने हुं फट् स्वाहा" इति मन्त्रमुच्चार्य "तान् सर्वानहंकारे प्रविलापयामि" इत्यहंकारे प्रविलाप्य तमहंकारं महत्तत्त्वे प्रविलापयामि, महत्तत्त्वं मातृकासंज्ञकशब्दब्रह्मस्वरूपायां हृल्लेखार्थभूतायां प्रकृतौ प्रविलापयामि, तां तथाविधां नित्यशुध्दबुध्दस्वभावस्वप्रकाशे सत्यज्ञानानन्तानन्दलक्षणे परमकारणे आदित्यवर्णस्वरूपे परब्रह्मणि प्रविलापयामीत्येवं परमात्मनि सर्वं प्रविलापयेत्। ततः—

शरीरस्य (शरीरमन्त्रस्य) अन्तर्यामि ऋषिः प्रकृतिपुरुषश्छन्दः सत्यो देवता शरीरगत पापपुरुषशोषणविचिन्तने विनियोगः इत्युक्त्वा

पृथिवीतत्त्व एवं उसके सम्बन्धी तत्त्वों (गन्ध-घ्राणादि) को ॐ हां ब्रह्मणे इत्यादि मन्त्रद्वारा कुण्डलिनीकृत आकर्षणसे जानुसे नाभिपर्यन्तस्थित जलमण्डलमें विलीन करे। फिर ॐ हीं विष्णवे इत्यादि मन्त्रसे नाभीसे हृदयपर्यन्तस्थित अग्निमण्डलमें जलतत्त्व एवं तत्सम्बन्धीको विलीन करें। अग्नितत्त्व तथा तत्सम्बन्धी रूप चक्षु आदिको हृदयादि भ्रूपर्यन्तस्थित वायुमण्डल ॐ हूं रुद्राय इत्यादि मन्त्रसे विलीन करें। वायुतत्त्व तथा उसके सम्बन्धी स्पर्श त्वचा आदिको भ्रूमध्यसे सहस्रारपर्यन्तस्थित आकाशमण्डलमें ॐ हैं ईश्वराय-इत्यादि मन्त्रसे विलीन करें। आकाशतत्त्व तथा श्रोत्रादिको ॐ हों सदाशिवाय आदि बोलकर अहंकारमें विलीन करें अहंकारको महतत्त्वमें उसे प्रकृतिमें और प्रकृतिको आदित्यवर्ण ब्रह्ममें विलीन करें।

पुरुषं निष्प्रभं पापमनादिभवसंभवम् ।
ब्रह्महत्याशिरस्कं च स्वर्णस्तेयभुजद्वयम् ॥
सुरापानहृदा युक्तं गुरुतल्पकटिद्वयम् ।
तत्संसर्गपदद्वन्द्वमङ्गप्रत्यङ्गपातकम् ॥
उपपातकरोमाणं रक्तश्मश्रुविलोचनम् ।
अविवेकखड्गधरमहन्ताचर्मधारिणम् ॥
असत्याश्ववहं कृष्णं पैशुन्यरसनाधरम् ।
क्रोधदंष्ट्रासमायुक्तं कामवर्मिणमद्भुतम् ॥
वामकुक्षिस्थितं मूढं क्रूररासभनिःस्वनम् ।
अङ्गुष्ठमात्रं व्याधिष्ठं निर्दहेत्तं यथाविधि ॥

इति पापपुरुषं विचिन्त्य

यमिति वायुबीजस्य किष्किन्ध ऋषिः जगती छन्दः वायुर्देवता शरीरगतपापपुरुषविशोषणे विनियोगः इत्युक्त्वा

नाभिमूले च षड्बिन्दुमण्डले यं विचिन्तयेत् ।
तद्वायुबीजं धूम्रं च चञ्चलध्वजसंयुतम् ।
घूं घूं शब्दयुतं सर्वशोषणं त्वीशदैवतम् ॥

इति ध्यात्वा पूरकयोगेन षोडशवारं द्वादशवारं वा वायुबीजमावर्त्य तद्बीजोत्थवायुना पापपुरुषं शरीरं च शाषितं विभावयेत्। ततः—

तदनन्तर विनियोगपूर्वक पापपुरुषचिन्तन करें अनादिकालसे हर प्रकारके पाप हमसे हुए ही हैं। वह पापपुरुष निष्प्रभ है, उसका मस्तक ब्रह्महत्या है भुजा सुवर्णकी चोरी है। सुरापान हृदय है। उसकी कटि गुरुतल्प है। पापीसंसर्ग उसके दो पैर हैं। अन्य पाप अङ्गप्रत्यङ्ग है। उपपातक उसके रोम हैं। रागादि उसके बाल एवं नेत्र हैं। अविवेक उसकी तलवार है, अहंकार चर्म है। असत्य अश्व है। काला है। चुगुली उसकी जीभ या घोडेकी लगाम है। क्रोध डाढ है। काम कवच है। क्रूर है। गधेके समान आवाज है। वह वामकुक्षिमें बैठा है। अंगुष्ठ परिणाम है। ऐसे पापपुरुषको सोचकर उसे और स्वशरीरको भी यं इस वायुबीजसे शोषित हुआ सोचें। फिर रं इस अग्निबीजसे उसको और स्वशरीरको जलगया सोचें। प्रथममें यं सोलह बार बोलकर पूरक प्राणायाम और द्वितीयमें रं यह चौसठ बार बोलकर कुम्भक करें। फिर रेचक प्राणायामसे पापपुरुषके

रमिति अग्निबीजस्य कश्यप ऋषिः, त्रिष्टुप् छन्दः, अग्निर्देवता, शरीरगतपापपुरुषदाहने विनियोगः इत्युक्त्वा

चिन्तयेद् हृदये रक्तं त्रिकोणं वह्निमण्डलम्
विद्याकलायुतं रुद्रदैवतं रं समीरितम्

इति ध्यात्वा कुम्भकप्रयोगेण चतुःषष्टिवारं पञ्चाशद्वारं वाऽग्नि -बीजमावर्त्य पापपुरुषं शरीरं च भस्मीभूतं विभाव्य तयोः पापपुरुषभस्म वायुबीजेन पूरकद्विगुणावर्तितेन विरेचयेत्। ततः वमिति वरुणबीजस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः त्रिष्टुप् छन्दः वरुणो देवता प्लावने विनियोगः इत्युक्त्वा

वारुणं मण्डलं मूर्ध्नि शुभ्रचन्द्रार्धसंनिभम् ।
सितपङ्कजयुग्माङ्गं वं स्याद्वरुणदैवतम् ।

इति ध्यात्वा तद्बीजस्रुतामृतेन शरीरभस्म पिण्डीभूतं विभावयेत् । ततः-

लमिति पृथिवीबीजस्य ब्रह्मा ऋषिः गायत्री छन्दः इन्द्रो देवता कठिनीकरणे विनियोगः

आधारमण्डले पृथिवीमण्डलं वज्रलाञ्छितम् ।
चतुष्कोणं च कठिनं पीतवर्णेन्द्रदैवतम् ।
लं बीजेन समायुक्तं ध्यायेन्मनसि पूर्ववत् ।

इति ध्यात्वा तद्बीजोत्थेन काठिन्येन तनुं दृढां भावयेत्। ततः-

हमित्याकाशबीजस्य ब्रह्मा ऋषिः पङ्क्तिश्छन्दः आकाशो देवता व्यूहने विनियोगः

आकाशमण्डलं वृत्तं द्वादशान्ते हमुज्ज्वलम् ।
शान्त्यतीतकलायुक्तं चिन्त्यमाकाशदैवतम् ॥

इति ध्यात्वा तदुत्थेनाकाशेनावकाशं भावयेत्।

भस्मको विरेचित करें। बत्तीस बार वायुबीज यं रेचककालमें बोलना चाहिये। अवशिष्ट जो स्वशरीरभस्म है उसे सविनियोग वरुणबीज बोलकर उससे बहते हुए अमृतसे शरीराकारसे पिण्ड बना हुआ सोचें। उसके बाद पृथिवी बीज लं से कठिन एवं आकाश बीज हं से सावकाशताकी भी भावना करें। इस प्रकार स्वशरीरके बारे में भावना कर पहले परमात्मामें पृथिवी तत्त्व, जलतत्त्वादि एवं उनके कार्योंको जो विलीन किया था उन्हें सृष्टिक्रमसे परमात्मासे प्रकटकर अपने-अपने स्थानोंपर जैसे भ्रूमध्यसे

एवं स्वशरीरं विचिन्त्य पूर्वं परमात्मनि विलापितं परमात्मनः सकाशात् सृष्टिक्रमेण तत्त्वादि स्वस्वस्थानं प्रापयेत्।

ततः परमात्मनः सकाशाज्जीवम् ॐ सोऽहम् इति मन्त्रेण हृदयकमलमानयेत्। स्वशरीरं च पापरहितं नवं निर्मलं सावित्रीदेवतासाधनयोग्यं विभावयेदिति।

स्वदेहे प्राणप्रतिष्ठा

[हृदि हस्तं निधाय षोडशसंस्कारसिद्ध्यर्थं षोडशप्रणवावृत्तिं कृत्वा]

बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहुं त्रिलोचनाम् ।
पाशाङ्कुशधरां चापं गायत्रीं दधतीं भजे ।

इति परां शक्तिं स्मरेत्।

ॐअस्य श्रीप्राणप्रतिष्ठामन्त्रस्य ब्रह्मविष्णुरुद्रा ऋषयः। ऋग्यजुःसामानि च्छन्दांसि चिद्रूपिणी प्राणशक्तिर्देवता। आं बीजं ह्रीं शक्तिः क्रों कीलकं प्राणप्रतिष्ठायां विनियोगः

(१)ॐ आँ नमः (शिरसि) (४) ॐ आं नमः (गुह्ये)
(२) ॐ ह्रीं नमः (मुखे) (५) ॐ ह्रीं नमः (पादयोः)
(३) ॐ क्रों नमः (हृदये) (६) ॐ क्रों नमः (सर्वाङ्गेषु)

ॐ आँ ह्रीं क्रों अं कं खं गं घं ङं आं पृथिव्यसेजोवाय्वाकाशात्मने अङ्गुष्ठाभ्यां नमः

ॐ आं ह्री क्रों इं चं छ जं झं ञं ईं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मने तर्जनीभ्यां नमः

ॐ आं ह्रीं क्रों उं टं ठं डं ढं णं ऊं श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणात्मने मध्यमाभ्यां नमः

ॐ आं ह्रीं क्रों एं तं थं दं धं नं ऐं वाक्पाणिपादपायूपस्थात्मने अनामिकाभ्यां नमः

ॐ आं ह्रीं क्रों ओं पं फं बं भं मं औं वचनादानगमनविसर्गानन्दात्मने कनिष्ठिकाभ्यां नमः

ॐ आं ह्रीं क्रों अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं अः मनोबुद्धयहंकार-
सहस्रार तकके स्थानमें आकाशतत्व एवं श्रोत्रादिको इत्यादि क्रमसे स्थापित करें। उसके बाद परमात्मामें जीवात्माको जो मिलाया था उसे वहांसे हृदयकमलमें लाकर "ॐ आं सोऽहम्" कहकर प्रतिष्ठित करें। तदनन्तर स्वशरीर पापरहित, निर्मल एवं सावित्रीपूजनयोग्य है ऐसी भावना करें।

चित्तप्राणात्मने करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः

एवं हृदयादिन्यासः

(१)ॐ आं नमः (नाभेश्चरणपर्यन्तम्)

(२) ॐ ह्रीं नमः (हृदयादिनाभिपर्यन्तम्)

(३) ॐ क्रों नमः (मूर्धादिहृदयपर्यन्तम्)

१. ॐ यं त्वगात्मने नमः ६. ॐ षं मज्जात्मने नमः

२. ॐ रं असृगात्मने नमः ७. ॐ सं शुक्रात्मने नमः

३ ॐ लं मांसात्मने नमः ८. ॐ हं जीवात्मने नमः

४. ॐ वं मेद आत्मने नमः ९. ॐ लं कामात्मने नमः

५. ॐ शं अस्थ्यात्मने नमः १0. ॐ क्षं क्रोधात्मने नमः।

इति हृदये न्यसेत्। ततो हृदि हस्तं दत्वा

ॐ आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं हं सः सोऽहं स्वाहा मम प्राणा इह प्राणाः

ॐ आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं हं सः सोऽहं स्वाहा मम जीव इह जीवः

ॐ आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं ·. षं सं हं ळं क्षं हं सः सोऽहं स्वाहा मम सर्वेन्द्रियाणि वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिव्हापाणिपादपायूपस्थत्वक्प्राणा इहागत्य

सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा। इति प्रतिष्ठा

ततो हृदि हस्तं दत्वा जन्मादिषोडशसंस्कारसिद्धये षोडशवारं प्रणवं कृत्वा ध्यायेत्।

रत्नाम्भोधिस्थपोतोल्लसदरुणसरोजाधिरुढा कराब्जैः
पाशं कोदण्डमिक्षूद्भवमथ गुणमप्यङ्कुशं पञ्चबाणान् ।
बिभ्राणाऽसृक्कपालं त्रिनयनलसितापीनवक्षोरुहाढ्या
देवी बालार्कवर्णा भवतु सुखकरी प्राणशक्तिः परा नः ॥

इति ध्यात्वा मानसोपचारैः पूजयित्वा तत्स्वरूपो भूत्वा मातृकान्यासं कुर्यात्तदङ्गतया प्राणायामं च। मातृकान्यासः।

इसके बाद स्वदेहमें प्रामप्रतिष्ठा करें। (पृ. २४२) हृदयपर हाथ रखकर प्रथम बालार्कमण्डलाभासां से पराशक्तिसावित्री स्मरम करें। फिर प्राणप्रतिष्ठा मन्त्रका ऋष्यादिन्यासपूर्वक विनियोग कर ॐ आं नमः इत्यादिसे

इडया पूरयेद्वायुं स्वरैःस्पर्शैश्च कुम्भयेत् ।
रेचयेद् यादिभिर्वर्णैः प्राणायाम :समातृकः ॥

अस्य श्री अन्तर्मातृकाबहिर्मातृकामन्त्रस्य प्रजापतिरृषिः, गायत्री छन्दः मातृकासरस्वती देवता, हलो बीजानी, स्वराः शक्तयः बिन्दवः कीलकानि, श्रीगायत्रीजपाङ्गत्वेन न्यासे विनियोगः

ॐ अं कं खं गं घं ङं आं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः हृदयाय नमः
ॐ इं चं छं जं झं ञं ईं तर्जनीभ्यां नमः शिरसे स्वाहा
ॐ उं टं ठं डं ढं णं ऊं मध्यमाभ्यां नमः शिखायै वषट्
ॐ एं तं थं दं धं नं ऐं अनामिकाभ्यां नमः कवचाय हूं
ॐ ओं पं फं बं भं मं औ कनिष्ठिकाभ्यां नमः नेत्रत्रयाय वौषट्
ॐ अं यादि क्षान्तं अः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः अस्त्राय फट्

अथ अन्तर्मातृकान्यासः

ॐ स्वराः- (अं नमः आं नमः इत्यादि) कण्ठस्थाने षोडशदले
ॐ कठाः- नमः (कं नमः.....ठं नमः) हृदयेऽनाहते द्वादशदले
ॐ डफाः- नमः (डं नमः......फं नमः) नाभिस्थाने मणिपूरे षड्दले
ॐ वसाः- नमः (वं नमः.....सं नमः) गुह्यस्थाने मूलाधारे चतुर्दले
ॐ हं नमः क्षं नमः भ्रूमध्ये आज्ञाचक्रे द्विदले

अत्र न्यासः प्रादक्षिण्येनेत्याचार्याः। वामावर्तेनेत्यन्ये। अथ ध्यानम्

आधारे लिङ्गनाभौ हृदयसरसिजे तालुमूले ललाटे
द्वे पत्रे षोडशारे द्विदशदशदले द्वादशार्धे चतुष्के ।
वासान्ते बालमध्ये डफकठसहिते कण्ठदेशे स्वराणां
हं क्षं तत्त्वार्थयुक्तं सकलतनुगतं वर्णरूपं नमामि।

सिर आदि स्थानोंमें न्यास करें ॐ आं ह्रीं क्रों इत्यादिसे करन्यास तथा अङ्गन्यास करें फिर (पृ. २४३) ॐ आं नमः आदिसे शरीरन्यास कर हृदयमें ॐ यं त्वगात्मने नमः इत्यादि मन्त्रोंको कहते हुए त्वक् असृक् आदि सप्तधातुरूपमें तथा जीव एवं कामक्रोधरूपमें प्राणका न्यास करें। फिर हृदयमें हाथ रखकर ॐ आं ह्रीं क्रों इत्यादि मन्त्रोंसे प्राण, जीव, सर्वेन्द्रिय, वाणी, मन आदिको स्थापित करें। तदनन्तर हृदयमें हाथ रखकर जन्मादि षोडश संस्कारके लिये सोलह बार प्रणव जप करें तथा रक्ताम्भोधिस्थ इत्यादिसे ध्यान कर मानसोपचारोंसे पूजा करें तथा प्राण-

अथ बहिर्मातृका

१ ॐ अं नमः (शिरसि)	२३ ॐ छं नमः (वामकूर्परे)
२ ॐआं नमः (मुखवृत्ते)	२४ ॐ जं नमः (वाममणिबन्धे)
३ ॐ इं नमः (दक्ष नेत्रे)	२५ ॐ झं नमः (वामकराङ्गुलिमूले)
४ ॐई नमः(वामनेत्रे)	२६ ॐ ञं नमः (वामकराङ्गुल्यग्रे)
५ ॐ उं नमः (दक्षिणकर्णे)	२७ ॐ टं नमः (दक्षिणकटिमूले)
६ ॐ ऊं नमः (वामकर्णे)	२८. ॐ ठं नमः (दक्षिमजानुनि)
७ ॐ ऋ नमः (दक्षिणनासायां)	२९. ॐ डं नमः (दक्षिणगुल्फे)
८ ॐ ॠ नमः(वामनासायां)	३०. ॐ ढं नमः (दक्षिणपादाङ्गुलिमूले)
९ ॐलृं नमः (दक्षिणकपोले)	३१. ॐ णं नमः (दक्षपादाङ्गुल्यग्रे)
१० ॐ लॄं नमः वामकपोले	३२. ॐ तं नमः वामकटिमूले
११ ॐ एं नमः (उत्तरोष्ठे)	३३. ॐ थं नमः वामजानुनि
१२ ॐ ऐं नमः (अधरोष्ठे)	३४. ॐ दं नमः वामगुल्फे
१३ ॐ ओं नमः (ऊर्ध्वदन्तपङ्क्तौ)	३५. ॐ धं नमः वामपादाङ्गुलिमूले
१४ ॐ औ नमः (अधोदन्तपङ्क्तै)	३६. ॐ नं नमः वामपादाङ्गुल्यग्रे
१५ ॐ अं नमः (शिरसि)	३७. ॐ पं नमः दक्षिणपार्श्वे
१६ ॐ अः नमः (मुखान्ते)	३८. ॐ फं नमः वामपार्श्वे
१७ ॐ कंनमःदक्षिणबाहुमूले	३९. ॐ बं नमः पृष्ठे
१८ ॐ खं नमः (दक्षिणकूर्परे)	४०. ॐ भं नमः नाभौ
१९ ॐ गं नम दक्षिममणिबन्धे	४१. ॐ मं नमः उदरे
२० ॐ घं नमः दक्षिणकराङ्गुलिमूले	४२. ॐ यं नमः हृदये
२१ ॐ ङं नमः (दक्षिमाङ्गुल्यग्रे)	४३. ॐ रं नमः दक्षिणस्कन्दे
२२ ॐ चं (नमः वामबाहुमूले)	४४. ॐ लं नमः मेरुस्कन्धे

(पृ. २४४) शक्ति स्वरूप हो मातृकान्यास करें। प्राणायाम प्रथम होगा स्वरोंसे पूरक स्पर्श वर्णों से कुम्भक तथा यादिसे रेचक। फिर उभय मातृकान्यासार्थ विनियोग तथा करन्यास हृदयादिन्यास करें। फिर स्वरोंको कण्ठगत सोलह दलोंमे, ककारसे लेकर ठकार तक हृदयस्थित बारह दलोंमे, डसे फ तक नाभिस्थ दस दलमें ब से ल तक स्वाधिष्ठान षडदलमें व से स तक मूलाधारस्थ चतुर्दलमें न्यास करें आधारे लिङ्गनाभौ इत्यादि ध्यान श्लोक पहले या बाद पढ़ें। इसके बाद बहिर्मातृकान्यास ॐ अं नमः

४५. ॐ वं नमः वामस्कन्धे
४६. ॐ शं नमः हृदयादिदक्षिणकराङ्गुल्यन्तम्
४७. ॐ षं नमः (हृदयादिवामकराङ्गुल्यन्तम्)
४८. ॐ सं नमः (हृदयादिदक्षपादाङ्गुल्यन्म्)
४९. ॐ हं नमः (हृदयादिवामपादाङ्गुल्यन्तम्)
५०. ॐ ळं नमः (हृदयादिनाभ्यन्तम्)
५१. ॐ क्षं नमः हृदयादिशिरोऽन्तम्

पञ्चाशद्वर्णभेदैर्विहितवदनदोःपादहृत्कुक्षिवक्षो
देशां भास्वत्कपर्दां कलितशशिकलामिन्दुकुन्दावदाताम्।
अक्षस्रक्कुम्भचिन्तालिखितवरकरां त्रीक्षणां पद्मसंस्थाम्
अच्छाकल्पामतुच्छस्तनजघनभरां भारतीं तां नमामि।

इति ध्यात्वा मानसोपचारैः पूजयित्वाऽकारादिक्षकारान्तां मातृकामनुलोम-विलोमतो जपित्वा व्यापकत्वेन तत्तद्वर्णास्तत्तत्स्थानेषु ध्यात्वा गायत्रीमन्त्र-न्यासं कुर्यात्। तत्र प्राणायामत्रयं कृत्वा गायत्र्या ऋषिच्छान्दोदेवता-बीजशक्तिकीलकानि पूर्ववद् न्यस्य जपविनियोगं कृत्वा करसंपुटेन गायत्र्या करयोर्व्यापकं कुर्यात्। अङ्गन्यासकरन्यासौ प्राग्वत् (पृ. २३१)

अथ व्याहृतिन्यासः

१. ॐ भूः पादयोर्न्यसामि
२. ॐ भुवः जान्वोर्न्यसामि
३. ॐ स्वः कट्योर्न्यसामि
४. ॐ महः नाभौ न्यसामि
५. ॐ जनः हृदये न्यसामि
६. ॐ तपः कण्ठे न्यसामि
७. ॐ सत्यं ललाटे न्यसामि

पदन्यासः

१. ॐ तत् पादयोर्न्यसामि
२. ॐ सवितुः जङ्घयोर्न्यसामि
३. ॐ. वरेण्यं कट्योर्न्यसामि
४. ॐ भर्गो नाभौ न्यसामि
५. ॐ देवस्य हृदि न्यसामि
६. ॐ धीमहि कण्ठे न्यसामि
७. ॐ धियो मुखे न्यसामि
८. ॐ यो भ्रूमध्ये न्यसामि
९. ॐ नः ललाटे न्यसामि
१०. ॐ प्रचोदयात् मूर्ध्नि न्यसामि

(पृ. २४५) इत्यादि अक्षरक्रमसे मस्तक मुखवृत्तादि इकावन स्थानोंमें न्यास करें। तदनन्तर "पञ्चाशल्लिपिभिः" इत्यादिसे ध्यान भी करें। तथा मानसोपचार पूजा अनुलोम वि्लोम मातृका जप एवं व्यापकरूपसे वर्णों को उन उन स्थानों में ध्यान कर गायत्री- मन्त्रन्यास करें। तदर्थ तीन प्राणायाम तथा करन्यासादि पूर्ववत करें। फिर प्रथम सप्त व्याहृतियों को ॐ भूः पादयोर्न्यसामि इत्यादिसे न्यास करें।

अक्षरन्यासः

ॐ त पादयोः न्यसामि पृथिवीतत्त्वमिदम्
ॐ त्स गुल्फयोः न्यसामि जलतत्त्वमिदम्
ॐ वि जङ्घयोः न्यसामि तेजस्तत्त्वमिदम्
ॐ तु जान्वोः न्यसामि वायुतत्त्वमिदम्
ॐ र्व ऊर्वोः न्यसामि आकाशतत्त्वमिदम्
ॐ रे गुह्ये न्यसामि गन्धतत्त्वमिदम्
ॐ णि लिङ्गे न्यसामि रसतत्त्वमिदम्
ॐ यं कट्योः न्यसामि रूपतत्त्वमिदम्
ॐ भ नाभौ न्यसामि स्पर्शतत्त्वमिदम्
ॐ र्गो उदरे न्यसामि शब्दतत्त्वमिदम्
ॐ दे स्तनयोः न्यसामि वाक्तत्वमिदम्
ॐ व हृदि न्यसामि पाणितत्वमिदम्
ॐ स्य कण्ठे न्यसामि उपस्थतत्त्वमिदम्
ॐ धी वक्त्रे न्यसामि पायुतत्त्वमिदम्
ॐ म तालौ न्यसामि पादतत्त्वमिदम्
ॐ हि नासिकायां न्यसामि श्रोत्रतत्त्वमिदम्
ॐ धि नेत्रयोः न्यसामि त्वक्तत्त्वमिदम्
ॐ यो भ्रूमध्ये न्यसामि चक्षुस्तत्त्वमिदम्
ॐ यो ललाटे न्यसामि घ्राणतत्त्वमिदम्
ॐ नः पूर्वमुखे न्यसामि रसनातत्त्वमिदम्
ॐ प्र दक्षिणमुखे न्यसामि मनस्तत्त्वमिदम्
ॐ चो पश्चिममुखे न्यसामि अहंकारतत्त्वमिदम्
ॐ द उत्तरमुखे न्यसामि महत्तत्त्वमिदम्
ॐ या मूर्ध्नि न्यसामि प्रकृतितत्त्वमिदम्
ॐ त् सर्वाङ्गेषु न्यसामि आत्मतत्त्वमिदम्

तथा मन्त्रपदोंको ॐ तत् पादयोर्न्यसामि इत्यादि रीति पदन्यास तथा ॐ त पादयोर्न्यसामि इत्यादिरीति अक्षरन्यास करें। त आदि अक्षरोंमें पृथिवी तत्त्व आदिकी दृष्टि भी की जाती है। विशेषः-इनतीन न्यासों में ॐ भूः पद्भ्यां नमः इत्यादि ॐ भूः पादाभ्यां नमः इत्यादि भी संप्रदाय है। फिर

तत्सवितुर्वरेण्यमिति लोकत्रयं भर्गो देवस्यं धीमहीति वेदत्रयं धियो यो नः प्रचोदयादिति ब्रह्मस्वरूपमिति लोकत्रयादिदृष्टिः पादत्रये। प्रणवादि-प्रणवान्तगायत्रीमन्त्रं चतुर्थचरणसहितं त्रिवारं व्यापकत्वेन न्यसेत्। (केशादि-पादान्तं पादादिकेशान्तं च) तद्यथा- ॐ भूर्भुवः स्वःतत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रयोदयात् परो रजसेऽसावदोमिति।

अथ स्वदेहे योगपीठन्यासः

अंसद्वयमूरुद्वयमिति पीठस्य चत्वारः पादाः इति चिन्त्यम। मुखनाभि-पार्श्वद्वयानि मध्यभागः। एवं पीठरूपं निजदेहं ध्यात्वा तस्मिन् पीठे मूलाधारादौ स्थितान् देवान् पूजयेत्।

ॐ मूलाधारे महाकालाय रक्तवर्णाय मण्डूकाधाराय नमः

तदुपरि स्वाधिष्ठानान्तं पञ्चवक्त्राय दशभुजाय रक्तवर्णाय वामदक्षिण-पार्श्वाय कालाग्निरुद्राय नमः

तदुपरि नाभ्यन्तं बन्धूकरुचिरायै मूलप्रकृत्यै नमः

तदुपरि हृदयपर्यन्तं शरच्चन्द्रप्रभायै पङ्कजद्वयधारिण्यै आधारशक्त्यै नमः

तत्रैव (१) ॐ कूर्माय नमः

(२) ॐअनन्ताय नमः

(३) ॐ वराहाय नमः

(४) ॐ पृथिव्यै नमः

(५) ॐ अमृतार्णवाय नमः

(६) ॐ रत्नद्वीपाय नमः

(७) ॐ स्वर्णपर्वताय नमः

(८) ॐ कल्पवृक्षोद्यानाय नमः

(९) मणिमयमहाभूमिकायै नमः

(१०) ॐ मणिमण्डपाय नमः

(११) ॐ कल्पवृक्षाय नमः

(१२) ॐ रत्नवेदिकायै नमः

(१३) ॐ रत्नसिंहासनाय नमः

ततः सिंहासनस्य पादरूपत्वेन गात्ररूपत्वेन च कल्पिते-

दक्षांसे- रक्तवर्णाय वृषभरूपाय धर्माय नमः

वामांसे- श्यामवर्णाय सिंहरूपाय ज्ञानाय नमः

वामोरौ- हरिद्वर्णाय भूतरूपाय वैराग्याय नमः

दक्षिणोरौ- इन्द्रनीलवर्णाय गजरूपाय ऐश्वर्याय नमः

प्रथम पादमें लोकत्रय द्वितीय पादमें वेदत्रय तथा तृतीय पादमें ब्रह्मकी दृष्टि करें। पूरी गायत्रीसे व्यापक न्यास भी करें। स्वदेहमें योगपीठन्यास। दो स्कन्ध और दो ऊरू पीठ के चार पाये हैं मुख नाभि एवं बगल पीठके मध्यभाग है ऐसा स्वदेहमें चिन्तनकर मूलाधारादिमें ॐ मूलाधारे इत्यादि

ततो मध्ये गात्रे हृदि योगपीठमुखे-

शूद्ररूपाय कृष्णवर्णाय खड्गचर्मधराय अधर्माय नमः

वामपार्श्वे- ईश्वररूपाय अन्धकारवर्णाय अज्ञानाय नमः

नाभौ- उन्मत्तपिशाचरूपाय अवैराग्याय नमः

दक्षिणपार्श्वे-स्त्रीशूद्ररूपाय मुक्तकेशाय नग्नायानैश्वर्याय नमः

ततो मध्ये हृत्कमले- शेषाय नमः

पद्माय नमः

तत्र (पद्मे) आनन्दकन्दाय नमः

संविन्नालाय नमः

सर्वतत्त्वात्मकपद्माय नमः

प्रकृतिमयपत्रेभ्यो नमः

पाञ्चाशद्वर्णबीजाढ्यकर्णिकायै नमः

तस्यां कर्णिकायां (१) अं अर्कमण्डलाय नमः (६) तं तमसे नमः

(२) उं सोममण्डलाय नमः (७) आं आत्मने नमः

(३) मं वह्निमण्डलाय नमः (८) अं अन्तरात्मने नमः

(४) सं सत्त्वाय नमः (९) पं परमात्मने नमः

(५) रं रजसे नमः (१०) ज्ञां ज्ञानात्मने नमः

इति विन्यस्य हृदयदेशे गायत्रीमन्त्रं विभावयेत्।

शक्तेस्त्रिकोणस्य मध्ये सूर्यमण्डलाकारतेजोरूपां वर्तुलाकारां कोटिमार्तण्डतेजोमयीं शक्तिं भावयेत्। तत् परितस्त्रिकोणत्रये बीजत्रयं व्याहृतित्रयं भूर्भुवः स्वः इति भावयेत्। ततोऽष्टकोणे अं आं इत्येवंविधस्वरद्वयसंपुटितं गायत्रीवर्णत्रिकाष्टकं 'तत्सवि' इत्यादिकं भावयेत्। चूडामन्त्रेण परोरजसेऽसावदों इत्यनेन च वेष्टितं वृत्तं ततः। अन्तश्चतुष्कोणेषु ॐ महः ॐ जनः इत्यादिकं बहिश्च कादिक्षान्तवर्णैर्वेष्टितं भूपुरत्रयं भावयेत्। मध्यवर्तुले सावित्रीं ध्यायेत्।

(पृ. २४८) मन्त्रोंसे महाकालादिका मानसपूजन करें। मूलाधारमें महाकाल, स्वाधिष्ठान तक कालाग्निरुद्र नाभितक मूल प्रकृति, हृदयतक आधारशक्ति है। फिर हृदयमें ही ॐ कूर्माय नमः इत्यादि तेरह मन्त्रोंसे पूजा करें। फिर सिंहासनके पादोंमें रक्तवर्णाय वृषभरूपाय धर्माय नमः इत्यादि मन्त्र बोलकर दाहिने कंधेमें, बायें कन्धेमें, बायें ऊरुमें और दाहिने ऊरुमें क्रमशः

मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै-
र्युक्तामिन्दुकलानिबद्धमुकुटां तत्त्वार्थवर्णात्मिकाम्।
गायत्रीं वरदाभयाङ्कुशकशां शुभ्रं कपालं गुणं
शंखं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे॥

हृदयकमले योगपीठे सुधासागरान्तराले मणिमयद्वीपे स्वर्णमयपर्वते स्वर्णप्राकारवेष्टिते नन्दनोद्याने चिन्तामणिमण्डपे रत्नसिंहासने चक्रराजबिम्बे कोटिसूर्यतेजोमये बालार्कायुतप्रभां त्रिनेत्रां पञ्चवक्त्रां दशभुजां वरदाभयाङ्कुशप्रतोदपानपात्रजपमालाशंखचक्राम्बुजयुग्मधरां दिव्यगन्धानुलेपिनीं दिव्यालङ्कारभूषितां कोटिकन्दर्पलावण्यविलासवतीं प्रहसितमुखारविन्दां सर्वावरणदेवता-ऋषि-पितृगणपरिवृतां द्विजवत्सलां सर्वाभीष्टदां सर्वपापहन्त्रीं श्रीसावित्रीं चिन्तयामि।

चिन्तयन्नेवमात्मानं जपं कुर्यात् समाहितः।
मानसे पूजयित्वा ता विशुद्धः साधकोत्तमः॥

एवं स्वात्मैक्येन ध्यात्वा मानसोपचारैर्यथोक्तप्रकारेण गुरूपदिष्टमार्गेण पूजयित्वा

मूलं ॐ लं पृथिव्यात्मने गन्धं समर्पयामि
मूलं ॐ हं आकाशात्मने पुष्पं समर्पयामि
मूलं ॐ यं वाय्वात्मने धूपमाघ्रापयामि
मूलं ॐ रं अग्न्यात्मने दीपं दर्शयामि
मूलं ॐ वं अमृतात्मने नैवेद्यं परिकल्पयामि

(पृ. २४८) धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की पूजा करें। (पृ. २४९) फिर बीचके शरीरमें पीठके मुख हृदयमें अधर्मका, बायीं बगलमें अज्ञानका, नाभिमें अवैराग्यका और दाहिनी बगलमें अनैश्वर्यका शूद्राय कृष्णवर्णाय इत्यादि चार मन्त्रोंसे पूजन करें। फिर हृदयकमलमें शेष और पद्मका शेषाय नमः इत्यादि मन्त्रोंसे पूजन करें। और स्वतः पद्मके भी कन्द, नाल, पद्मपत्र एवं कर्णिकाका आनन्दकन्दाय नमः इत्यादि मन्त्र बोलकर पूजन करें। उस कर्णिकामें अर्क, सोम, वह्नि इन तीन मण्डलोंका, सत्त्वादि तीन गुणोंका तथा आत्मा अन्तरात्मादि चार आत्माओंका ॐ अर्कमण्डलाय नमः इत्यादि बोलकर पूजन करें। न्यासरूपी पूजन ही समझना। इसके बाद हृदयदेशमें गायत्री मन्त्र की भावना करें। गायत्रीमन्त्रमें

इति पूजयित्वा यथाशक्ति सावित्रीं जपित्वा तज्जपं देव्या हस्ते गुह्यातिगुह्यगोप्त्रीत्वमित्यादिना निवेदयेत्। ततो मानसयागं कुर्यात्।

मानसयागः

प्राणायामत्रयं कृत्वा हृदयाम्बुजप्रवेशः। तत्र योगपीठं मनसा पूजयित्वा बाह्यवदेव मानसमर्घ्यस्थापनादिकर्मकलापं संपादयेत्। स्वयमपि स्वहृदयस्थं मन्तव्यम्। मानसैरेव चन्दनाद्यैर्होतव्यम्। नैवेद्यभोजनावसरे मानसं वैश्वदेवं च समाचरेत्। हृजयाम्बुजे मानस-संपादिताग्नौ मानसचन्दनादिभिर्होमानन्तरं मूलाधारोपरि अर्थात् स्वाधिष्ठाने स्थिते कुण्डे देवतारूपेऽग्नौ धर्माधर्मेन्धनैधिते त्र्यस्रे मूलमन्त्रपुरःसरममुं जुहोमि स्वाहेति च जुहुयात्।

हिंसां नास्तिक्यमज्ञानमदयां दम्भकैतवे ।
व्रात्यत्वमनृजुत्वं च दारिद्र्यं शोकमत्सरौ ।
अहन्ताऽसत्यपैशुन्यकामक्रोधमदान् रुजम्
अक्षमां चामिताहारं भयं निद्रां सुखेतरत्
अधैर्यं दुष्टसंतापनीचसङ्गमविद्यताम्
आसुरं भावमित्यष्टाविंशत्याहुतिभिर्हुनेत् ॥

अन्तर्निरन्तरनिरिन्धनमेधमाने मोहान्धकारपरिपन्थिनि संविदग्नौ कस्मिंश्चिदद्भुतमरीचिविकाशभूमौ विश्वं जुहोमि वसुधादिशिवावसानम्।

इत्यनेनैकां पूर्णाहुतिं दद्यात्। ततो यथेच्छं तन्मयो भूत्वा जपित्वा सावित्र्यै तं समर्पयेत्। ततो देवरूपो भूत्वा किंचित्क्षणं तिष्ठेत्

आत्मपूजा

ततः गायत्रीमुच्चार्य सजलेन पवित्रेण मूलाधारे हृदि भ्रूमध्ये च संप्रोक्ष्य स्वशरीरे मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं दशप्रणवयुक्तां चतुष्पदां गायत्रीमुच्चारयन्नेव तत्रैवाखण्डदण्डायमानतेजोरूपां विभाव्य तत्तेजोभिरेकीभूतमानन्दघनं गुरुदेवतानामभेदेन सावयवीकृतं स्वशरीरं निर्मलं मत्वा गन्ध-

(पृ. २४९) मध्यत्रिकोण स्वयं शक्तिरूप है। उसके बाहर तीन त्रिकोणोंमें भूः भुवः स्वः का, उसके बाहर अष्ट त्रिकोणोंमें गायत्रीके तीन-तीन अक्षरों का स्वरद्वय संपुटित कर- अं तत्सवि आं, इं तुवरे ईं इत्यादिरीति पूरे गायत्र्यक्षरोंका, वृत्तमें परोरजसेऽसावदों का, उसके चारों बाह्य कोणोंमें ॐ महः ॐ जनः इत्यादि चारका, एवं भुनत्रयके बाहर कंखं आदि पैंतीस व्यञ्जनोंका चिन्तन करें। त्रिकोणमध्यमें गोलाकार महातेजोमण्डलका

पुष्पधूपदीपैर्दर्भाम्बुभिर्वाऽऽत्मानं पूजयित्वा योगपीठं च मत्वा तत्तन्मन्त्रैस्तत्तत्स्थानं पूजयित्वा योगपीठं च मत्वा तत्तन्मन्त्रैस्तत्तत्स्थानं संप्रोक्ष्योत्तमाङ्गे हृदये मूलाधारे पदद्वये चेति पञ्चसु स्थानेषु पञ्चकृत्वः पुष्पाञ्जलिं दत्वा सवितृरूपमात्मानं ध्यात्वा वर्णाक्षमालया रुद्राक्षमालया वाऽष्टोत्तरशतमष्टाविंशतिवारं वा जपित्वा पुनः प्राणायामत्रयं कृत्वा ध्यात्वा च देव्या हस्ते जपं तेजोमयं निवेदयेत्।

ॐ गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम् ।
सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादात्करस्थिता ॥

इति जपं निवेद्य चतुर्विंशतिमुद्राः प्रदर्शयेत्।

सुमुखं संपुटं चैव विततं विस्तृतं तथा ।
द्विमुखं त्रिमुखं चैव चतुष्पञ्चमुखे तथा ।
षण्मुखाधोमुखे चैव व्यापकाञ्जलिकं तथा ।
शकटं यमपाशं च ग्रथितं संमुखोन्मुखम् ।
विलम्बो मुष्टिको मीनस्तथा कूर्मवराहके
सिंहाक्रान्तं महाक्रान्तं ततो मुद्गरपल्लवौ ।

एताश्चतुर्विंशतिमुद्राः। ता महाजनसमागमे न दर्शयेदिति महासंहितायाम्।

ततो गायत्रीकवचं पठेत्

अस्य श्रीगायत्रीकवचस्य ब्रह्मा ऋषिः गायत्रीछन्दः गायत्री देवता ॐ भूः रें बीजम्, ॐ भुवः णिं शक्तिः, ॐ स्वः यं कीलकम्।

ध्यान कर उसीमें (पृ. २५०) "मुक्ताविद्रूम०" इत्यादिसे सावित्रीका ध्यान करें। चिन्तनक्रम यह होगा कि हृदयकमलमें योगपीठ है। उसमें अमृतसमुद्र है। उसके मध्य मणिद्वीप है। वहां सुवर्णपर्वतपर सुवर्णप्राकारसे वेष्टित नन्दनोद्यान है। वहां चिन्तामणिमण्डपमें रत्नसिंहासन है। उसपर पूर्वोक्त चक्रराज है। उसके मध्यमें वर्तुलाकार कोटिसूर्यप्रभ स्थानमें बालसूर्यसमान तेजस्वी त्रिनयना पञ्चमुखी दशभुजा वराभयादि दायिनी दिव्य प्रसन्न आवरणदेवतादिपरिवृत सर्वाभीष्टदायिनी सर्वपापहारिणी भगवती सावित्री विराजमान है। आत्मैक्यसे सावित्रीका ध्यानकर मूलादि उच्चारणपूर्वक लं पृथिव्यात्मने गन्धं समर्पयामि इत्यादि पंचोपचार पूजा करें और यथाशक्ति यथासंकल्प जप करें गुह्यातिगुह्यगोप्त्री इत्यासि जप देवीको समर्पण करें और फिर मानस याग करे। तदर्थ तीन प्राणायामकर हृदयाम्बुजमें

पञ्चवक्त्रां दशभुजां सूर्यकोटिसमप्रभाम् ।
सावित्रीं ब्रह्मवरदां चन्द्रकोटिसुशीतलाम् ।
त्रिनेत्रां सितवक्त्रां च मुक्ताहारविराजिताम् ।
वराभयाङ्कुशकशापानपात्राक्षमालिकाः
शंखं चक्राब्जयुगलं कराभ्यां दधतीं पराम् ।
सितपङ्कजसंस्थां च हंसारुढां सुखस्मिताम्
ध्यात्वैवं मानसाम्भोजे गायत्रीकवचं जपेत् ।
ॐ ब्रह्मोवाच- विश्वामित्र महाप्राज्ञ गायत्रीकवचं श्रृणु।
यस्य विज्ञानमात्रेण त्रैलोक्यं वशयेत् क्षणात् ॥१॥
सावित्री मे शिरः पातु शिखायाममृतेश्वरी ।
ललाटं ब्रंह्मदेवत्या भ्रुवौ मे पातु वैष्णवी ॥२॥
कर्णौ मे पातु रुद्राणी सूर्या सावित्रिकाऽम्बके
गायत्री वदनं पातु शारदा दशनच्छदे ॥३॥
द्विजान् यज्ञप्रिया पातु रसनां मे सरस्वती ।

(पृ. २५१) प्रवेशकर बाह्ययागके समान अर्घ्यस्थापनादि करें। अन्तमें मानसहवन करें। भोजनपूर्व मानसवैश्वदेव भी करना चाहिये। इधर मानसहोमोत्तर स्वाधिष्ठानस्थ अग्निकुण्डमें मूलके साथ हिंसां जुहोमि नास्तिक्यं जुहोमि इत्यादि अट्ठाईस आहुतियां देकर हिंसादि दोषोंको भस्म करें। इसके बाद "अन्तर्निरन्तर०" इत्यादि पढ़कर एक पूर्णाहुति दें। फिर तन्मय होकर थोड़ा जप कर उसे सावित्रीको समर्पित करें। फिर स्वयं अपनेको देवीस्वरूप समझते हुए कुछ क्षण बैठें। फिर आत्मपूजा करें। गायत्री बोलकर सजलपवित्री से मूलाधार, हृदय और भ्रूमध्यमें प्रोक्षणकर मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्रतक अखण्डदण्डायमान तेजोरूप गायत्रीका चिन्तन करते हुए ही दस प्रणववाली चतुष्पदा गायत्री उच्चारण करें। उसी दण्डायमान तेजके साथ एकीभूत गुरु, मन्त्र एवं देवताको अपने साथ अभिन्न कर स्वशरीरको निर्मल समझते हुए गन्ध (पृ. २५२) पुष्प धूप दीपादिसे दर्भ जलसे अपनी पूजा करें तथा योगपीठका चिन्तन कर पूर्वोक्त मन्त्रों से पूर्वोक्त स्थानोंमें प्रोक्षण कर मस्तक हृदय, मूलाधार, दो पाद इन पांच स्थानोंमें पांच पुष्पाञ्जलि दें। फिर अपनेको सवितास्वरूप देखते हुए वर्णाक्षमाला या रुद्राक्षमालासे अष्टोत्तरशतादि जप करें। फिर

सांख्यायनी नासिका मे कपालौ चन्द्रहासिनी ॥४॥
चिबुकं वेदगर्भा च कण्ठं पात्वघनाशिनी।
स्तनौ पातु म इन्द्राणी हृदयं ब्रह्मवादिनी ॥५॥
उदरं विश्वभोक्त्री च नाभौ पातु सुरप्रिया ।
जघनं नारसिंही च पृष्ठं ब्रह्माण्डधारिणी ॥६॥
पार्श्वौ मे पातु पद्माक्षी गुह्यं गोगोप्त्रिकाऽवतु ।
ऊर्वोरोंकाररूपा च जान्वोः सन्ध्यात्मिकाऽवतु ॥७॥
जङ्घयोः पातु अक्षोभ्या गुल्फयोर्ब्रह्मशीर्षका ।
सूर्या पादद्वयं पातु चन्द्रा पादाङ्गुलीषु च ॥८॥
सर्वाङ्गं वेदजननी पातु मे सर्वदाऽनघा ॥९॥
इत्येतत् कवचं ब्रह्मन् गायत्र्याः सर्वपावनम्
पुण्यं पवित्रं पापघ्नं सर्वरोगनिवारणम् ॥१०॥
त्रिसन्ध्यं यः पठेद्विद्वान् सर्वकामानवाप्नुयात्
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः संभवेद् वेदवित्तमः ॥११॥
सर्वयज्ञफलं प्राप्य ब्रह्मान्ते समवाप्नुयात् ।
प्राप्नोति जपमात्रेण पुरुषार्थांश्चतुर्विधान् ॥१२॥

एवं कवचं जपित्वा गायत्रीचतुर्थपादमन्त्रं जपेत् ।

अस्य श्री गायत्रीचतुर्थपादस्य विमल ऋषिः, गायत्री छन्दः, परब्रह्म परमात्मा देवता, श्री गायत्रीचतुर्थपादजपे विनियोगः।

ॐ परो अङ्गुष्ठाभ्यां नमः हृदयाय नमः
ॐ रजसे तर्जनीभ्यां नमः शिरसे स्वाहा
ॐ असावदों मध्यमाभ्यां नमः शिखायै वषट्
ॐ परोरजसे अनामिकाभ्यां नमः कवचाय हूं
ॐ असावदों कनिष्ठिकाभ्यां नमः नेत्रत्रयाय वौषट्
ॐ परोरजसे असावदों करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः अस्त्राय फट्

(पृ. २५२) तीन प्राणायाम तथा ध्यान करके "गुह्यातिगुह्यगोप्त्री" इत्यादिसे देवीके हाथमें उस जपको निवेदन करें। तथा चौबीस मुद्रायें सुमुख संपुट आदि प्रदर्शित करें। महाजनसमागम होनेपर न दिखायें ऐसा महासंहितामें बताया है। इसके बाद गायत्री कवच पढ़े। प्रथम विनियोग फिर पञ्चवक्त्रां इत्यादि ध्यान बादमें विश्वामित्र महाप्राज्ञ इत्यादि कवच पढ़ें। कवच जप

ॐ परो रजसे असावदों सर्वाङ्गे

ध्यानम्- दशहस्तां पञ्चवक्त्रां कोटिसूर्यसमप्रभाम्।
पद्महस्तां वेदगर्भां ब्रह्मरूपां हृदि स्मरेत्॥

इति ध्यात्वा मानसोपचारैः पूजयित्वाऽष्टवारं चतुर्थपादजपं कृत्वा विसर्जनमुद्रां दर्शयेत्।

सुरभिर्ज्ञानशूर्पौ च योनिः कूर्पोऽथ पङ्कजम्।
लिङ्गं निर्वाणमुद्रा च जपान्तेऽष्टावुदाहृताः॥

अथ वसिष्ठशापमोचनम्

अस्य श्रीवसिष्ठशापमोचनमन्त्रस्य विश्वामित्र ऋषिः गायत्री छन्दः सूर्यो देवता वसिष्ठशापमोचनार्थे जपे विनियोगः।

ॐ अहो देवि महादेवि सन्ध्ये विद्ये सरस्वति।
अजरे अमरे चैव ब्रह्मयोने नमोऽस्तु ते॥

वसिष्ठशापाद्विमुक्ता भव। तत आचम्य तर्पणं कुर्यात्।

गायत्रीतर्पणम्

ॐभूर्भुवःस्वःपुरुषमृग्यजुःसाममण्डलान्तर्गतसवितारमावाहयामि" इत्यावाह्य

(१) ॐ भूः पुरुषम् ऋग्वेदं तर्पयामि
(२) ॐ भुवःपुरुषं यजुर्वेदं तर्पयामि
(३) ॐ स्वः पुरुषं सामवेदं तर्पयाामि
(४) ॐ महःपुरुषं अथर्ववेदं तर्पयामि
(५) ॐ जनपुरुषम् इतिहासपुराणं तर्पयामि
(६) ॐ तपःपुरुषं सर्वागमं तर्पयामि
(७) ॐ सत्यपुरुषं सर्वलोकं तर्पयामि
(८) ॐ भूर्भुवःस्वः पुरुषं ऋग्यजुः साममण्डलान्तर्गतं तर्पयामि
(९) ॐ भूरेकपादं गायत्रीं तर्पयामि
(१०) ॐ भुवः द्विपादं गायत्रीं तर्पयामि
(११) ॐ स्वः त्रिपादं गायत्रीं तर्पयामि
(१२) ॐ भूर्भुवः स्वः चतुष्पादं गायत्रीं तपर्यामि

(पृ. २५४) करनेके बाद गायत्रीके चतुर्थ पादका जप करें। विनियोग कर ॐ परो अङ्गुष्ठाभ्यां नमः इत्यादि करन्यास एवं हृदयादिन्यासकर, दशहस्तां इत्यादि ध्यान करें और मानसोपचारोंसे पूजन करके आठ बार चतुर्थपाद जप करके विसर्जन मुद्रा दिखायें। सुरभि आदि आठ विसर्जन मुद्रा हैं। इसके बाद विनियोगपूर्वक ॐ अहो देवि इत्यादि मन्त्रसे वसिष्ठशाप-विमोचन करें। उसके बाद आचमन कर ॐ भूर्भुवः स्वः इत्यादिसे आवाहन कर ॐभूः पुरुषमृग्वेदं तर्पयामि इत्यादि मन्त्र बोलकर चौबीस बार गायत्री-

(१) ॐ उषसं तर्पयामि	(७) ॐ जयां तर्पयामि
(२) ॐ गायत्रीं तर्पयामि	(८) ॐ कौशिकीं तर्पयामि
(३) ॐ सावित्रीं तर्पयामि	(९) ॐ सांकृतिं तर्पयामि
(४) ॐ सरस्वतीं तर्पयामि	(१०) ॐ सर्वापराजितां तर्पयामि
(५) ॐ वदमातरं तर्पयामि	(११) ॐ सहस्रमूर्तिं तर्पयामि
(६) ॐ पृथिवीं तर्पयामि	(१२) ॐ अनन्तमूर्तिं तर्पयामि

एभिर्मन्त्रैश्च यो न्तियं चतुर्विंशतिभिर्द्विजः
सुतर्पयति गायत्रीं स सन्ध्याफलमाप्नुयात्

मध्याह्नसन्ध्या

प्रायः प्राग्वत्। द्विराचमनम्। प्राणायामः। संकल्पः। आपोहिष्ठेति मार्जनम्। आपः पुनन्त्वित्याचमनम्। ऋतं चति तृचेनाघमर्षणम्।

सकृदर्घ्यं तु मध्याह्ने प्रक्षिपेध्दंस इत्यृचा।
त्रिर्वाऽऽकृष्णेन मन्त्रेण गायत्र्या चेति केचन।

तत्र तर्पणम् सावित्र्याः

(१) ॐ भुवः पुरुषं तर्पयामि	(८) ॐ युवतिं तर्पयामि
(२) ॐ यजुर्वदं तर्पयामि	(९) ॐ रौद्रीं तर्पयामि
(३) ॐ मण्डलं तर्पयामि	(१०) ॐ उषसं तर्पयामि
(४) ॐ रुद्ररूपं तर्पयामि	(११) ॐ निम्रुजं तर्पयामि
(५) ॐ अन्तरात्मानं तर्पयामि	(१२) ॐ सवार्थसिद्धिदां तर्पयामि
(६) ॐ सांकृतिं तर्पयादि	(१३) ॐ सर्वसत्राधिपतिं तर्पयामि
(७) ॐसन्ध्यां तर्पयामि	

ॐ भूर्भुवःस्वःपुरुषमृग्यजुःसाममण्डलान्तर्गतं सवितारमावहयामि तर्पण करें। गायत्रीतर्पणसे सन्ध्याका फल हो जाता है। मध्याह्न सन्ध्या प्रायः प्रातःसन्ध्याके समान ही है। दो आचमन प्राणायाम, संकल्प, मार्जन तथा आचमन। ऋतं च इत्यादिसे अघमर्षण होता है।' हंसः इत्यादि मन्त्रसे एक अर्घ्य दें, ऐसी भी मान्यता है। ॐ भुवः पुरुषं तर्पयामि इत्यादि तेरह तर्पण करें। सविताके आवाहनपूर्वक चौबीस तर्पण पूर्ववत् ही है। इसके बाद दो आचमन कर उदुत्यं जातवेदसं इत्यादि तेरह ऋचाओंको चित्रं देवानामुदगात् इत्यादि छः ऋचाओंको या हंस इत्यादि मन्त्रको बोलकर उपस्थान करें।

(१) ॐ भूःपुरुषमृग्वेदं तर्पयामि इत्यादि गायत्रीतर्पणं प्राग्वत्

(२) ॐ भुवः पुरुषं यजुर्वेदं तर्पयामि

द्विराचम्य उदुत्यमिति त्रयोदशर्चं सूक्तं, चित्रं देवानामिति षडृचं, हंसः शुचिषदिति चोपस्थानम्।

सायं सन्ध्या

आचमनप्राणायामौ मार्जनम्

ॐ अग्निश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्तां यदह्ना पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना अहस्तदवलुम्पतु। यत्किंच दुरितं मयि इदमहममृतयोनावग्नौ ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा।

तर्पणं सरस्वत्याः

ॐ स्वः पुरुषं सामवेदमण्डलं विष्णुरूपं तर्पयामि

(१) ॐ परमात्मानं तर्पयामि

(२) ॐ सरस्वतीं तर्पयामि

(३) ॐ वेदमातरं तर्पयामि

(४) ॐ संकृतिं तर्पयामि

(५) ॐ सन्ध्यां तर्पयामि

(६) ॐ स्थविरां तर्पयामि

(७) ॐ वैष्णवीं तर्पयामि

(८) ॐ उषसं तर्पयामि

(९) ॐ निम्रुचं तर्पयामि

(१०) ॐ सर्वार्थसिद्धिकरीं तर्पयामि

शेषं प्राग्वत्। उपस्थाने विशेषः। एता ऋचः यथासंभवं प्रयोक्तव्याः।

यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम्।
मिनीमसि द्यवि द्यवि। इत्यादि दशर्चम्
इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय।
त्वामवस्युराचके।
तत्त्वायामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेडमानो वरुणेह बोद्ध्युरुशँ्स मान आयुः प्रमोषीः।
वयमद्येन्द्रस्य प्रेष्ठा वयँ्श्वो वोचेमहि समर्ये।

सायं सन्ध्यामें सूर्यश्च मा मन्युश्चके स्थानपर अग्निश्च मा मन्युश्च इत्यादि मन्त्र है। सायं सन्ध्यामें सरस्वतीका तर्पण ॐ स्वः पुरुषं इत्यादि मन्त्रोंसे होता है। उपस्थानमें यच्चिद्धि ते इत्यादि दश ऋचाओंका सूक्त बोला जाता है। और इमं मे वरुणं श्रुधी इत्यादि ऋचाको, तत्त्वायामि इत्यादि ऋचाको और वयमद्येन्द्रस्य इस ऋचाको बोला जाता है। यथासंभव

वयं पुरा महि च चो अनुधून्तन्न ऋभुक्षा नरा मनुष्यात्

अथ यथोचितकाले सन्ध्यां कर्तुमशक्तश्चेत्-

सूर्यमण्डलं ध्यायन् मनसैव तत्तत्काले

"ॐ ऐं ह्रीं श्रीं परमदुष्करकर्मच्छेदिनि अघोरे वरदे विद्ये माये त्रैलोक्यरूप-सहस्रपरिवर्तिनि मातृगणे झ्लूं श्री ह्रीं ऐं ॐ" इति जपेत्।

इति गायत्र्युपासना

अथ गायत्री पूजनम् (बहिर्यागः)

प्रातःसन्ध्यानन्तरं मूला(न)भिमन्त्रितेन जलेनाचम्य गुरु-दिक्-पति-ग्रहान् प्रणम्य मौनी देवीं हृदयकमले ध्यायन् मूलं वा जपन् यागमण्डप-मागच्छेत्। मण्डपविरहे यागमण्डपं मनसा परिकल्पयेत्। अथ सूर्यार्घ्यविधिः। तत्र प्राङ्गणैकदेशे मूलमन्त्राभिमन्त्रितेन जलेन हस्तौ पादौ च प्रक्षाल्य सुखासन उपविष्टो द्विराचम्य प्राणायामत्रयं कृत्वा-

अस्य श्री सौराष्टाक्षरमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः, गायत्री छन्दः, आदित्यो देवता, सूयार्घ्यप्रदाने प्राणायामे विनियोगः। "ॐ घृणिः सूर्य आदित्यों" इत्यनेन प्राणायामत्रयं कुर्यात्। ततः गायत्रीमन्त्रस्य षट्कोणवृत्तात्मकं मण्डलं निर्माय तत्र ॐ ब्रह्मविष्णुशिवात्मकसौराय योगपीठाय नमः इति संपूज्य गायत्रास्त्रमन्त्रेण शुभोदकैः पात्रं पूरयित्वा सूर्यमन्त्रेण कुङ्कुमचन्दनपुष्प-दूर्वाक्षतान् निक्षिप्य संकल्प्य सूर्यमन्त्रं लिखित्वा तदुपरि सूर्यं ध्यात्वा आवाहनादिकं कृत्वा सूर्यमन्त्रमुच्चार्य "साङ्गाय सूर्याय नमः" इति संपूज्य सोमादीनष्टौ ग्रहांश्च पूर्वादिमण्डलाकारेण संपूज्य कराभ्यां पात्रमाच्छाद्य सूयमन्त्रं द्वादशवारं जपित्वा पुनः सूर्यं संपूज्य गन्धादि निवेद्य सूर्यमण्डले देवीं ध्यात्वा जानुभ्यामवनिंगत आमस्तकमर्घ्यपात्रमुत्तोल्य व्योम्नि सावरणे रवौ स्वैक्येन दृष्टिं निपात्य "ॐ ह्रां ह्रीं सः घृणिः सूर्य आदित्यों ग्रहनक्षत्र-परिवृताय मार्तण्डभैरवाय प्रकाशशक्तिसहिताय द्वादशकलात्मने गायत्री-रूपिणे सूर्यायैषोऽर्घ्यः स्वाहा" इति पुरतोऽर्घ्यं दद्यात्। ततः पुष्पाञ्जलिं, सूर्य-मन्त्रजपं, तत्समर्पणं, 'भानो क्षमस्व' इति क्षमापनं, संहारमुद्रया विसर्जनं च कुर्यादिति सूर्यार्घ्यविधिः।

बोलना चाहिये। यथासमयमें यदि सन्ध्यावन्दन करनेमे अडचन हो या असमर्थता हो तो सूर्यमण्डलका ध्यान कर मनसे ही ॐ ऐं ह्रीं श्रीं इत्यादि मन्त्रका जप कर लेना चाहिये। इति गायत्र्युपासना ॥

अथ सामान्यर्घ्यविधिः

देहल्याग्रतश्चतुरस्र-वृत्त-त्रिकोणमण्डलं कृत्वा अस्त्रमन्त्रेण ताम्रादिपात्रं प्रक्षाल्य साधारं स्थापयित्वा हृदयमन्त्रेण शुभोदकेनाऽऽपूर्य गङ्गे चेत्यादि-मन्त्रेणाऽङ्कुशमुद्रया सूर्यमण्डलात्तत्र तीर्थमावाह्य ॐकारमुच्चरन् गन्धपुष्पे समर्प्य प्रणवेन त्रिरभिमन्त्र्य धेनुमुद्रां प्रदर्शयेदिति सामान्यार्घ्यविधिः सर्वत्र।

अथ द्वारपूजा

तदर्घोदकैरस्त्रमन्त्रेण द्वारमभ्युक्ष्य गन्धाक्षतपुष्पैरम्बुपुष्पाभ्यां वा द्वारदेवताः पूजयेत्। द्वारस्योर्ध्वशाखायां-

ॐ विघ्नेशाय नमः ॐ महालक्ष्म्यै नमः ॐ सरस्वत्यै नमः

दक्षिणशाखायां-गणेशाय नमः । वामशाखायांः-क्षेत्रेशाय नमः

दक्षिणशाखायां-गङ्गायै नमः। वामशाखायां यमुनायै नमः

दक्षिणशाखायां-धात्रे नमः। वामशाखायां विधात्रे नमः

दक्षिणशाखायां-शंखनिधये नमः । वामशाखायां पद्मनिधये नमः

अधोदेहल्यां-अस्त्रदेवतायै नमः

एवमेव पूर्व-दक्षिण-पश्चिमोत्तरद्वारेषु चतुर्षु पूजयित्वा तत्तद्द्वाराधिपान् मन्त्रैर्यजेत्। देहल्यग्रतो दक्षिणवामक्रमेण

पूर्वद्वारे :-ॐ ब्रह्मयै नमः, ॐ माहेश्वर्यै नमः

दक्षिणद्वारेः- ॐ कौमार्यै नमः ॐ वैष्णव्यै नमः

पश्चिमद्वारेः- ॐ वाराह्यै नमः ॐ इन्द्राण्यै नमः

उत्तरद्वारेः- ॐ महालक्ष्म्यै नमः ॐ चामुण्डायै नमः

ततो मूलमन्त्रमस्त्रं वा जपन् दिव्यदृष्ट्या दिव्यान्, ऊर्ध्वोर्ध्वतालत्रयेण आन्तरिक्षान् वामपार्ष्णिघातैस्त्रिभिर्भौमांश्च विघ्नानुत्सार्य, अङ्गं संकोचयन् दक्षिणांसेन द्वारशाखां स्पृशन् निजवामपादपुरःसरं गृहान्तः प्रविशेत्।

कांस्यघण्टास्वनं कृत्वा द्वारमाच्छाद्य वाससा ।
पञ्चगव्यार्घ्यतोयाभ्यां प्रोक्षयेन्मण्डपान्तरम् ॥

मण्डपान्तः बहिर्वेद्याम् उपविश्य नैऋत्यां ॐ ब्रह्मणे नमः ॐ वास्तुपुरुषाय नमः इति संपूज्य कृताञ्जलिः-

ॐ देवि त्वं प्राकृतं चित्तं पापाक्रान्तमभून्मम ।
तन्निःसारय चित्तान्मे पापं हुं फट् नमोऽस्तु ते ।

सोमः सूर्यो यमः कालो महाभूतानि पञ्च च ।
एते शुभाशुभस्येह कर्मणो नव साक्षिणः ॥

इति पठित्वा हुं फट् इति क्रोधदृष्ट्या पार्श्र्वद्वयमूर्ध्वमधश्च निरिक्ष्य सुमना भवेत्। ततः सिद्धार्थाक्षतकुसुमं सप्तधाऽभिमन्त्रितम् अस्त्रमन्त्रं पठन् गृहमध्ये निक्षिपेत्

तीक्ष्मदंष्ट्र महाकाय कल्पान्तदहनोपम ।
भैरवाय नमस्तुभ्यमनुज्ञां दातुमर्हसि ॥

इति भैरवाज्ञां गृहित्वा "अः फट्" इति मन्त्रेण वेद्यां गत्वा देव्याः पूजनस्थानं विशोधयेत्। गायत्र्या भूमिमभिमन्त्र्य निरीक्ष्य च अस्त्रमन्त्रेण प्रोक्ष्य दर्भैस्ताडयित्वा कवचमन्त्रेणाभ्युक्षेदिति चतुर्विधः संक्षारो भुवः। ततश्चन्दनागुरुगन्धाद्यैर्धूपयेन्मण्डपान्तरम्। ततो देव्यासनस्थानात् समीपे स्वासनस्थाने गायत्रीं प्रणवं वा विलिख्य तत्र पुष्पं दत्त्वा तदुपरि स्वासनमास्तीर्य तस्य पूर्वविभागे- 'ॐ भूः' इति, दक्षिणे-'ॐ भुवः इति, पश्चिमे-ॐ स्वः इति, उत्तर-ॐ भूर्भुवः स्वः इति च लिखित्वा पृथिव्यन्तमासनं संपूज्य "पृथ्वि त्वया धृता" इत्यभ्युक्ष्य ॐ आधारकमलासनाय नमः' इति गन्धपुष्पैः पूजयेत्

तस्मिन्नासने सम्यगुपविश्य स्वासनस्याग्नेये कोणे- गं गणपतये नमः। नैऋत्ये- सं सरस्वत्यै नमः; वायव्ये-दुं दुर्गायै नमः, ऐशान्ये- क्षां क्षेत्रपालाय नमः इति नमस्कृत्य शिव-हरि-सूर्याऽग्नि-ज्वलद्दीपानां समस्तानामेकतमस्य वा सांनिध्यं प्रकल्प्य; स्वे दक्षिणभागे पूजाद्रव्याणि, वामे सुवासिजलकुम्भं स्थापयेत्। पृष्ठतः प्रक्षालनपात्रं, परितः घृतादिज्वलितदिपान्, पुरतो दर्पणचामरच्छत्रपादुकादीन्, अन्यानि होमद्रव्याणि यथास्थानम्। तानि नेत्रमन्त्रेण विलोक्य "रं स्वाहा" इति दीपशिखां स्पृष्ट्वा, 'क्ष्रौं स्वाहा' इत्यङ्गुल्यग्रेण जलं स्पृष्ट्वा, "आं स्वाहा" इति तत्पात्रं स्पृशेत्। इति पूजाद्रव्यशुद्धिः।

ततः कृताञ्जलिः- वामे- ॐ गुं गुरुभ्यो नमः, दक्षिणे- गं गणपतये नमः, अग्रे-श्रीमत्सवितृमण्डलान्तर्गतगायत्र्यै नमः।

ततः करशुद्ध्यादिः। गन्धपुष्पाभ्यां करौ संमार्ज्य वामहस्तेन निर्मथ्याऽऽघ्राय तत् पुष्पमुत्तरस्यां दिशि क्षिपेदिति।

ततः ॐ तत्सवितुर्ब्रह्मात्मने अङ्गुष्ठाभ्यां नमः इति रीत्या करन्यासं ततः पूर्ववत् प्राणायामं च कुर्यात्। ततो दशधा गायत्रीं जपित्वा योनिमुद्रया प्रणम्य बाह्यपूजामारभेत। तत्रादौ यन्त्रोद्धारः

बिन्दु—त्रिकोण-षट् कोण-वृत्तत्रय-चतुर्द्वारयुक्तचतुरस्रद्वयात्मको यन्त्रः। तत्र बैन्दवे चतुर्विंशत्यक्षरां गायत्रीं त्रिकोणे भूरादित्रयं चतुष्कोणे महर्जनस्तपः-सत्यं च लिखित्वा, शिरोमन्त्रेण संवेष्ट्य, ॐ नमः सिद्धम् अं आं इं ई..........हं ळं क्षं ज्ञं इति सबिन्दुकान् मातृकावर्णान् पूर्वादिप्रादक्षिण्येन वीथ्यन्तराले त्रयं विलिखेत्। तं यन्त्रं मूलेन पुष्पं दत्वा पुरतः स्थापयेत्।

अथार्घ्यस्थापनम्।

पूवोक्तविधिना आत्माग्रतः किंचिद्वामभागे सामान्यार्घ्यं स्थापयेत्। तदीयचक्रस्य दक्षिणे सामान्यार्घ्यजलेनैव चतुरस्रवृत्तषट्कोणत्रिकोणात्मकं मण्डलं मत्स्यमुद्रया निर्माय-ॐ श्रीमद्गायत्रीदेवताया अर्घ्याधारमण्डलाय नमः इति पुष्पाक्षतैः संपूज्य तस्याङ्गानि पूजयेत्।

आग्नेये-हृदयाय नमः, नैर्ऋत्ये शिरसे स्वाहा, वायव्ये-शिखायै वषट् ऐशान्ये-कवचाय हूं, मध्ये नेत्रत्रयाय वौषट्, पूर्वादिचतुर्दिक्षु-अस्त्राय फट्

इति मण्डलं पूजयित्वा; मूलविद्यया त्रिपादिकां प्रक्षाल्य, तत्र पात्रं निधाय ॐ मं वह्निमण्डलाय दशकलात्मने गायत्र्यर्घ्यपात्रायनमः इति तत्पात्रं संपूज्य ॐ क्षं स्वाहा, ॐ ळं स्वाहा इति रीत्या क्षकाराद्यकारान्तां विलोमां स्वाहावसानां मातृकां जपन्, तदशक्तः केवलां गायत्रीं त्रिरुच्चरन्नर्घ्यपात्रं पूरयेत्। ततः- "ॐ सोममण्डलाय षोडशकलात्मने श्रीमद्गायत्र्यर्घ्यमृताय नमः इत्यर्घ्यजलं संपूज्य "गङ्गे च यमुने चैव" इति तीर्थमन्त्रेणाङ्कुशमुद्रया तत्र तीथान्यावाह्य, 'शिखायै वषट्' इति गालिनीमुद्रां प्रदर्श्य गन्धाष्टकेन लोलितं पुष्पं निक्षिप्य धेनुमुद्रयाऽमृतीकृत्य गायत्र्या महामुद्रया परमीकुर्यात्।

शिह्लां गोलोचनं चन्द्रं मांसी कुङ्कुमकेसरे ।
कस्तूर्युशीरं मलयं गन्धाष्टकमुदाहृतम् ॥

ततस्तत्रार्घ्यजले निजेष्टदेवतां ध्यात्वा षडङ्गन्यासेन सकलीकृत्य अस्त्र-मन्त्रेण छोटिकाभिर्दिग्बन्धनं कुर्यात्। नेत्रमन्त्रेण निरिक्ष्य शंखमुद्रयाऽवष्टभ्य मूलेनावगुण्ठ्य, मूलं-श्रीमदाराध्यदेवतायै गायत्र्यै नमः" इति गन्धाक्षतपुष्पै-र्देवीं पूजयित्वा गन्धपुष्पधूपदीपान् यथामति निवदयेत्। ततस्तदुपरि मूल-मन्त्रमष्टधा जपन् मत्स्यमुद्रयाऽऽच्छादयेदिति विशेषार्घ्यविधिः। ततः सामान्यार्घ्यजले विशेषार्घ्यजलबिन्दुं निक्षिपेत्।

ततो दक्षिणे प्रोक्षणीपात्रं स्थापयित्वा जलेनाऽऽपूर्य तत्र विशेषार्घ्य-जलबिन्दुं निक्षिप्य तेनोदकेन मूलं-आत्मतत्त्वात्मने नमः, मूलं विद्यातत्त्वा-

त्मने नमः, मूलं शिवतत्त्वात्मने नमः इति स्वशरीरं त्रिः प्रोक्ष्य गायत्र्या आत्मानं पूजोपकरणं चाभ्युक्षेत्। एतदर्घ्यपात्रं पूजापवर्गपर्यन्तं न चालयेत्।

अथात्मपूजा

प्रोक्षणीजलान्वितपुष्पेण गायत्रीमुच्चार्य मूलाधारे, हृदये, भ्रूमध्ये च संपूज्य मूलादिब्रह्मारन्ध्रान्तं गायत्रीमखण्डदण्डायमानतेजोरूपां विभाव्य यत्तत्तेजोभिरेकीभूतमानन्दघनं गुरुमन्त्रदेवतानामभेदेन सावयवीकृतशरीरं निर्मलं मत्वा गन्धपुष्पधूपदीपैरात्मानं पूजयित्वाऽलंकारैर्भूषयित्वा पुनः पीठन्यासक्रमेण तत्तत्थानेषु तत्तन्नाममन्त्रैः प्रोक्षणीयजलान्वितपुष्पैर्वा केवलपुष्पादिना वा मण्डुकाधारादि स्वदेहे योगपीठं पूजयित्वा तत्र गायत्रीं धयात्वा गायत्र्या संपूज्य गायत्रीमुच्चार्य उत्तमाङ्गे हृदये मूलाधारे पादद्वये सर्वाङ्गे चेति पञ्चसु स्थानेषु पञ्चपुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्। ततोऽन्तर्यागपुरः-स्वरमृष्यादिन्यापूर्वकं गायत्रीरूपमात्मानं ध्यायन् यथाशक्ति जपित्वा समर्पयेत्। ततोऽनुज्ञां गृहीत्वा "भो गायत्रीदेवि त्वामावाह्य पीठे पूजयामि" इत्युक्त्वा

अथ योगपीठपूजा

पूर्वनिर्मितयथोचितगायत्रीयन्त्रमध्येऽर्घ्योदकेन संप्रोक्ष्य तत्रैव सर्वाधस्तादार-भ्योपर्युपरि पूजयेत्। तद्यथा–

(१) ॐ मण्डूकाधाराय नमः
(२) ॐ कालाग्निरुद्राय नमः
(३) ॐ मूलप्रकृत्यै नमः
(४) ॐ आधारशक्त्यै नमः
(५) ॐ कूर्माय नमः
(६) ॐ अनन्ताय नमः
(७) ॐ वराहाय नमः
(८) ॐ पृथिव्यै नमः
(९) ॐ अमृतार्णवाय नमः
(१०) ॐ रत्नद्वीपाय नमः
(११) ॐ स्वर्णपर्वताय नमः
(१२) ॐ कल्पोद्यानाय ममः
(१३) ॐ नानारत्नमयभूमिकायै नमः
(१४) ॐ मणिमण्डपाय नमः
(१५) ॐ कल्पवृक्षाय नमः
(१६) ॐ रत्नवेदिकायै नमः
(१७) ॐ रत्नसिंहासनाय नमः
(१८) ॐ धर्माय नमः
(१९) ॐ ज्ञानाय नमः
(२०) ॐ वैराग्याय नमः
(२१) ॐ ऐश्वर्याय नमः
(२२) ॐ अधर्माय नमः
(२३) ॐ अज्ञानाय नमः
(२४) ॐ अवैराग्याय नमः
(२५) ॐ अनैश्वर्याय नमः
(२६) ॐ शेषाय नमः

(२७) ॐ पद्माय नमः (२८) ॐ आनन्दकन्दाय नमः।
सं संविन्नालाय नमः। सर्वतत्त्वात्मने योगपङ्कजाय नमः। प्रकृतिमयपत्रेभ्यो नमः। विकृतिमयकेसरेभ्यो नमः। पञ्चाशद्वर्णबीजाढ्यकर्णिकायै नमः अं द्वादशकलात्मने सूर्यमण्डलाय नमः। उं षोडशकलात्मने सोममण्डलाय नमः। मं दशकलात्मने वह्निमण्डलाय नमः। सं सत्त्वाय नमः। रं रजसे नमः। तं तमसे नमः। आं आत्मने नमः। पं परमात्मने नमः। ह्रीं ज्ञानात्मने नमः।

केसरेषु त्रिकोणेषु- ॐ ब्रह्माण्यै नमः, ॐ रुद्राण्यै नमः, ॐ वैष्णव्यै नमः।

षट्कोणेषु- हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहा इत्यादि।

अष्टदलेषु- ॐ ध्रुवाय अध्वराय, सोमाय, अद्भ्यः, अनिलाय, अनलाय, प्रत्यूषसे, प्रभावते नमः (इति प्रणवादि नमोऽन्तम् एवमुत्तरत्र)

दीप्ता सूक्ष्मा जया भद्रा विभूतिर्विमला तथा।
अमोघा विद्युता चेति मध्ये श्रीः सर्वतोमुखी॥

द्वितीयवृत्त्यन्तराले कल्पितैकादशकालेषु ॐ वीरभद्राय, शंभवे, गिरीशाय, अजैकपदे, अहिर्बुध्न्याय, पिनाकिने, अपराजिताय, भुवनाधीश्वराय, कपालिने, स्थाणवे भगाय नमः। द्वितीयान्तराले दिवि अग्रादिप्रादक्षिण्येन-ॐ धात्रे, अर्यम्णे, मित्राय, वरुणाय, ईशानाय, भगाय, इन्द्राय, विवस्वते, पूष्णे, पर्जन्याय, त्वष्ट्रे, विष्णवे नमः। मध्ये बैन्दवेगायत्रीमुच्चार्य ब्रह्मविष्णुशिवाय गायत्र्यात्मने सौराय योगपीठाय नमः। इत्यूर्ध्वपुष्पं दत्त्वा तदुपरि श्रीगायत्री-मूर्तये नमः इति तदुपरि ध्यानोक्तां मूर्तिं परिकल्प्य पुष्पं निक्षियेदिति योगपीठपूजा। ततः-ॐ इन्द्राय, अग्नये, यमाय, निरृतये, वरुणाय, वायवे, कुबेराय, ईशानाय, वज्राय, शक्तये, दण्डाय, खड्गाय, पाशाय, अङ्कुशाय, गदायै, त्रिशूलाय नम इति दिग्देवतास्तदायुधानि च पूजयेत्।

अथ पाद्याद्यर्थं पात्रचतुष्टयं पुरतः स्थापयित्वा समान्यार्घ्यविधिना-

श्रीमद्गायत्र्याः पाद्यं संपादयामि वः
श्रीमद्गायत्र्याः अर्घ्यं संपादयामि वः
श्रीमद्गायत्र्याः आचमनीयं संधारयामि वः
श्रीमद्गायत्र्याः मधुपर्कं संधारयामि वः

इति मन्त्रैस्तत्तद्द्रव्यैर्जलैश्च पूरयेत्।

पाद्यं श्यामाकदूर्वाब्जविष्णुक्रान्ताजलैः स्मृतम् ।
अर्घ्यं पुष्पाक्षतयवकुशाग्रतिलसर्षपैः ।
गन्धदूर्वाजलैः प्रोक्तं ततश्चाचमनीयकम् ।
जातीफलं च कङ्कोलं लवङ्गं सजलं त्विदम् ।
आज्यं दधि मधून्मिश्रं मधुपर्कः समीरितः ॥

इति वसिष्ठः। अत्यन्ताऽशक्तौ
एकस्मिन्नथवा पात्रे पाद्यादीनि प्रकल्पयेत् ।
सर्वोपचारवस्तूनामभावे भावयेद्धिया ॥

इति ज्ञेयम् ।
एवमासाद्य पात्राणि तत्र पीठं निधाय च
मूलेन मूर्तिं संस्थाप्य ध्यात्वा देवीं यथोचिताम्
आवाह्य पूजयेत्तस्यां परिवारगणैः सह ।.

पञ्चायतनक्रमोऽपि भवति। तत्र देव्याः पीठस्य-
नैर्ऋत्ये गणनाथं च सूर्यं वायव्यकोणके ।
ऐशान्ये विष्णुमीशानमाग्नेये शक्तिपूजने
यष्टुर्ह्यभिमुखा देवा देवाभिमुखतो दिशः
प्राच्यादयो हि ता ज्ञेयाः पूजाहोमादिकर्मसु ॥

ॐ एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि तन्नो दन्तिः प्रचोदयात् ।
ॐ आदित्याय विद्महे सहस्रकराय धीमहि तन्नः सूर्यः प्रचोदयात् ।
ॐ नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ।
ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ।

मध्ये श्रीदेवीं गायत्रीं साङ्गां सपरिवारां सवाहनां सालङ्कारां सायुधां ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपां पूजयेत्. तद्यथा–

प्राणायाममृष्यादिकरषडङ्गन्यासांश्च कृत्वा प्रणवेन कराभ्यां पुष्पाञ्जलिमादाय मातृकाम्भोजत्वेन कल्पयित्वा पूर्वोक्तरूपां भगवतीं हृदि ध्यात्वा मानसोपचारैः पूजयित्वा तेजोरूपां विचिन्त्य हृदयात् सुषुम्नानाडीमार्गेण ब्रह्मरन्ध्रं नीत्वा वामनासारन्ध्रेण वायुमापूर्य कुम्भयित्वा दक्षिणनाड्यां सूर्यमार्गेण वायुना तत्तेजः करस्थपुष्पाञ्जलौ निःसार्य दीपाद् दीपान्तरमिव निर्गतं नित्यानन्दगणोदयं तद् देवीतेजः-मूलं साङ्गे सपरिवारे भगवति श्रीमत्सावित्रि ब्रह्मवादिनि श्रीदेविगायत्रि–

एह्येहि देवि मद्धस्तात् पादुकाभ्यां दयानिधे
आसनं कल्पयामीदमास्यतां कृपया शिवे

इत्यनेनानीय प्रणवेन ब्रह्मरन्ध्रं (मूर्तेः) नीत्वा तस्यां मूर्तौ प्रवेश्य पद्ममुद्रां प्रदर्श्य सिंहासनमुद्रां प्रदर्शयेत्। तत आवाहनादिनवसंस्कारांस्तत्तन्मुद्राभिः कुर्यात्। तथा हि–

मूलं- श्रीमद्गायत्रीहाऽऽगच्छ इत्यावाह्य

मूलं- श्रीमद्गायत्रीह तिष्ठ तिष्ठ इति संस्थाप्य

हृदयमन्त्रमुच्चार्य- भगवति श्रीमद्देवि गायत्रीह संनिधेहि इति संनिधाप्य

मूलं- श्रीद्गायत्रीह संनिरुध्यस्व इति संनिरुध्य

कवचमन्त्रमुच्चार्य-श्रीमद्देवि गायत्रीह संमुखीभव इति संमुखीकृत्य

देवताषडङ्गन्यासेन संकलीकृत्य

मूलं- श्रीमद्देवि गायत्रीहावगुण्ठिता भव इत्यवगुण्ठ्य

वं इति धेनुमुद्रया अमृतीकृत्य

दशप्रणवयुक्तां गायत्रीमुच्चार्य महामुद्रया परमीकुर्यात्

मुद्राविवरणम्

अनामिकामूलार्पिताङ्गुष्ठद्वयाञ्जलिरुर्ध्वतोऽधोनामितः आवाहिनी

स एवाधोमुखीकृतः संस्थापिनी

उच्छ्रिताङ्गुष्ठद्वयसंयोगात् संनिधापिनी

सैवान्तरङ्गुष्ठा संनिरोधिनी

उत्तानमुष्टियुगला संमुखीकरणी

षडङ्गन्यासः संकलीकरणी

परितोभ्रामिताधोमुखतर्जनी अवगुण्ठनी

धेनुमुद्रा अमृतीकरणी

अथ गायत्रीमूर्तेः प्राणप्रतिष्ठा

ॐ आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं हंसः सोऽहं श्रीगायत्र्या प्राणा इह प्राणाः ॐ आं ह्रीं सोऽहं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं हंसः सोऽहं श्री गायत्र्या जीव इह स्थितः ॐ आं ह्रीं सोऽहं श्रीगायत्र्याः सर्वेन्द्रियाणि

वाङ्मनस्त्वक्चक्षुःश्रोत्ररसनाघ्राणपाणिपादपायूपस्थप्राणा इहागत्य चिरं सुखं तिष्ठन्तु स्वाहा।

इति जपित्वा देवीमूर्तेर्वक्षः स्पृष्ट्वा त्रिर्जपेत्। अधिकफलार्थी तु गायत्रीसंपुटितैरकारादिक्षकारान्तैः विलोमेन च क्षकाराद्यकारान्तैर्मातृकावर्णैः सबिन्दुभिरात्मवद् देवीदेहे व्यापयेत्। यथा ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितु० अं.....क्षं, क्षं.....अं ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितु० ॐ इति।

ततः पीठमध्ये सर्वावयवपूर्णां देवीं ध्यायन् योनिमुद्रां प्रदर्शयेत्। ततः मूलं श्रीमद्देवि सावित्रि पुष्पं प्रतीच्छ स्वाहा साङ्गायै सायुधायै सपरिवारायै भगवत्यै श्रीसावित्र्यै नमः इति पुष्पाञ्जलित्रयेण संपूज्य षोडशोपचारैः पूजयेत् ।

आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्
मधुपर्कं तथा स्नानं वस्त्रालंकरणानि च
गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यं मुखवासनम्
नमस्कारं षोडशं च कल्पयेद्देवताप्रियम् ।

मूलं- श्रीमद्देवि सावित्रि पुष्पं प्रतीच्छ स्वाहा साङ्गायै सपरिवारायै आसनं परिकल्पयामि

मूलं- श्रीमद्देवि गायत्रि पाद्यं प्रतीच्छ स्वाहा साङ्गायै सपरिवारायै पाद्यं परिकल्पयामि

मूलं- श्रीमद्गायत्र्यै नमः

मूलं- श्रीमद्देवि गायत्रि अर्घ्यं प्रतीच्छ स्वाहा साङ्गायै सपरिवारायै अर्घ्यं परिकल्पयामि

मूलं- श्रीमद्देवि गायत्रि आचमनीयं प्रतीच्छ स्वाहा साङ्गायै सपरिवारायै आचमनीयं परिकल्पयामि

मूलं- श्रीमद्देवि गायत्रि मधुपर्कं प्रतीच्छ स्वधा साङ्गायै सपरिवारायै मधुपर्कं परिकल्पयामि ततः–आत्मदक्षिणभागकल्पितरत्नमण्डपं नीत्वा सिंहासनमुद्रां प्रदर्श्य पुनः पाद्यार्घ्ये दत्वा महाराजाभिषेकवन्मनसा देवीं स्नपयेत् ।

'वं' इति वासः प्रोक्ष्य ॐ बृहस्पतिदैवताय वाससे नमः इति संपूज्य वासो दत्त्वा परिधाप्य आचमनीयं दद्यात् ।

ततोऽलंकारान् प्रोक्ष्य ॐ विष्णुदैवतेभ्योऽलंकरणेभ्यो नमः इति संपूज्य भूषयित्वा पुनः योगपीठं नयेत्। उपचारद्रव्याभावे भावनामात्रं कार्यम् ।

नमस्ते देवदेवेशि सर्वतृप्तिकरं परम् ।

अन्यानिवेदितं शुद्धं प्रकृतिस्थं सुशीतलम् ।

अमृतानन्दसंपूर्णं गृहाण जलमुत्तमम् ।

इति मुखे जलं दद्यात्। विष्णुदैवतेभ्यो गन्धेभ्यो नमः इति गन्धं संपूज्य मूलं साङ्गायै सपरिवारायै गायत्र्यै गन्धं परिकल्पयामि ।

एवं वनस्पत्यादिदैवतेभ्यः पुष्पादिभ्यो नम उक्त्वा संपूज्य क्रमेण–

वनस्पतिदैवताय पुष्पाय नमः श्रीदेव्यै पुष्पं परिकल्पयामि वौषट् ।

दुर्गादैवतायै मालायै नमः श्रीदेव्यै मालां परिकल्पयामि वौषट् ।

गन्धर्वदैवताय धूपाय नमः श्रीदेव्यै धूपं परिकल्पयामि वौषट् ।

ततः 'अस्त्राय फट्' इति घण्टां पूजयित्वा तां वादयन् धूपमाघ्राप्य देव्या वामतो वा पुरतो वा तत्पात्रं निदध्यात् ।

विष्णुदैवताय घृतप्रदीपाय नमः इति नेत्रादिपादान्तं पादादिनेत्रान्तं च त्रिर्दीपं दर्शयेत्। घृतदीपं दक्षिणे। तैलदीपं वामे न्यसेत्। ततः पुष्पाञ्जलिं दत्वा

सच्चिन्मयि परे देवि गायत्रि ब्रह्मरूपिणि ।

आज्ञापय त्वं देवेशि परिवारार्चनाय मे ॥

इत्याज्ञां गृहीत्वाऽऽवरणदेवताश्च पूजयेत् ।

तत्र यन्त्रशिरसि विश्वामित्रऋषये नमः

त्रिकोणेषु त्रिषु–प्रातःसन्ध्यायै गायत्र्यै नमः

मध्याह्नसन्ध्यायै सावित्र्यै नमः

सायं सन्ध्यायै सरस्वत्यै नमः

षट् कोणेष्वङ्गदेवताः–ॐ तत्सवितुर्ब्रह्मात्मने हृदयाय नमः (आग्नेये)

ॐ वरेण्यं विष्ण्वात्मने शिरसे स्वाहा (नैऋत्ये)

ॐ भर्गो देवस्य रुद्रात्मने शिखायै वषट् (वायव्ये)

ॐ धीमहि सत्यात्मने कवचाय हूं (ऐशान्ये)

ॐ धियो यो नो ज्ञानात्मने नेत्रत्रयाय वौषट् (अग्रतः)

ॐ प्रचोदयात् परब्रह्मात्मने अस्त्राय फट् (पश्चिमतः)

तुषारस्फटिकश्यामाः कृष्णनीलारुणत्विषः ।

वरदाभयधारिण्यः प्रधानतनवः स्त्रियः ॥

इत्यङ्गदेवता ध्यात्वा गन्धपुष्पाक्षतान्विताञ्जलिना संपूज्य

मूलं- चतुर्वर्गफलं देहि शरणागतवत्सले
भक्त्या समर्पये तुभ्यं प्रथमावरणार्चनम्

इति देव्यै समर्पयेत् । एवमुत्तरत्र सर्वत्र । इति प्रथमावरणम् ।

ततोऽष्टदलेषु- ॐ ध्रुवाय, अध्वराय, सोमाय, अद्भ्यः, अनिलाय, अनलाय, प्रत्यूषाय, प्रभाताय नमः। इति द्वितीयावरणम् ।

तद्बहिः- ॐ वीरभद्राय, शंभवे, गिरीशाय, अजैकपदे, अहिर्बुध्न्याय, पिनाकिने, अपराजिताय, भुवनाधीश्वराय, कपालिने, स्थाणवे, भगाय नमः। इति तृतीयावरणम् ।

ततः- ॐ धात्रे, अर्यम्णे, मित्राय, वरुणाय, ईशानाय, भगाय, इन्द्राय, विवस्वते, पर्जन्याय, त्वष्ट्रे, विष्णवे नमः। इति चतुर्थावरणम् ।

ॐ इन्द्राय, अग्नये, यमाय, निरृतये, वरुणाय, वायवे, सोमाय, कुबेराय, ईशानाय नमः । इति पञ्चमावरणम् ।

ॐ वज्राय, शक्तये, दण्डाय, खड्गाय, पाशाय, अङ्कुशाय, गदायै, त्रिशूलाय नमः। इतिं षष्ठावरणम् ।

एता आवरणदेवताः स्त्रीरूपेण ध्यायेत् ।

ॐ ळां इन्द्रायैरावतवाहनाय देवाधिपतये पीतवर्णाय वज्रहस्ताय दिव्यस्त्रीरूपाय साङ्गाय सपरिवाराय नमः ।

ॐ शां अग्नये मेषवाहनाय तेजोऽधिपतये कपिलवर्णाय शक्तिहस्ताय दिव्यस्त्रीरूपाय साङ्गाय सपरिवाराय नमः ।

ॐ षां यमाय श्यामवर्णाय महिषवाहनाय प्रेताधिपतये कृष्णदण्ड-हस्ताय दिव्यस्त्रीरूपाय साङ्गाय सपरिवाराय नमः ।

ॐ क्षां निर्ऋतये रक्षोऽधिपतये धूम्रवर्णाय प्रेतवाहनाय खड्गहस्ताय दिव्यस्त्रीरूपाय साङ्गाय सपरिवाराय नमः ।

ॐ वां वरुणाय मकरवाहनाय यादोऽधिपतये श्वेतवर्णाय पाशहस्ताय दिव्यस्त्रीरूपाय साङ्गाय सपरिवाराय नमः ।

ॐ यां वायवे मृगवाहनाय प्राणाधिपतये धूम्रवर्णायाङ्कुशहस्ताय दिव्यस्त्रीरूपाय साङ्गाय सपरिवाराय नमः ।

ॐ सों सोमाय तुरगवाहनाय ताराधिपतये निर्मलाय गदाहस्ताय दिव्यस्त्रीरूपाय साङ्गाय सपरिवाराय नमः।

ॐ हां ईशानाय वृषभवाहनाय रुद्राधिपतये सितवर्णाय शूलहस्ताय दिव्यस्त्रीरूपाय साङ्गाय सपरिवाराय नमः।

इन्द्रेशानयोर्मध्ये- ॐ आं ब्रह्मणे हंसवाहनाय प्रजाधिपतये रक्तवर्णाय पद्महस्ताय दिव्यस्त्रीरूपाय साङ्गाय सपरिवाराय नमः।

निर्ऋतिवरुणयोर्मध्ये- ॐ श्रीं शेषाय कूर्मवाहनाय नागाधिपतये चक्रहस्ताय, स्वर्णवर्णाय दिव्यस्त्रीरूपाय सपरिवाराय नमः।

इति दिक्पतीन् पूजयित्वा पञ्चमे ततः षष्ठे-

पीतशुक्लासिताकाशविद्युद्रक्ताः सितासिताः।
कोकनदपाटलाभा वज्राद्याः परिकीर्तिताः॥

आवरणपूजोत्तरं पूर्ववन्मूलेन गन्धपुष्पाक्षताञ्जलित्रयेण गायत्रीमाराध्य मूलेनैव
पाद्यार्घ्याचमनीयानि दद्यात्।

आदावन्ते च पूजाया नमेच्च मूलविद्यया।
पाद्यार्घ्याचमनीयानि दद्यादेतानि देशिकः। इत्युक्तेः।

नैवेद्यम्

चतुर्विधमन्नं षड्रसोपेतं पुरश्चतुष्कोणमण्डलोपरि स्थापयित्वा मूलेन निरीक्ष्य, प्रणवेनार्घ्योदकेन संप्रोक्ष्य प्रणवेनैव पुष्पं निक्षिपेत्। वं इति धेनुमुद्रयाऽमृतिकृत्य गायत्र्या महामुद्रया परमीकुर्यात्। मूलं सावित्रि पुष्पं प्रतिच्छ स्वाहा साङ्गायै सपरिवारायै सायुधायै सवाहनायै सर्वात्मिकायै भगवत्यै श्रीमद्गायत्र्यै नैवेद्यं परिकल्पयामि नमः इति मन्त्रेण नैवेद्ये जलमर्पयेत्। ॐ अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा इति देव्या हस्ते जलं दद्यात्। ततो वामकरेण विकचोत्पलसंनिभां ग्रासमुद्रां प्रदर्श्य दक्षिणकरेण समन्त्रकं प्राणादिमुद्राः प्रदर्शयेत्। ॐ प्राणाय स्वाहा इत्यङ्गुष्ठतर्जनीमध्यमाभिः। ॐ अपानाय स्वाहा इत्यङ्गुष्ठमध्यमानामिकाभिः। ॐ व्यानाय स्वाहा इत्यङ्गुष्ठानामिकाकनिष्ठिकाभिः। ॐ उदानाय स्वाहा इत्यङ्गुष्ठतर्जनीकनिष्ठिकाभिः। ॐ समानाय स्वाहा इति सर्वाभिः। ततो नैवेद्यमुद्रां प्रदर्शयेत्।

मूलं- ॐ भगवति श्रीमत्सावित्रि

सत्पात्रं सद्धविः सान्नं विविधानेकभक्षणम् ।
निवेदयामि ते देवि सानुगायै जुषस्व तत् ॥

इति नैवेद्ये देव्यग्रे पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्। मूलमष्टधा जपित्वा मत्स्यमुद्रया आच्छादयेत्। अस्त्रेण दिशो वेष्टयेत्। भुञ्जानां गायत्रीं ध्यायेत् ।

ब्रह्मेशाद्यैः सरसमभितः सूपविष्टैः समेता
दिव्याभिः स्वैर्ललितललितैर्वीज्यमानाऽङ्गनाभिः ।
मर्मक्रीडाप्रहसनपरा हासयन्ती स्वभक्तान्
भुङ्क्ते पात्रे कनकघटिते षड्रसान् श्रीविधात्री ॥

अत्रावसरे पूजाङ्गहोमं कुर्यात् ।

भोजनावसरे मन्त्री वैश्वदेवं समाचरेत् ।
दक्षिणे स्थण्डिलं कृत्वा तत्राधाय हुताशनम् ॥

बालुकाभिः अङ्गुलोत्सेधं हस्तमात्रविस्तीर्णं चतुरस्रं स्थण्डिलम्। तत्र गन्धाद्यैर्गायत्रीं संपूज्य सर्पिषा तिलेन पायसेन वा सप्तव्याहृतिभिश्चतुर्विंशतिसंख्यया वा हुत्वा गन्धाद्यैः पुनः पूजयेत्। स्वेष्टदेवताहोमसर्वदेवतृप्तिहेतुत्वाद् वैश्वदेवहोमः। स्वात्मनि च विसर्जनम्। ततः पार्षदबलिः

ये रौद्रा रौद्रकर्माणो रौद्रस्थाननिवासिनः
योगिन्योऽप्युग्ररूपाश्च गणानामधिपाश्च ये ।
विघ्नभूतास्तथा चान्ये दिग्विदिक्षु समाश्रिताः
ते सर्वे तृप्तिमनसः प्रतिगृह्णन्त्विमं बलिम् ॥

इति गन्धाक्षतपुष्पान्वितं बलिम् अष्टसु दिक्षु विकिरेत् ।

भूतानि यानीह वसन्ति तानि बलिं गृहित्वा विधिवत्प्रयुक्तम् ।
अन्यत्र वासं परिकल्पयन्तु क्षाम्यन्तु तान्यत्र नमोऽस्तु तेभ्यः ॥

इति प्रार्थयेदिति ।

ततो गायत्र्या भूतितिलकं धृत्वा पुनः पूजास्थानं गत्वा आरात्रिकम् आरात्रिकमुद्रां वा कृत्वा ततः सुतृप्तां देवीं ध्यात्वा धेनुमुद्रया जलममृतीकृत्य अमृतापिधानमसि स्वाहा इति देवीमुखे जलं दद्यात्। ततो गतसारं नैवेद्यं किंचिदुद्धृत्य "ॐ ह्रीं तेजश्चण्डेश्वर्यै नमः" इति देव्युच्छिष्टभुजे ऐशान्यां दद्यात् ।

ततो नैवेद्यं नैऋत्यां दिशि नीत्वा तत्स्थानं शोधयित्वा मुखादिप्रक्षालन-दन्तधावन-पुनर्मुखप्रक्षालन-हस्तास्यमार्जन-पुनराचमन-मुखवासान् दद्यात्।

ततस्ताम्बूलं निवेदयेत्। ततः सुखोपविष्टां सपरिवारां प्रसन्नां देवीं ध्यात्वा प्रसन्नार्घ्यं दत्त्वा गन्धपुष्पाक्षतैः पूजयेत् ।

आरात्रिकम्

चक्रमुद्रां प्रदर्श्य 'वं' इति धेनुमुद्रयाऽमृतिकृत्य मूलेनाभ्यर्च्य आमस्तकमुत्तोल्य मूलमुच्चार्य- ॐ भगवति श्रीमद्देवि गायत्रि

समस्तदेवताचक्रमुनिपितृगणावृते
आरात्रिकं गृहाणेदं सावित्रि मम सिद्धये ।

इति घण्टावादपुरःसरं देवीं नीराजयेत्। छत्रचामरादिं दर्शयेत्। उपभूषणानि च दद्यात्। नृत्यगीतं च कारयेत्। मन्त्रपुष्पाञ्जलिं नमस्कारांश्च कुर्यात् ।

ततो मूलेन प्राणायामत्रयं कृत्वा ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासपूर्वकं जपमालामानीय क्वचित्पात्रे वामहस्ते वा स्थापयित्वा मूलमन्त्रेणार्घ्योदकेनाभ्युक्ष्य

ॐ मां माले महामाये सर्वशक्तिस्वरूपिणि ।
चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान्मे सिद्धिदा भव ॥

इति गन्धपुष्पाभ्यां संपूज्य

ॐ गं अविघ्नं कुरु माले त्वां करे गृह्णामि दक्षिणे ।
जपकाले तु सततं प्रसीद मम सिद्धये ॥

इति मन्त्रेण दक्षिणहस्तेनाऽऽदाय स्वशिरसि गुरुं, कण्ठे मन्त्रं, हृदये देवीं गायत्रीं ध्यायन् हृदयसमीपे मालामानीय दक्षहस्तमध्याङ्गुलिमध्यपर्वणि संस्थाप्य तदेकाग्रचित्तो गायत्र्यर्थं स्मरन् यथासंख्यं मध्यन्दिनावधि वा सहस्रादिसंख्यं वा जपेत् ।

प्रणवं पूर्वमुच्चार्य भूर्भुवःस्वस्ततः परम् ।
गायत्रीं प्रणवं चान्ते जप एष उदाहृतः ॥

पुरश्चरणेऽक्षमालैव प्रयोक्तव्या। तदशक्तौ करमालयेति। संख्यापूर्वौ पुनः प्रणवमुच्चार्य जपं समाप्य.

ॐ त्वं माले सर्वदेवानां प्रीतिदा शुभदा मम ।
शुभं कुरुष्व मे भद्रे यशो वीर्यं च सर्वदा ॥

ततः ॐ ह्रीं सिद्ध्यै नमः इति पञ्चाक्षर्या मालां शिरसि संस्थाप्य प्राणायामत्रयं कृत्वा ऋष्यादिकरषडङ्गन्यासपूर्वकं सावित्रीं ध्यात्वा वामे दक्षिणे वा हस्तेऽर्घ्योदकेन

ॐ गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम् ।
सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादान्महेश्वरि ॥

इति जपं समर्प्य देव्यग्रे पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्। ॐ सिद्ध्यै नमः इति पुनः प्रपूज्य मालां रहसि स्थापयेत्।

अग्रतः—चतुरस्रवृत्तत्रिकोणमण्डलं कृत्वा तत्र गायत्रीं ध्यात्वा मूलेन पुष्पाक्षतैः संपूज्य चतुष्पदां गायत्रीमुच्चार्य यथालाभान्नादिना नित्य बलिं दद्यात्। ततो घण्टाचामरादिभिः देवीं परितोष्य कवचं स्तोत्रं वा पठेत्। कवचः पूर्वमुक्तः। स्तोत्रं वसिष्ठसंहितायाम्

नमस्ते देवि गायत्रि सावित्रि त्रिपदेऽक्षरे
अजरे अमरे मातस्त्राहि मां भवसागरात्-इत्यारभ्य
अपराधसहस्राणि त्वसत्कर्मशतानि च
मत्तो जातानि देवेशि त्वं क्षमस्व दिने दिने । इत्यन्तम् ।

ततः कृताञ्जलि :-

यद्दत्तं भक्तिमात्रेण पत्रं पुष्पं फलं जलम् ।
निवेदितं च नैवेद्यं तद्गृहाणानुकम्पया ॥१॥
आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम् ।
पूजाभागं न जानामि त्वं गतिः परमेश्वरि ॥२॥
देवी दात्री च भोक्त्री च देवी सर्वमिदं जगत् ।
देवी जयति सर्वत्र या देवी साऽहमेव च ॥३॥
यदक्षरं पदं भ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत् ।
क्षन्तुमर्हसि देवेशि कस्य न स्खलितं मनः ॥४॥

ततः- यानि कानि च पापानि जन्मान्तरकृतानि च ।
तानि तानि प्रणश्यन्ति प्रदक्षिणा पदे पदे ॥

इति प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य, गुरुं स्मृत्वा पूजयित्वा प्रणम्याऽर्घ्योदकेन देव्यग्रे स्वात्मानमर्पयेत् ।

इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतो जाग्रत्स्वप्नसुषप्त्यस्थासु मनसा वाचा हस्ताभ्यां पदभ्यामुदरेण शिश्ना यत्स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तत्सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा, मां मदीयं च सर्वं श्रीमद्देव्यै गायत्र्यै स्वेष्टदेवतायै समर्पये ॐ तत् सत्। ततो मूलमन्त्रेण योनिमुद्रया प्रणम्य देवीं विसर्जयेत् । तथा हि

विशेषार्घ्यं चालयित्वा मूलेन देव्यै समर्प्य तेनैव देवीं नीराज्य स्वस्थाने स्थापयित्वा सुपुष्पाभ्यां हस्ताभ्यां कृताञ्जलिर्देवीं ध्यायन् "भगवति देवि गायत्रि क्षमस्व" इति वदन् गणपत्यादींश्चतुरो देवान् देवीमूर्तौ विलीनान् विभाव्य देवीमूर्तिमपि तेजोरूपां विभाव्य

ॐ गच्छ गच्छ परं स्थानं स्वस्थाने परमेश्वरि ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा न विदुः परमं पदम् ॥

इत्यनेन संहारमुद्रया निर्माल्यमाकृष्याऽऽघ्राय तत्तेजस्तथैव सुषुम्नवर्त्मना स्वीयहृदयकमले विसर्जयेत्। ततो मूलेन प्राणायामत्रयं कृत्वा

ॐ तिष्ठ देवि परे स्थाने स्वस्थाने परमेश्वरि ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा सर्वे तिष्ठन्ति मे हृदि ॥

तत ऋष्यादिकराङ्गन्यासपूर्वकं हृदि मनसा देवीं पूजयित्वा तदात्मानमात्मानं भावयेत् ।

तत ऐशान्यां चतुरस्रषट्कोणवृत्तत्रिकोणात्मकमण्डलं विधाय तस्य नैऋत्ये गणेशनिर्माल्येन ॐ लम्बोदराय नमः इति, वायव्ये सूर्यनिर्माल्येन ॐ तेजश्चण्डाय नमः इति, ऐशान्ये विष्णुनिर्माल्येन ॐ विष्वक्सेनाय नमः इति, आग्नेये महेशनिर्माल्येन ॐ तेजश्चण्डीश्वराय नमः इति च तदुच्छिष्टभुजः पूजयेत् ।

ततो निर्माल्यं मस्तके धृत्वाऽवशिष्टचन्दनेन मूलेन तिलकं पूर्वोक्तविधिना कृत्वाऽर्घ्योदकं किंचित्प्राश्य

पुष्पादिकं समाघ्राय शुचौ देशेऽप्सु वा क्षिपेत्
देवतात्मा सुखं स्वच्छो विहरेद् देवताधिया।

पुरश्चरणार्थी तु यथोक्तरीत्या नित्यं सम्पाद्य पूर्ववद् गुर्वादिकं ध्यात्वा गुरुमन्त्रदेवतात्मनामभेदलक्षणमैक्यं विभाव्य देवीरूपमात्मानं विभाव्य पुरश्चरणीयं जपमारभेत्। तथा हि-

गन्धाद्यैर्मानसैरिष्ट्वा षडङ्गन्यासपूर्वकम्।
ध्यात्वेष्टदेवतारूपमात्मानं प्रजपेन्मनुम्।
संख्यापुर्त्तौ पुनः कुर्याद्दृष्यादिप्राणसंयमान्
लभतेऽभिमतां सिध्दिं चतुर्विंशितिलक्षतः ।
जपार्चापूर्वको होमस्तर्पणं चाभिषेचनम्।
भूदेवभोजनं चैव पञ्चाङ्गं तदुदीरितम्॥

होमाऽशक्तौ जपं कुर्याद् होमसंख्याचतुर्गुणम्।
अशक्तावुक्तहोमस्य जपस्तद्द्विगुणो भवेत्॥

अत्रोक्तपूजने वृद्धिह्रासौ यथाशक्ति यथाज्ञानं यथावैभवं च भवितुमर्हतः।

भगवच्छङ्कराचार्यसंप्रदायानुसारतः
अतिसंक्षेपतः प्रोक्तं गायत्रीपूजनं मया
सर्वे शाक्ता द्विजातीनां न शैवा न च वैष्णवाः।
ब्रह्मविद्यामुपासीत गायत्रीं वेदमातरम्॥
इत्याह सकलार्थज्ञो विश्वामित्रो महामुनिः।
सर्वैरुपासनीयैषा गायत्री स्वेष्टदा द्विजैः॥
इति श्रीकाशिकानन्दसुधिया संग्रहोदिता।
गायत्रीपद्धतिः शुभ्रा सतां सर्वार्थसिद्धिदा॥

इति श्रीजयमङ्गलाचार्य (महामण्डलेश्वरकाशिकानन्दगिरि) विरचिता गायत्रीपध्दतिः समाप्ता

* * * * * * * * *